भगवान् महावीर की
पचीसवीं निर्वाण शताब्दी
के उपलक्ष में

संपादक
मुनि दुलहराज

जैन विश्व भारती प्रकाशन

श्रमण महावीर

मुनि नथमल

प्रकाशकीय

'श्रमण महावीर'—प्राचीनतम प्रमाणो के आधार पर प्रस्तुत भगवान् महावीर का यह जीवन-चरित अपने-आप मे एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। अन्धकार मे छिपे स्रोतो का यह विमोचन—आह्लादक ही नही, अनेक नये तथ्यो को उद्‌घाटित करता है। उन्मुक्त विचारक अमर मुनि के शब्दो मे "यह भगवान् महावीर का प्रथम मानवीय चित्रण है।"

आगम, नियुक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओ के प्रच्छन्न भू-गर्भों मे छिपे बीजो का यह वृक्ष-रूप मे पल्लवन एक साहसिक कदम है, जो कही रोष उत्पन्न कर सकता है और कही हर्ष। यह व्यक्ति की अपनी-अपनी मन स्थिति का द्योतक होगा। लेखक अपने दृष्टिकोण से चला है और परम्पराओ से उन्मुक्त होकर चला है। उसने भगवान् महावीर के अन्त स्थल को अत्यन्त सूक्ष्म रेखाओ मे उपस्थित किया है, जो एक कुशल शब्द-शिल्पी द्वारा ही सभव है।

आचार्य तुलसी द्वारा प्रस्तुत 'भगवान् महावीर' चरित लघु और जन्य-भोग्य है, वहा यह चरित विशाल और गहन है। दोनो एक-दूसरे की परिपूर्ति करते हुए चल रहे हैं।

भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर 'जैन विश्व भारती' द्वारा इस ग्रन्थ का प्रकाशन समीचीन ही नही कर्त्तव्य रूप भी है। आशा है मनीषी इस ग्रन्थ का गहरे पैठ कर अध्ययन करेंगे।

श्रीचन्द रामपुरिया
दिल्ली निदेशक
आगम और साहित्य प्रकाशन

स्वकथ्य

जीवन जीना निसर्ग है। विकासी जीवन जीना कला, उसका अकन महाकला और किसी दूसरे के समृद्ध जीवन का अकन परम कला है। मेरी लेखनी ने परम कला का दायित्व उठाया है। सुदूर अतीत की यात्रा, पग-पग पर घुमाव, सघन जगल और गगनचुम्बी गिरि-शिखर। कितना गुरुतर है दायित्व ! पर लघुतर कंधो ने बहुत बार गुरुतर दायित्व का निर्वाह किया है। मैं अपने दायित्व के निर्वाह मे सफल होऊगा, इस आत्म-विश्वास के साथ मैंने कार्य प्रारम्भ किया और उसके निर्वाह मे मैं सफल हुआ हू, इस निष्ठा के साथ यह सम्पन्न हो रहा है। भगवान् महावीर की जीवनी लिखने मे मेरे सामने तीन मुख्य कठिनाइया थी—

१. जीवन-वृत्त के प्रामाणिक स्रोतो की खोज।

२. दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा-भेदो के सामजस्य की खोज।

३. तटस्थ मूल्याकन।

भगवान् महावीर का जीवन-वृत्त दिगम्बर साहित्य मे बहुत कम सुरक्षित है। श्वेताम्बर साहित्य मे वह अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित है पर पर्याप्त नहीं है। भगवान् के जीवन-वृत्त के सर्वाधिक प्रामाणिक स्रोत तीन हैं—

१. आयारो—अध्ययन ९।

२. आयारचूला—अध्ययन १५।

३. कल्पसूत्र।

भगवती सूत्र मे भगवान् के जीवन-प्रसंग विपुल मात्रा मे उपलब्ध हैं। 'उवासगदसाओ', 'नायाधम्मकहाओ', 'सूयगडो' आदि सूत्रो में भी भगवान् के जीवन और तत्त्वदर्शन विषयक प्रचुर सामग्री है।

उत्तरवर्ती साहित्य में आचारागचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, आवश्यकनिर्युक्ति, उत्तरपुराण, चउवन्न महापुरिसचरिय, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि ग्रन्थों में भगवान् का जीवनवृत्त मिलता है।

बौद्ध साहित्य मे भी भगवान् के बारे में जानकारी मिलती है। यद्यपि उसमे

वे आलोच्य के रूप मे ही अभिलिखित हैं पर जैन साहित्य की प्रशस्ति और बौद्ध साहित्य की आलोचना—दोनो के आलोक मे भगवान् की यथार्थ प्रतिमा उभरती है।

मैंने उक्त ग्रन्थो के आधार पर भगवान् के जीवन-वृत्त का चयन किया। उसके गुम्फन और विकास मे मैंने कवि-कल्पना का भी उपयोग किया है। रोग, बुढापा और मृत्यु—ये तीनो ससार-विरक्ति की प्रधान प्रेरणाए हैं। भगवान् बुद्ध इन्ही से प्रेरित होकर भिक्षु बने, यह माना जाता है। किन्तु प्राचीन साहित्य की प्रकृति के पर्यालोचन के आधार पर मैं यह कह सकता हू कि इसमे तथ्य या घटना की अपेक्षा कवि-कल्पना की गुरुता अधिक है। यह तथ्य है या नही—यह अनुसन्धेय हो सकता है किन्तु यह सत्य है, इसमे कोई सदेह नही। बहुत बार कवि या लेखक सत्य को तथ्य के रूप मे प्रस्तुत करता है। जीवन सत्य की शाश्वत धारा से अविच्छिन्न होकर प्रवाहित होता है, अत. सत्य को तथ्य के रूप मे अभिव्यक्त करना असगत भी नही है। भगवान् महावीर दीक्षित क्यो हुए ? इस प्रश्न का उत्तर सत्य को तथ्य के रूप मे प्रस्तुत कर सरलता से दिया जा सकता है और मैंने दिया है। भगवान् के जीवन का उद्देश्य था स्वतन्त्रता। जिस व्यक्ति की साधना का समग्र रूप स्वतन्त्रता है, उसका उद्देश्य उससे भिन्न कैसे हो सकता है ?

जैन परम्परा मे सबुद्ध की तीन कोटिया मिलती है—

१. स्वयसबुद्ध—अपने आप सबोधि प्राप्त करने वाला।

२ प्रत्येकबुद्ध—किसी एक निमित्त से सबोधि प्राप्त करने वाला।

३ उपदेशबुद्ध—दूसरो के उपदेश से सबोधि प्राप्त करने वाला।

तीर्थंकर स्वयसबुद्ध होते हैं। भगवान् महावीर स्वयसबुद्ध थे। उन्हे अपने आप सबोधि प्राप्त हुई थी। उसके आधार पर उन्होने विश्व के स्वरूप की समीक्षा और दार्शनिक विचारो की मीमासा की। मुक्ति का लक्ष्य निश्चित किया। साधन के रूप मे उन्होने बाहरी और भीतरी दोनो बधनो से मुक्त रहना स्वीकार किया। इस सदर्भ मे उन्होने शासन को बधन के रूप मे देखा और शासन-मुक्त जीवन की दिशा मे प्रयाण किया।

जैन आगम सूत्र-शैली मे लिखे हुए हैं। 'आयारो' के नवें अध्ययन मे भगवान् महावीर के साधनाकालीन जीवन का बहुत ही व्यवस्थित निरूपण है। पर सूत्र-शैली मे होने के कारण वह बहुत दुर्गम है। 'आयारो की चूर्णि मे चूर्णिकार ने उन सकेतो को थोडा स्पष्ट किया है, फिर भी घटना का पूरा विवरण नही मिलता। मैंने उन सकेतो के आधार पर घटना का विस्तार किया है। उससे भगवान् के जीवन की अज्ञात दिशाए प्रकाश मे आई हैं। साधना के अनेक नए रहस्य उद्घाटित हुए हैं।

बौद्ध साहित्य मे भगवान् बुद्ध की वाणी के साथ घटनाओ की लम्बी शृ खला

है। उससे उनकी उपदेश-शैली सरस और सहज सुबोध है। भगवान् महावीर की वाणी के साथ घटनाओ का योग बहुत विरल है। फलतः उनकी उपदेश-शैली अपेक्षाकृत कम सरस और दुर्बोध लगती है। मैंने इस स्थिति को ध्यान में रखकर भगवान् की उपदेश-शैली को घटनाओ से जोडा है। इसमे मैंने कोरी कल्पना की उडान नही भरी है। भगवान् की वाणी में जो संकेत छिपे हुए हैं, उन्हें अन्तर्दर्शन से देखा है और उद्‌घाटित किया है।

कथावस्तु के विस्तार का आधार कर्म बनता है। निष्कर्म के आधार पर उसका विस्तार नही होता। सामान्यतः यह धारणा है कि भगवान् महावीर निष्कर्म के व्याख्याता और प्रयोक्ता थे। यह सत्य का एक पहलू है। दूसरा पहलू यह है कि भगवान् महावीर उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम के प्रवक्ता थे। वे अकर्मण्यता के समर्थक नही थे। उनका कर्म राज्य-मर्यादा के साथ नही जुडा। इसलिए राज्य के सन्दर्भ मे होने वाला उनके जीवन का अध्याय विस्तृत नही बना। उनका कार्यक्षेत्र रहा अन्तर्जगत्। यह अध्याय बहुत विशद बना और इससे उनके जीवन की कथावस्तु विशद बन गई। उन्होने साधना के बारह वर्षों मे अभय और मैत्री के महान् प्रयोग किए। वे अकेले घूमते रहे। अपरिचित लोगो के बीच गए। न कोई भय और न कोई शत्रुता। समता का अखण्ड साम्राज्य। कैवल्य के पश्चात् भगवान् ने अनेकान्त का प्रतिपादन किया। उसकी निष्पत्ति इन शब्दो मे व्यक्त हुई—सत्य अपने आप मे सत्य ही है। सत्य और असत्य के विकल्प बनते हैं परोक्षानुभूति और भाषा के क्षेत्र मे। उसे ध्यान मे रखकर भगवान् ने कहा—'जितने वचन-प्रकार हैं, वे सब सत्य है, यदि सापेक्ष हो। जितने वचन-प्रकार हैं वे सब असत्य हैं, यदि निरपेक्ष हो।' उन्होने सापेक्षता के सिद्धान्त के आधार पर अनेक तात्त्विक और व्यावहारिक ग्रन्थियो को सुलझाया।

भगवान् के जीवन-चित्र इतने स्पष्ट और आकर्षक हैं कि उनमे रग भरने की जरूरत नही है। मैंने इस कर्म मे चित्रकार की किसी भी कला का उपयोग नही किया है। मैंने केवल इतना-सा किया है कि जो चित्र काल के सघन आवरण से ढके पडे थे, वे मेरी लेखनी के स्पर्श से अनावृत हो गए।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् पौराणिक युग आया। उसमे महापुरुष की रचना चमत्कार के परिवेश मे की गई। भगवान् महावीर के जीवनवृत्त के साथ भी चमत्कारपूर्ण घटनाए जुडी। उनके कष्ट-सहन के प्रकरण मे भी कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण घटनाए हैं। दैवी घटनाओ की भरमार है। मैंने चामत्कारिक घटनाओ का मानवीकरण किया है। इससे भगवान् के जीवन की महिमा कम नही हुई है, प्रत्युत उनके पौरुष की दीपशिखा और अधिक तेजस्वी बनी है।

आचार्यश्री तुलसी ने चाहा कि भगवान् की पचीसवी निर्वाण शताब्दी पर मै उनके जीवन की कुछ रेखाएं अकित करूं। मैंने चाहा मैं इस अवसर पर भगवान्

के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करूं। लक्ष्य बना और कार्य सम्पन्न हो गया।

आचार्यश्री की प्रेरणा और आशीर्वाद ने मेरा पथ आलोकित किया। मैं अपनी गति मे सफल हो गया।

प्रस्तुत पुस्तक की प्रतिलिपि और परिशिष्ट मुनिश्री दुलहराजजी ने तैयार किए। उनका सहयोग मेरे लिए बहुत मूल्यवान है। 'नामानुक्रम' तैयार करने का श्रेय मुनिश्री श्रीचन्द्रजी 'कमल' को है। मुनिश्री मणिलालजी और मुनिश्री राजेन्द्रजी ने प्रति-शोधन मे सहयोग दिया। उसका अंकन भी अस्थान नही होगा।

—मुनि नथमल

अणुव्रत विहार
नई दिल्ली

अनुक्रम

परिशिष्ट

श्रमण महावीर

१

जीवनवृत्त : कुछ चित्र-कुछ रेखाएं

कुमारश्रमण केशी भगवान् पार्श्व के और श्रमण गौतम भगवान् महावीर के शिष्य थे। भगवान् महावीर अस्तित्व मे आए ही थे। उनका धर्म-चक्र अभी प्रवृत्त हुआ ही था। अभी सूर्य की रश्मिया दूर तक फैली नही थी। केशी यह अनुभव कर रहे थे कि अधकार और अधिक घना हो रहा है। श्रमण परम्परा के आकाश में ऐसा कोई सूर्य नही है जो इस अधकार को प्रकाश मे बदल दे। गौतम से उनकी भेंट हुई तब उन्होने अपनी मानसिक अनुभूति गौतम के सामने रखी। वे वेदना के स्वर में बोले, 'आज बहुत बडा जनसमूह घोर तमोमय अधकार मे स्थित हो रहा है। उसे प्रकाश देने वाला कौन होगा ?'

गौतम ने कहा, 'भते ! लोक को अपने प्रकाश से भरने वाला सूर्य अब उदित हो चुका है। वह जन-समूह को अंधकार से प्रकाश मे ले आएगा।'

गौतम के उत्तर से केशी को आश्वासन जैसा मिला। उन्होंने विस्मय की भाषा मे पूछा. 'वह सूर्य कौन है ?'

'वह सूर्य भगवान् महावीर है।'

'कौन है वह महावीर ?'

'प्रारम्भ मे विदेह जनपद का राजकुमार और आज विदेह-साधना का समर्थ साधक, महान् अर्हत्, जिन और केवली।'[1]

सक्षिप्त उत्तर से केशी की जिज्ञासा शान्त नही हुई। तब गौतम ने भगवान् महावीर के जीवनवृत्त के अनेक चित्र केशी के सामने प्रस्तुत किए।

स्वप्न

निरभ्र नील गगन। शान्त, नीरव वातावरण। रात्रि का पश्चिम प्रहर।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २३।७५-७८।

महाराज सिद्धार्थ का भव्य प्रासाद। वासगृह का मध्य भाग। सुरभि पुष्प और सुरभि चूर्ण की महक। मृदु शय्या। अर्द्धनिद्रावस्था मे सुप्त देवी त्रिशला ने एक स्वप्न-श्रृंखला देखी।[1]

देवी ने देखा—

एक हाथी—बरसे हुए बादल जैसा श्वेत, मुक्ताहार जैसा उज्ज्वल, क्षीर समुद्र जैसा धवल, चन्द्ररश्मि जैसा कान्त, जलबिन्दु जैसा निर्मल और रजत पर्वत जैसा शुभ्र। चतुर्दन्त, उन्नत और विशाल।

एक वृषभ—श्वेत कमल की पखुडियों जैसा श्वेत और विराट् स्कन्ध।

एक सिंह—तप्त स्वर्ण और विद्युत् जैसी चमकदार आखें और सौम्य आकृति।

लक्ष्मी—कमलासन पर आसीन। दिग्गजो की विशाल-पीवर सूंड से अभिषिक्त।

एक पुष्पमाला—मदार के ताजा फूलो से गुथी हुई। सर्व ऋतुओ मे विकस्वर। श्वेत पुष्पो के मध्य यत्र-तत्र बहुरगी पुष्पो से गुफित।

चांद—गोक्षीर, फेन और रजतकलश जैसा शुभ्र। समुद्र की वेला का सवर्धक, स्वच्छ दर्पण तुल्य चमकदार। हृदयहारी, मनोहारी, सौम्य और रमणीय।

सूर्य—अधकार को विनष्ट करने वाला, तेजपुज से प्रज्वलित। रक्त-अशोक, किंशुक, शुकमुख और गुजार्ध जैसा रक्त।

एक ध्वजा—कनकयष्टि पर प्रतिष्ठित। ऊर्ध्वभाग मे सिंह से अकित। मद-मद पवन से लहराती हुई।

एक कलश—कमलावलि से परिवेष्टित और जल से परिपूर्ण।

मीन युगल—पारदर्शी शरीर, मन को लुभाने वाली मृदुता और चपलता का मूर्त्तरूप।

एक पद्म सरोवर—सूर्यविकासी, चन्द्रविकासी और जात्य कमलो से परिपूर्ण। सूर्य-रश्मियो से प्रबुद्ध कमलो की सुरभि से सुगधित।

एक सिंहासन—पराक्रम के प्रतिनिधि वनराज के मुख से मडित, रत्न-मणि जटित और विशाल।

क्षीर सागर—नाचती हुई लहरियो से क्षुब्ध। पवन-प्रकपित तरगो से तरगित। विशाल और गम्भीर।

एक देव विमान—नवोदित सूर्य बिम्ब जैसा प्रभास्वर। अगर और लोबान की गध से सुगधित।

एक नाग विमान—ऐश्वर्य का प्रतीक, कमनीय और रमणीय।

---

१ कल्पसूत्र, सूत्र ३३ ४७।

एक रत्न-पुंज—दिगन्त को छूती हुई रश्मियों से आकीर्ण, उन्नत और रमणीय।

एक अग्निपुंज—गगनस्पर्शी शिखा और ज्वाला से संकुल, निर्धूम और घृत से अभिषिक्त।[1]

त्रिशला जागी। उसका मन उल्लास से भर गया। उसे अपने स्वप्नों पर आश्चर्य हो रहा था। आज तक उसने इतने महत्त्वपूर्ण स्वप्न कभी नहीं देखे थे। वह महाराज सिद्धार्थ के पास गयी। उन्हे स्वप्नो की बात सुनायी। सिद्धार्थ हर्ष और विस्मय से आरक्त हो गया।

सिद्धार्थ ने स्वप्न-पाठकों को आमन्त्रित किया। उन्होंने स्वप्नों का अध्ययन कर कहा, 'महाराज ! देवी के पुत्र-रत्न उत्पन्न होगा। ये स्वप्न उसके धर्म-चक्रवर्ती होने की सूचना दे रहे हैं।' महाराज ने प्रीतिदान दे स्वप्न-पाठकों को विदा किया।[2]

जन्म

सब दिशाए सौम्य और आलोक से पूर्ण है। वासन्ती पवन मंद-मंद गति से प्रवाहित हो रहा है। पुष्पित उपवन वसन्त के अस्तित्व की उद्घोषणा कर रहे है।

---

१ इस स्वप्न-शृंखला मे स्वप्न-दर्शन की दो परम्पराओ द्वारा सम्मत स्वप्न शृंखलित हैं :

दिगम्बर परम्परा	श्वेताम्बर परम्परा
१ गज	१ गज
२ वृषभ	२ वृषभ
३ सिंह	३. सिंह
४. लक्ष्मी	४. श्री अभिषेक
५ माल्यद्विक	५ दाम (माला)
६ शशि	६. शशि
७. सूर्य	७ दिनकर
८ कुम्भद्विक	८. कुम्भ
९. झषयुगल	९ झय (ध्वजा)
१० सागर	१० सागर
११. सरोवर	११. पद्मसर
१२. सिंहासन	१२ विमान
१३. देव-विमान	१३ रत्न-उच्चय
१४. नाग-विमान	१४. शिखि (अग्नि)
१५ रत्न-राशि	
१६. निर्धूम अग्नि	

२. कल्पसूत्र, सूत्र ६४-७८।

जलाशय प्रसन्न हैं। प्रफुल्ल हैं भूमि और आकाश। धान्य की समृद्धि से समूचा जनपद हर्ष-विभोर हो उठा है। इस प्रसन्न वातावरण मे चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (३० मार्च, ईस्वी पूर्व ५९९) की मध्यरात्रि को एक शिशु ने जन्म लिया।

जनपद का नाम विदेह। नगर का नाम क्षत्रियकुण्ड। पिता का नाम सिद्धार्थ। माता का नाम त्रिशला। शिशु अभी अनाम।

वह दासप्रथा का युग था। प्रियवदा दासी ने सिद्धार्थ को पुत्र-जन्म की सूचना दी। सिद्धार्थ यह सूचना पा हर्ष-विभोर हो उठे। उन्होने प्रियवदा को प्रीतिदान दिया और सदा के लिए दासी-कर्म से मुक्त कर दिया। दास-प्रथा के उन्मूलन में यह था शिशु का पहला अभियान।

सिद्धार्थ ने नगर-रक्षक को बुलाकर कहा, 'देवानुप्रिय! पुत्ररत्न का जन्म हुआ है। उसकी खुशी मे उत्सव का आयोजन करो।'

नगर-रक्षक महाराज सिद्धार्थ की आज्ञा को शिरोधार्य कर चला गया।

आज बन्दीगृह खाली हो रहे है। बन्दी अपने-अपने घरो को लौट रहे है। ऐसा लग रहा है मानो स्वतन्त्रता के सेनानी ने जन्म लेते ही पहला प्रहार उन गृहो पर किया है, जहा बुराई को नही किन्तु मनुष्य को बन्दी बनाया जाता है।

आज बाजारो मे भीड उमड रही है। अनाज, किराना, घी और तेल—सब सस्ते भावो मे बिक रहे है। ऐसा लग रहा है मानो असग्रह के पुरस्कर्ता ने सग्रह को चुनौती दे डाली है।

आज नगर के राजपथो, तिराहो, चौराहो और छोटे-बड़े सभी पथो पर जल छिडका जा रहा है। ऐसा लग रहा है मानो शान्ति का पुरोधा भूमि का ताप हरण कर मानव-सताप के हरण की सूचना दे रहा है।

आज अट्टालिका के हर शिखर पर ध्वजा और पताकाए फहरा रही है। ऐसा लग रहा है मानो जीवन-सग्राम मे प्राप्त होने वाली सफलता विजय का उल्लास मना रही है।

आज नगर के कण-कण से सुगन्ध फूट रही है। सारा नगर गधगुटिका जैसा प्रतीत हो रहा है। मानो वह बता रहा है कि सयम के सवाहक की दिग्दिगन्त में ऐसी ही सुगन्ध फूटेगी।

नगरवासियो के मन मे कुतूहल है। स्थान-स्थान पर एक प्रश्न पूछा जा रहा है—आज यह क्या हो रहा है? क्यों हो रहा है? क्या कोई नई उपलब्धि हुई है?

इन जिज्ञासाओ के उभरते स्वरों के बीच राज्याधिकारियो ने समूचे नगर मे यह सूचना प्रसारित की—'महाराज सिद्धार्थ के आज पुत्र-रत्न का जन्म हुआ है।' इस सवाद के साथ समूचा नगर हर्षोत्फुल्ल हो गया।[1]

---

१ कल्पसूत्र, सूत्र ९९-१००; कल्पसूत्र टिप्पनक, पृ० १२-१३।

नामकरण

समय की सुई अविराम गति से घूम रही है। उसने हर प्राणी को पल-पल के संचय से सींचा है। गर्भ को जन्म, जन्म-प्राप्त को बालक, बालक को युवा, युवा को प्रौढ, प्रौढ़ को वृद्ध और वृद्ध को मृत्यु की गोद में सुलाकर वह निष्काम कर्म का जीवित उदाहरण प्रस्तुत कर रही है। उसने त्रिशला के शिशु को बढ़ने का अवसर दिया। वह आज बारह दिन का हो रहा है। वह अभी अनाम है। जो इस दुनिया में आता है, वह अनाम ही आता है। पहली पीढ़ी के लोग पहचान के लिए उसमे नाम आरोपित करते हैं। जीव सूक्ष्म है। उसे पहचाना नही जा सकता। उसकी पहचान के दो माध्यम हैं—रूप और नाम। वह रूप को अव्यक्त जगत् से लेकर आता है और नाम व्यक्त जगत् मे आने पर आरोपित होता है। माता-पिता ने आगतुक अतिथियो और सम्बन्धियों से कहा, 'जिस दिन यह शिशु गर्भ मे आया, उसी दिन हमारा राज्य धन-धान्य, सोना-चांदी, मणि-मुक्ता, कोश-कोष्ठागार, बल-वाहन से बढा है, इसलिए हम चाहते हैं कि इस शिशु का नाम 'वर्द्धमान' रखा जाए।[1] हम सोचते हैं, आप इस प्रस्ताव से अवश्य सहमत होगे।'

उपस्थित लोगो ने सिद्धार्थ और त्रिशला के प्रस्ताव का एक स्वर से समर्थन किया। शिशु का नाम वर्द्धमान हो गया। 'वर्द्धमान', 'सिद्धार्थ' और 'त्रिशला' के जयघोष के साथ नामकरण-सस्कार सम्पन्न हुआ।

आमलकी क्रीड़ा

कुमार वर्द्धमान आठवें वर्ष मे चल रहे थे। शरीर के अवयव विकास की दिशा खोज रहे थे। यौवन का क्षितिज अभी दूर था। फिर भी पराक्रम का बीज प्रस्फुटित हो गया। क्षात्र तेज का अभय साकार हो गया।

एक बार वे बच्चो के साथ 'आमलकी' नामक खेल खेल रहे थे। यह खेल वृक्ष को केन्द्र मानकर खेला जाता था। खेलनेवाले सब बच्चे वृक्ष की ओर दौड़ते। जो बच्चा सबसे पहले उस वृक्ष पर चढकर उतर आता वह विजेता माना जाता। विजेता बच्चा पराजित बच्चों के कधो पर बैठकर दौड़ के प्रारम्भ बिन्दु तक आता।

कुमार वर्द्धमान सबसे आगे दौड़ पीपल के पेड़ पर चढ गए। उनके साथ-साथ एक सांप भी चढा और पेड़ के तने से लिपट गया। बच्चे डरकर भाग गए। कुमार वर्द्धमान डरे नही। वे झट से नीचे उतरे, उस सांप को पकड़कर एक ओर डाल दिया।[2]

---

१. कल्पसूत्र, सूत्र ८५, ८६।
२ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४६।

अध्ययन

कुमार वर्द्धमान प्रारम्भ से ही प्रतिभा-सम्पन्न थे। उनका प्रातिभ ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से बहुत ऊंचा था। उन्हें अतीन्द्रियज्ञान की शक्ति प्राप्त थी। वे दूसरो के सामने उसका प्रदर्शन नहीं करते थे। वे आठ वर्ष की अवस्था को पार कर नवें वर्ष मे पहुचे। माता-पिता ने उचित समय देखकर उन्हे विद्यालय मे भेजा। अध्यापक उन्हे पढ़ाने लगा। वे विनयपूर्वक उसे सुनते रहे।

उस समय एक ब्राह्मण आया। विराट् व्यक्तित्व और गौरवपूर्ण आकृति। अध्यापक ने उसे ससम्मान आसन पर बिठाया। उसने कुमार वर्द्धमान से कुछ प्रश्न पूछे—अक्षरो के पर्याय कितने हैं ? उनके भंग (विकल्प) कितने हैं ? उपोद्घात क्या है ? आक्षेप और परिहार क्या हैं ? कुमार ने इन प्रश्नों के उत्तर दिए। प्रश्नो की लम्बी तालिका प्राप्त है, पर उत्तर अप्राप्त। इस विश्व मे यही होता है, समस्याएं रह जाती हैं, समाधान खो जाते हैं।

कुमार के उत्तर सुन अध्यापक के आश्चर्य की सीमा नही रही। बहुत पूछने पर यह रहस्य अनावृत हो गया कि वर्द्धमान को जो पढ़ाया जा रहा है वह उन्हे पहले से ही ज्ञात है। अध्यापक के अनुरोध पर वे पहले दिन ही विद्यालय से मुक्त हो गए।[१]

हम वर्तमान को अतीत के आलोक मे नही पढते तब केवल व्यक्तित्व की व्याख्या करते है, उसकी पृष्ठभूमि मे विद्यमान अस्तित्व को भुला देते है।

हम वर्तमान को भविष्य के आलोक मे नही पढ़ते तब केवल उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं, उसकी निष्पत्ति को भुला देते हैं।

वर्तमान में अतीत के बीज को अंकुरित करने और भविष्य के बीज को बोने की क्षमता है। जो व्यक्ति इन दोनो क्षमताओ को एक साथ देखता है वह व्यक्तित्व और अस्तित्व को तोडकर नही देखता, उत्पत्ति और निष्पत्ति को विभक्त कर नही देखता, वह समग्र को समग्र की दृष्टि से देखता है। समग्रता की दृष्टि से देखने वाला आठ वर्ष की आयु मे घटित होने वाली घटना का बीज आठ वर्ष की अवधि मे ही नही खोजता। उसकी खोज सुदूर अतीत तक पहुच जाती है। कुमार वर्द्धमान के प्रातिभज्ञान को आनुवंशिकता और मस्तिष्क की क्षमता के आधार पर नही समझा जा सकता। उसे अनेक जन्मो की शृंखला मे हो रही उत्क्रान्ति के सन्दर्भ मे ही समझा जा सकता है।

सन्मति

भगवान् पार्श्व की परम्परा चल रही थी। उनके हजारों शिष्य बृहत्तर भारत

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४८ २४६।

और मध्य एशियाई प्रदेशों में विहार कर रहे थे। उनके दो शिष्य क्षत्रियकुंड नगर में आए। एक का नाम था संजय और दूसरे का विजय। वे दोनों चारण-मुनि थे। उन्हें आकाश मे उड़ने की शक्ति प्राप्त थी। उनके मन में किसी तत्त्व के विषय मे सदेह हो रहा था। वे उसके निवारण का प्रयत्न कर रहे थे, पर वह हो नही सका। वे सिद्धार्थ के राज-प्रासाद मे आए। शिशु वर्द्धमान को देखा। तत्काल उनका सन्देह दूर हो गया। उनका मन पुलकित हो उठा। उन्होने वर्द्धमान को 'सन्मति' के नाम से संबोधित किया।[1]

प्रश्न का ठीक उत्तर मिलने पर संदेह का निवर्तन हो जाता है। यह सदेह-निवर्तन की साधारण पद्धति है। कभी-कभी इससे भिन्न असाधारण घटना भी घटित होती है। महान् अहिंसक की सन्निधि प्राप्त होने पर जैसे हिंसा का विष अपने आप घुल जाता है, प्रज्वलित वैर मैत्री मे बदल जाता है, वैसे ही अतर् के आलोक से आलोकित आत्मा की सन्निधि प्राप्त होने पर मन के सदेह अपने आप समाधान मे बदल जाते है।

धार्मिक परम्परा

उस समय भारत के उत्तर-पूर्व मे दो मुख्य धार्मिक परम्पराएं चल रही थी—श्रमण परम्परा और ब्राह्मण परम्परा। सिद्धार्थ और त्रिशला श्रमण परम्परा के अनुयायी थे।[2] वे भगवान् पार्श्व के शिष्यो को अपना धर्माचार्य मानते थे। वर्द्धमान ने जिस परम्परा का उन्नयन किया, उसके सस्कार उन्हें पैतृक विरासत मे मिले थे। वे किसी श्रमण के पास गए और धर्म-चर्चा की, इसकी कोई जानकारी प्राप्त नही है। उनका ज्ञान बहुत प्रबुद्ध था। वे सत्य और स्वतन्त्रता की खोज में अकेले ही घर से निकले थे। कुछ वर्षों तक वे अकेले ही साधना करते रहे।

राजनीतिक वातावरण

उन दिनो वज्जि गणतन्त्र बहुत शक्तिशाली था। उसकी राजधानी थी वैशाली। उसकी अवस्थिति गगा के उत्तर, विदेह मे थी। वज्जिसंघ में लिच्छवि और विदेह—दोनो शासक सम्मिलित थे। इसके प्रधान शासक लिच्छवि राजा चेटक थे। सिद्धार्थ वज्जि सघ के एक सदस्य-राजा थे। वर्द्धमान गणतंत्र के वातावरण मे पले थे। गणतन्त्र मे सहिष्णुता, वैचारिक उदारता, सापेक्षता, स्वतंत्रता और एक-दूसरे को निकट से समझने की मनोवृत्ति का विकास अत्यन्त आवश्यक होता है। इन विशेषताओ के बिना गणतन्त्र सफल नही हो सकता। अहिंसा और

---

१. उत्तरपुराण, पर्व ७४, श्लोक, २८२, २८३।
२ आयारचूला, १५।२५।

स्याद्वाद के बीज वर्द्धमान को राजनीतिक वातावरण में ही प्राप्त हो गए थे। धार्मिक वातावरण मे वर्द्धमान ने उन्हे शतशाखी बनाकर स्थायी प्रतिष्ठा दे दी।

परिवार

अपने गुणो से प्रख्यात होने वाला उत्तम, पिता के नाम से पहचाना जाने वाला मध्यम, माता के नाम से पहचाना जाने वाला अधम और श्वसुर के नाम से पहचाना जाने वाला अधमाधम होता है—यह नीतिसूत्र अनुभव की स्याही से लिखा गया है।

महावीर स्वनामधन्य थे। वे अपनी सहज तथा साधनार्जानित विशेषता के कारण अनेक नामो से प्रख्यात हुए। उनके गुण-निष्पन्न नाम सात हैं—वर्द्धमान, समन (श्रमण), महावीर[1], सन्मति, वीर, अतिवीर और ज्ञातपुत्र। बौद्ध साहित्य मे उनका नाम नातपुत्त मिलता है।

महावीर के पिता के तीन नाम थे—सिद्धार्थ, श्रेयास और यशस्वी। उनका गोत्र था—काश्यप।[2]

महावीर की माता के तीन नाम थे—त्रिशला, विदेहदत्ता और प्रियकारिणी। उनका गोत्र था—वाशिष्ठ।[3]

महावीर के चुल्लपिता का नाम सुपार्श्व, बुआ का नाम यशोदया, बडे भाई का नाम नदिवर्धन, भाभी का नाम ज्येष्ठा[4] और बडी बहन का नाम सुदर्शना था।[5]

महावीर का परिवार समृद्ध और शक्तिशाली था। उनके धर्म-तीर्थ के विकास मे उसने अपना योगदान दिया था।

विवाह

कुमार वर्द्धमान अब युवा हो गए। उनके अग-अग मे यौवन का उभार आ गया। वे बचपन मे भी सुन्दर थे। युवा होने पर वे और अधिक सुन्दर दीखने लगे, ठीक वैसे ही जैसे चाद सहज ही कान्त होता है, शरद् ऋतु मे वह और अधिक कमनीय हो जाता है। कुमार की यौवनश्री को पूर्ण विकसित देख माता-पिता ने विवाह की चर्चा प्रारम्भ की।

कुमार वर्द्धमान के जन्मोत्सव मे भाग लेने के लिए अनेक राजा आए थे।

---

१ आयारचूला, १५।१६।
२ आयारचूला, १५।१७।
३. आयारचूला, १५।१८।
४ आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग पृ० १६४।
५. आयारचूला, १५।१९-२१।

उनमें कलिंग-नरेश जितशत्रु भी था। वह कुमार को देख मुग्ध हो गया। उसी समय उसके मन में कुमार के साथ सम्बन्ध जोड़ने की साध उत्पन्न हो गयी। कुछ समय बाद उसके पुत्री का जन्म हुआ। उसका नाम रखा गया यशोदा। पुत्री के बढ़ने के साथ-साथ जितशत्रु के मन की साध भी बढ़ रही थी।

जितशत्रु की रानी का नाम था यशोदया। उसने जितशत्रु से कहा, 'पुत्री विवाह योग्य हो गयी है। अब आपकी क्या इच्छा है?'

'इच्छा और क्या हो सकती है? विवाह करना है। तुम बताओ, किसके साथ करना उचित होगा?'

'इस विषय मे आप मुझसे ज्यादा जानते हैं, फिर मैं क्या बताऊं?'

'कन्या पर माता का अधिकार अधिक होता है, इसलिए इस पर तुमने जो सोचा हो, वह बताओ।'

'क्या मैं अपनी भावना आपके सामने रखूं, जो अब तक मन मे पलती रही है?'

'मैं अवश्य ही जानना चाहूंगा।'

'कुमार वर्द्धमान बहुत यशस्वी, मनस्वी और सुन्दर हैं। मैं उनके साथ यशोदा का परिणय चाहती हू।'

'मेरी भी यही इच्छा है, सद्यस्क नही किन्तु दीर्घकालिक। मैं तुम्हारी भावना जानकर इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि हम बाहर से ही एक नही हैं, भीतर से भी एक हैं।'

जितशत्रु ने दूत भेजकर अपना सदेश सिद्धार्थ तक पहुचा दिया।

सिद्धार्थ और त्रिशला—दोनो को इस प्रस्ताव से प्रसन्नता हुई। उन्होने इसे कुमार के सामने रखा। कुमार ने उसे अस्वीकार कर दिया।[1] वे बचपन से ही अनासक्त थे। वे ब्रह्मचारी जीवन जीना चाहते थे।

माता-पिता ने विवाह करने के लिए बहुत आग्रह किया। वे माता-पिता का बहुत सम्मान करते थे और माता-पिता का उनके प्रति प्रगाढ़ स्नेह था। वे एक दिन भी वर्द्धमान से विलग रहना पसन्द नही करते थे। वर्द्धमान को इस स्नेह की स्पष्ट अनुभूति थी। इसी आधार पर उन्होने संकल्प किया था—'माता-पिता के जीवनकाल मे मैं मुनि नही बनूगा।'

वर्द्धमान मे मुनि बनने की भावना और क्षमता—दोनो थी। ब्रह्मचर्य उनका प्रिय विषय था। इसे वे बहुत महत्त्व देते थे। यह उनके ब्रह्मचर्य को प्रतिष्ठा देने

---

१ श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार कुमार वर्द्धमान माता-पिता के स्नेह के सामने झुक गए। उन्होने विवाह कर लिया।
दिगम्बर परम्परा के अनुसार कुमार वर्द्धमान ने विवाह का अनुरोध ठुकरा दिया। वे जीवन-भर ब्रह्मचारी रहे।

के भावी प्रयत्नो से ज्ञात होता है।

मुक्ति का अन्तर्द्वन्द्व

कुछ लोग जागते हुए भी सोते हैं और कुछ लोग सोते हुए भी जागते हैं। जिनका अन्तःकरण सुप्त होता है, वे जागते हुए भी सोते हैं। जिनका अन्तःकरण जागृत होता है, वे सोते हुए भी जागते है।

कुमार वर्द्धमान सतत जागृति की कक्षा मे पहुच चुके थे। गर्भकाल मे ही उन्हे अतीन्द्रिय ज्ञान उपलब्ध था। उनका अन्तःकरण निसर्ग चेतना के आलोक से आलोकित था। भोग और ऐश्वर्य उनके पीछे-पीछे चल रहे थे, पर वे उनके पीछे नही चल रहे थे।

एक दिन कुमार वर्द्धमान आत्म-चिन्तन मे लीन थे। उनका निर्मल चित्त अन्तर् की गहराई मे निमग्न हो रहा था। वे स्थूल की परतो को पार कर सूक्ष्म लोक मे चले गए। उन्हे पूर्वजन्म की स्मृति हो आयी।[1] उन्होने देखा, जीवन की शृखला कही विच्छिन्न नही है, अतीत के अनन्त मे सर्वत्र उसके पदचिह्न अकित हैं।

अतीत की कुछ घटनाओं ने कुमार के मन पर बहुत असर डाला। कुछ समय के लिए वे चिन्तन की गहराई मे खो गए।

दर्पण मे प्रतिबिम्ब की भाति अतीत उनकी आखो के सामने उतर आया—'मैं त्रिपृष्ठ नाम का वासुदेव था। एक रात्रि को रगशाला मे नृत्य-वाद्य का आयोजन हुआ। मैं और मेरे सभासद् उसमे उपस्थित थे। मैंने अपने अगरक्षक का कहा, 'मुझे नीद न आए तब तक यह आयोजन चलाना। जब मुझे नीद आने लगे तब इसे बन्द कर देना।' उस दिन मैं बहुत व्यस्त रहा। दिन भर के कार्यक्रम से थका हुआ था। रात्रि की ठडी वेला। मनोहर नृत्य, लुभाने वाला वाद्य-गीत। समय, नर्तक, गायक और वादक का ऐसा दुर्लभ योग मिला कि सबका मन प्रफुल्लित हो उठा। लोग उस कार्यक्रम मे तन्मय हो गए। वे कालातीत स्थिति का अनुभव करने लगे। मुझे नीद का अनुकूल वातावरण मिला। मै थोड़े समय मे ही निद्रालीन हो गया। आयोजन चलता रहा।

गहरी नीद के बाद मैं जागा। मेरे जागने के साथ मेरा अह भी जागा। मैंने अगरक्षक से पूछा, 'क्या मेरी आज्ञा का अतिक्रमण नहीं हुआ है?' वह कुछ उत्तर न दे सका। वह नृत्य और वाद्य-गीत मे इतना खोया हुआ था कि उसे मेरी नीद और मेरे जागने का कोई भान ही नही रहा। मैं आज्ञा के उल्लघन से तिलमिला उठा। मेरा क्रोध सीमा पार कर गया। मैंने आरक्षीवर्ग के द्वारा उसके कानों में

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७१।

गर्म सीसा डलवाया। मेरी हिंसा उसके प्राण लेकर ही शान्त हुई।'[१]

मैं अनुभव करता हू कि यह मेरा जन्म हिंसा का प्रायश्चित्त करने के लिए ही हुआ है। मेरी सारी रुचि, सारी श्रद्धा, सारी भावना अहिंसा की आराधना मे लग रही है। उसके लिए मैं जो कुछ भी कर सकता हूं, करूंगा। मेरे प्राण तडप रहे हैं उसकी सिद्धि के लिए। मैं चाहता हू कि वह दिन शीघ्र आए जिस दिन मैं अहिंसा से अभिन्न हो जाऊं, किसी जीव को कष्ट न पहुचाऊ। आज क्या हो रहा है ? हम बड़े लोग छोटे लोगो के प्रति सद्व्यवहार नहीं करते। उनकी विवशता का पूरा-पूरा लाभ उठाते है। पशु की तरह उनका क्रय-विक्रय करते है। उनके साथ कठोरता बरतते है। मुझे लगता है जैसे हमने मानवीय एकता को समझा ही नही। छोटा-सा अपराध होने पर कठोर दण्ड दे देते हैं। नाना प्रकार की यातनाए देना छोटी बात है, अवयवो को काट डालना भी हमारे लिए बडी बात नही है। मनुष्य के प्रति हमारा व्यवहार ऐसा है, तब पशुओ के प्रति अच्छे होने की आशा कैसे की जा सकती है ? मै इस स्थिति को बदलना चाहता हू। यह डडे के बल पर नही बदली जा सकती। यह बदली जा सकती है हृदय-परिवर्तन के द्वारा। यह बदली जा सकती है प्रेम की व्यापकता के द्वारा। इसके लिए मुझे हर आत्मा के साथ आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करना होगा। समता की वेदी पर अपने अह का विसर्जन करना होगा। यह कार्य मागता है बहुत वडा बलिदान, बहुत बडी साधना और बहुत बडा त्याग।'

माता-पिता की समाधि-मृत्यु

महावीर के मन मे अचानक उदासी छा गई, जैसे उज्ज्वल प्रकाश के बाद नीले नभ मे अकस्मात् रात उतर आती है। वे कारण की खोज मे लग गए। वह पूर्व-सूचना थी महाराज सिद्धार्थ और देवी त्रिशला के देहत्याग की। कुमार के मन मे अन्त प्रेरणा जागी। वे तत्काल सिद्धार्थ के निषद्या-कक्ष मे गए। वहा सिद्धार्थ और त्रिशला—दोनो विचार-विमर्श कर रहे थे। कुमार ने देखा, वे किसी गभीर विषय पर बात कर रहे हैं। इसलिए उनके पैर द्वार पर ही रुक गए। सिद्धार्थ ने कुमार को देखा और अपने पास बुला लिया। वे बोले, 'कुमार! तुम ठीक समय पर आए हो। हमे तुम्हारे परामर्श की जरूरत थी। हम तुम्हे बुलाने वाले ही थे।'

कुमार ने प्रणाम कर कहा, 'मैं आपकी कृपा के लिए आभारी हूं। आप आदेश दें, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हू ?'

'कुमार! तुम देख रहे हो, हमारी अवस्था परिपक्व हो गई है। पता नहीं

---

१ (क) महावीरचरित्र, प्र० ३, प० ६२।
(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १०।१।१७७।

कब मृत्यु का आमंत्रण आ जाए। वह हमें निमंत्रण दे, इससे पहले हम उसे निमंत्रण दें, क्या यह अच्छा नहीं होगा ? श्रमण-परम्परा ने मृत्यु को आमंत्रित करने में सदा शौर्य का परिचय दिया है। भगवान् पार्श्व ने मृत्यु की तैयारी करने का पाठ पढ़ाया है। हम अनुभव करते हैं कि उस पाठ को क्रियान्वित करने का उचित अवसर हमारे सामने उपस्थित है।'

कुमार का मन इस आकस्मिक चर्चा से द्रवित हो गया। माता-पिता का वियोग उनके लिए असह्य था। व बोले, 'पिताश्री ! इस प्रकार की बात सुनना मुझे पसंद नहीं है।'

'कुमार ! यह पसंद और नापसंद का प्रश्न नहीं है। यह प्रश्न है यथार्थ का। जो होना है, वह होगा ही। उसे रोका नहीं जा सकता। फिर उसे नकारने का अर्थ क्या होगा ?'

'पिताश्री ! इस सत्य को मैं जानता हूं। पर सत्य का सूर्य क्या मोह के बादलों से आच्छन्न नहीं होता ? मैं आपकी मृत्यु का नाम भी सुनना नहीं चाहता, फिर मैं उसकी तैयारी का परामर्श कैसे दे सकता हूं ?'

'कुमार ! तुम तत्त्वदर्शी हो, सत्य के गवेषक हो, अभय हो, सब कुछ हो। पर पितृस्नेह और मातृस्नेह से मुक्त नहीं हो। क्या इस दुर्बलता से ऊपर नहीं उठना है ?'

'पिताश्री ! मैं आप और मां के स्नेह से अभिभूत हूं। इसे आप दुर्बलता समझें या कुछ भी समझें।'

सिद्धार्थ ने वार्ता को मोड देते हुए कहा, "क्या तुम नहीं चाहते कि हमारी समाधि-मृत्यु हो ?'

'यह कैसे हो सकता है ?'

'क्या इसके लिए हमें शरीर और मन को पूर्णरूपेण तैयार नहीं करना चाहिए ?'

कुमार ने साहस बटोरकर कहा, 'अवश्य करना चाहिए।'

'इस तैयारी में तुम सहयोगी बनोगे ?'

'आपकी प्रबल इच्छा है, वह कार्य मुझे करना ही होगा।'

सिद्धार्थ ने नंदिवर्द्धन और सुपार्श्व से परामर्श किया और वे समाधिमृत्यु की तैयारी में लग गए। भोजन की मात्रा कम कर दी। अल्पाहार और उपवास के द्वारा शरीर को साध लिया। अनासक्ति, वैराग्य और आत्म-दर्शन के द्वारा उनका मन समाहित हो गया। उन्होंने मृत्यु का इतने शान्तभाव से वरण किया कि मृत्यु को स्वयं पता नहीं चला कि वह कब आ गई।[1]

---

१ आयारचूला, १५।२५।

माता-पिता वर्द्धमान से बहुत प्रेम करते थे। माता-पिता के प्रति उनके मन मे बहुत प्रेम था। अट्ठाईस वर्ष तक वे निरन्तर माता-पिता की छत्रछाया में रहे।[१] अब कुमार के मन मे बार-बार यह प्रश्न उभरने लगा—क्या वह छाया सचमुच बादल की छाया थी ?

माता-पिता के स्वर्गवास से कुमार का स्नेहिल मानस व्यथित हो उठा। जीवन की नश्वरता का सिद्धान्त व्यवहार में उतर आया। संयोग का अन्त वियोग में होता है—यह आंखों के सामने नाचने लगा। वे स्नेह के उस चरम बिन्दु पर पहुंच गए जहां अनुराग विराग के सिंहासन पर विराजमान होता है।

चुल्लपिता के पास

सुपार्श्व की आशा पर तुषारपात जैसा हो गया। वे वर्द्धमान के चक्रवर्ती होने का स्वप्न संजोए बैठे थे। प्रसिद्ध ज्योतिषियो ने उन्हें इसका विश्वास दिलाया था। उनका आत्म-विश्वास भी यही कह रहा था। उन्होंने अपने विश्वास को दूर-दूर तक प्रचारित किया था। इस प्रचार के आधार पर श्रेणिक, प्रद्योत आदि अनेक राजकुमार वर्द्धमान की सेवा मे उपस्थित होते थे। उनके पराक्रम, पुरुषार्थ और चरित्र उनके चक्रवर्ती होने का साक्ष्य दे रहे थे।[२]

वर्द्धमान गृहवास को छोडकर श्रमण बनने को उत्सुक हैं—इस सूचना से सुपार्श्व के सपनो का महल ढह गया। वे भाई के वियोग की व्यथा का परिधान अभी उतार ही नही पाए थे कि वर्द्धमान के अभिनिष्क्रमण की चर्चा ने उन्हे व्यथा का नया परिधान पहना दिया।

वर्द्धमान ने देखा, सुपार्श्व पूर्व-सूचना के बिना उनके कक्ष मे आ रहे हैं। वे चुल्लपिता के आकस्मिक आगमन से विस्मय मे पड गए। वे उठकर उनके सामने गए। प्रणाम कर बोले, 'चुल्लपिता ! आपके आगमन से मैं कृतार्थ हूं। मैं आपकी कृपा के लिए आभारी हू। पर आपने यहा आने का कष्ट क्यों किया ? मुझे आप अपने कक्ष मे ही बुला लेते।'

सुपार्श्व ने मुस्कराकर कहा, 'कुमार ! मैं यहा आऊ या तुम वहां आओ, इसमें कोई अन्तर नही पडता। जो अन्तर पड रहा है, उसे मिटाने की बात करो।'

'मैं नही जानता, आपके और मेरे बीच मे कोई अन्तर है, चुल्लपिता !'

'बेटे ! तुम सच कहते हो। भाई के जीवनकाल मे मेरे और तुम्हारे बीच में कोई अन्तर नही था। पर…'

'वह अब कैसे आएगा ? अब तो आप ही मेरे पिता हैं।'

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४९।
२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४९।

भाई की स्मृति और कुमार की मृदु उक्ति से सुपार्श्व भावविह्वल हो गए। उनकी आंखो से आसुओं की धार बह चली। वे सिसक-सिसककर रोने लगे। वे कुछ कहना चाहते थे पर वाणी उनका साथ नही दे रही थी। कुमार स्तब्ध-जडित जैसे एकटक उनकी ओर निहारते रहे। सुपार्श्व कुछ आश्वस्त हुए। भावावेश को रोककर कक्ष के एक आसन पर बैठ गए। कुछ क्षणों तक वातावरण मे नीरवता छा गयी।

'वर्द्धमान! भाई और भाभी अब ससार मे नही हैं—इसका सबको दुःख है। पर उस स्थिति पर हमारा वश नही है। कुमार! उस अवश स्थिति का लाभ उठाकर तुम घर से निकल जाना चाहते हो, यह सहन नही हो सकता।'

'चुल्लपिता! मैं घर से निकल जाना कहा चाहता हू? मैं अपने घर से निकला हुआ हू, फिर से घर मे चला जाना चाहता हू।'

'कुमार! ऐसा मत कहो। तुम अपने घर मे बैठे हो और उस घर मे बैठे हो जिसमे जन्मे, पले-पुसे और बड़े हुए।'

'चुल्लपिता! क्या मेरा अस्तित्व अट्ठाईस वर्ष से ही है? क्या इससे पहले मैं नही था? यदि था तो यह घर मेरा अपना कैसे हो सकता है? मेरा घर मेरी चेतना है जो कभी मुझसे अलग नही होती। मै अब उसी मे समा जाना चाहता हू।'

'कुमार! तुम दर्शन की बाते कर रहे हो। मैं तुमसे अपेक्षा करता हू कि तुम व्यवहार की बात करो।'

'व्यवहार क्या है, चुल्लपिता!'

'कुमार! वज्जिसघ का व्यवहार है—गणराज्य की परिषद् मे भाग लेना और गणराज्य के शासन-सूत्र का संचालन करना।'

'चुल्लपिता! मैं जानता हू, यह हमारा परम्परागत कार्य है। पर मैं क्या करू, हिंसा और विषमता के वातावरण मे काम करने के लिए मेरे मन मे उत्साह नही है।'

कुमार के मृदु और विनम्र उत्तर से सुपार्श्व कुछ आश्वस्त हुए। उन्होने वार्ता को आगे बढाना उचित नही समझा। वे कुमार की गहराई से सोचकर फिर बात करने की सूचना दे अपने कक्ष मे चले गए।

२

स्वतन्त्रता का अभियान

मेरा मित्र साइस कालेज मे प्राध्यापक है। एक दिन उसने पूछा, 'महावीर ने मुनिधर्म की दीक्षा क्यो ली ?' इस प्रश्न का परम्परा से प्राप्त उत्तर मेरे पास था। वह मैंने बता दिया । उससे उसे सन्तोष नही हुआ। वह बोला, 'महावीर स्वय-बुद्ध थे इसलिए स्वय दीक्षित हो गए, यह उत्तर बुद्धि को मान्य नही है। कोई कार्य है तो उसका कारण होना ही चाहिए।'

उसके तर्क ने मुझे प्रभावित किया। मैं थोडे गहरे मे उतरा। तत्काल भगवान् अरिष्टनेमि की घटना बिजली की भाति मेरे मस्तिष्क मे कौंध गई। अरिष्टनेमि की बारात द्वारका से चली और मथुरा के परिसर मे पहुंची। वहा उन्होने एक करुण चीत्कार सुनी। उन्होने अपने सारथी से पूछा, 'ये इतने पशु किसलिए बाडो और पिंजडो मे एकत्र किए गए है ?'

'बारात को भात देने के लिए।'

अरिष्टनेमि का दिल करुणा से भर गया। उन्होने कहा, 'एक का घर बने और इतने निरीह जीवो के घर उजडें, यह नही हो सकता।' वे तत्काल वापस मुड गए। अहिंसा के राजपथ पर एक क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व अवतीर्ण हो गया।

मैं प्रागैतिहासिक काल के धुधले-से इतिहास के आलोक मे आ गया। वहां मैंने देखा—राजकुमार पार्श्व एक तपस्वी के सामने खड़े है। तपस्वी पचाग्नि तप की साधना कर रहा है। राजकुमार ने अपने कर्मकरो से एक जलते हुए काष्ठ को चीरने के लिए कहा। एक कर्मकर ने उस काष्ठ को चीरा। उसमे एक अर्धदग्ध सांप का जोडा निकला। इस घटना ने राजकुमार पार्श्व के अन्त.करण को झकझोर दिया। उनका अहिंसक अभियान प्रारम्भ हो गया।

क्या महावीर का अन्त:स्थल किसी घटना से आन्दोलित नही हुआ है ? इस प्रश्न से मेरा मन बहुत दिनों तक आलोड़ित होता रहा। आखिर मुझे इस प्रश्न का

उत्तर मिल गया।

भगवान् महावीर महाराज सिद्धार्थ के पुत्र थे। सिद्धार्थ वज्जिसंघ-गणतंत्र के एक शासक थे। एक शासक के पुत्र होने के कारण वे वैभवपूर्ण वातावरण में पले-पुसे थे। उन्हें गरीबी, विषमता और भेदभाव का अनुभव नही था और न उन्हें इस का अनुभव था कि साधारण आदमी किस प्रकार कठिनाइयों और विवशताओं का जीवन जीता है।

एक दिन राजकुमार महावीर अपने कुछ सेवको के साथ उद्यान-क्रीड़ा को जा रहे थे। राजपथ के पास एक बड़ा प्रासाद था। जैसे ही राजकुमार उसके पास गए, वैसे ही उन्हें एक करुण क्रन्दन सुनाई दिया। लगाम का इशारा पाते ही उनका घोडा ठहर गया। राजकुमार ने अपने सेवक से कहा, 'जाओ, देखो, कौन किस लिए बिलख रहा है ?'

सेवक प्रासाद के अन्दर गया। वह स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर वापस आ गया। राजकुमार ने पूछा, 'कहो, क्या बात है ?'

'कुछ नही, महाराज ! यह घरेलू मामला है।'

'तो फिर इतनी करुण चीख क्यों ?'

'गृहपति अपने दास को पीट रहा है।'

'क्या दास उसके घर का आदमी नहीं है ?'

'घर का जरूर है पर घर मे जन्मा हुआ नही है, खरीदा हुआ आदमी है।'

'क्या हमारे शासन ने यह अधिकार दे रखा है कि एक आदमी दूसरे आदमी को खरीद ले ?'

'शासन ने न केवल खरीदने का ही अधिकार दे रखा है, किन्तु क्रीत व्यक्ति को मारने तक का अधिकार भी दे रखा है।'

राजकुमार का मन उत्पीडित हो उठा। वे उद्यान-क्रीडा को गए बिना ही वापस मुड गए। अब उनके मस्तिष्क मे ये दो प्रश्न बार-बार उभरने लगे—यह कैसा शासन, जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य को खरीदने का अधिकार दे ?

यह कैसा शासन, जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य को मारने का अधिकार दे ?

उनका मन शासन के प्रति विद्रोह कर उठा। उनका मन ऐसा जीवन जीने के लिए तडप उठा, जहा शासन न हो।

महावीर को बचपन से ही सहज सन्मति प्राप्त थी। निमित्त का योग पाकर उनकी सन्मति और अधिक प्रबुद्ध हो गई। उन्होने शासन की परम्पराओं और विधि-विधानो से दूर रहकर अकेले में जीवन जीने का निश्चय कर लिया।

वर्द्धमान शासन-मुक्त जीवन जीने की तैयारी करने लगे। नंदिवर्द्धन को इसका पता लग गया। वे वर्द्धमान के पास आकर बोले, 'भैया ! इधर माता-पिता का वियोग और इधर तुम्हारा घर से अभिनिष्क्रमण ! क्या मैं दोनो वज्रपातों को सह

सकूंगा ? क्या जले पर नमक छिड़कना तुम्हारे लिए उचित होगा ? तुम ऐसा मत करो। तुम घर छोड़कर मत जाओ। यह पिता का उत्तराधिकार तुम सम्हालो। मैं तुम्हारे लिए सब कुछ करने को तैयार हूं। मेरा फिर यही अनुरोध है कि तुम घर छोड़कर मत जाओ।'[1]

'भैया ! मुझे शासन के प्रति कोई आकर्षण नहीं है। जिस शासन में मानव की दुर्दशा के लिए अवकाश है, वह मेरे लिए कथमपि आदेय नही हो सकता। मेरा मन स्वतन्त्रता के लिए तड़प रहा है। आप मुझे आज्ञा दें, जिससे मैं अपने ध्येय-पथ पर आगे बढ़ूं।'

'भैया ! तुम्हें लगता है कि शासन में खामिया हैं। वह मनुष्य को मर्यादाशील नही बनाता, किन्तु उसकी परतंत्रता की पकड़ को मजबूत करता है तो उसे स्वस्थ बनाने के लिए तुम शासन मे क्यों नहीं आते हो ?'

'भैया ! हम गणतन्त्र के शासक हैं। गणतंत्रीय शासन-पद्धति में हमे सबके मतो का सम्मान करना होता है। उसमे अकेला व्यक्ति जैसे चाहे, वैसे परिवर्तन कैसे ला सकता है ? मैं पहले अपने अन्त करण में परिवर्तन लाऊंगा। उस प्रयोग के सफल होने पर फिर मैं उसे सामाजिक स्तर पर लाने का प्रयत्न करूंगा।'

'भैया ! तुम कहते हो वह ठीक है। मैं तुम्हारे इस महान् उद्देश्य की पूर्ति मे बाधक नही बनूंगा। पर इस समय तुम्हारा घर से अभिनिष्क्रमण क्या उचित होगा ? क्या मैं इस आरोप से मुक्त रह सकूंगा कि माता-पिता के दिवंगत होते ही बड़े भाई ने छोटे भाई को घर से बाहर निकाल दिया ?'

नदिवर्द्धन का तर्क भी बलवान् था और उससे भी बलवान् थी उसके हृदय की भावना। महावीर का करुणार्द्र हृदय उनका अतिक्रमण नही कर सका।

दिन भर की थकान के बाद सूर्य अपनी रश्मियो को समेट रहा था। चरवाहे जगल मे स्वच्छन्द घूमती गायो को एकत्र कर गाव में लौट रहे थे। दूकानदार दूकानों मे बिखरी हुई वस्तुओ को समेटकर भीतर रख रहे थे। सूर्य की रश्मियों के फैलाव के साथ न जाने कितनी वस्तुए फैलती हैं और उनके सिमटने के साथ वे सिमट जाती है। सुपार्श्व और नदिवर्द्धन के साथ बिखरी हुई कुमार वर्द्धमान की बात अभी सिमट नही पा रही थी।

मधुकर पुष्प-पराग का स्पर्श पाकर ही संतुष्ट नही होता, वह उससे मधु प्राप्त कर सतुष्ट होता है। सुपार्श्व और नदिवर्द्धन दोनो अपने-अपने असतोष का आदान-प्रदान कर रहे थे। उन्हें कुमार वर्द्धमान से संतोष देने वाला मधु अभी मिला नही था।

कुमार वर्द्धमान अपने लक्ष्य पर अडिग थे, साथ-साथ अपने चाचा और

१, आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४८।

भाई की वेदना से द्रवित भी थे। वे उन्हें प्रसन्न कर अभिनिष्क्रमण करना चाहते थे। उनकी करुणा और अहिंसा मे प्रकृति सौकुमार्य का तत्त्व बहुत प्रबल था।

कुमार अपनी बात को समेटने के लिए नंदिवर्द्धन के कक्ष में आए। चाचा और भाई को मत्रणा करते देख प्रफुल्ल हो उठे। उनकी मंत्रणा का विषय मेरा अभिनिष्क्रमण ही है, यह समझते उन्हें देर नही लगी। वे दोनों को प्रणाम कर उनके पास बैठ गए।

सुपार्श्व ने वर्द्धमान के अभिनिष्क्रमण की बात छेड दी। नंदिवर्द्धन ने कहा—'चुल्लपिता ! यह अकांड वज्रपात है। इसे हम सहन नहीं कर सकते। कुमार को अपना निर्णय बदलना होगा। मैं पहले ही कुमार से यह चर्चा कर चुका हू। आज हम दोनो बैठे हैं। मैं चाहता हूं, अभी इस बात का अतिम निर्णय हो जाए।'

'भैया ! अतिम निर्णय यही है कि आप मेरे मार्ग मे अवरोध न बने,' कुमार ने बड़ी तत्परता से कहा।

नंदिवर्द्धन बोले, 'कुमार ! यह कथमपि सभव नही है। मैं जानता हू कि तुम्हारी अहिंसा तुम्हे घाव पर नमक डालने की अनुमति तो नही देगी।'

नंदिवर्द्धन ने इतना कहा कि कुमार विवश हो गए।

'मुझे निष्क्रमण करना है। इसमे मै परिवर्तन नही ला सकता। मैं महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक यात्रा प्रारम्भ कर रहा हू। इस कार्य मे मुझे आपका सहयोग चाहिए। फिर आप मुझे क्यो रोकना चाहते हैं,' कुमार ने एक ही सांस मे सारी बाते कह डाली।

नदिवर्द्धन जानते थे कि कुमार सदा के लिए यहा रुकने वाले नही हैं, इसलिए असभव आग्रह करने से कोई लाभ नही। उन्होने कहा—'कुमार ! मैं तुम्हें रोकना चाहता हू पर सदा के लिए नही।'

'फिर कब तक ?'

'मैं चाहता हूं तुम माता-पिता के शोक-समापन तक यहा रहो, फिर अभिनिष्क्रमण कर लेना।'

'शोक कब तक मनाया जाएगा ?'

'दो वर्ष तक।'[1]

'बहुत लम्बी अवधि है।'

'कुछ भी हो, इसे मान्य करना ही होगा।'

सुपार्श्व भी नदिवर्द्धन के पक्ष का समर्थन करने लगे। कुमार ने देखा, अब

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४९; आचारांगचूर्णि, पृ० ३०४।

कोई चारा नहीं है। इसे मानना पड़ेगा पर मैं अपने ढंग से मानूंगा।

कुमार ने कहा, 'एक शर्त पर मैं आपकी बात मान सकता हूं।'

'वह क्या है,' दोनों एक साथ बोल उठे।

'घर में रहकर मुझे साधक का जीवन जीने की पूर्ण स्वतंत्रता हो तो मैं दो वर्ष तक यहां रह सकता हूं, अन्यथा नहीं।'

उन्होंने कुमार की शर्त मान ली। कुमार ने उनकी बात को अपनी स्वीकृति दे दी। अभिनिष्क्रमण की चर्चा पर एक बार पटाक्षेप हो गया।

विदेह साधना

कुमार वर्द्धमान के अंतस् में स्वतंत्रता की लौ प्रदीप्त हो चुकी थी। वह इतनी उद्दाम थी कि ऐश्वर्य की हवा का प्रखर झोका भी उसे बुझा नहीं पा रहा था। कुमार घर की दीवारो मे बन्द रहकर भी मन की दीवारो का अतिक्रमण करने लगे। किसी वस्तु मे बद्ध रहकर जीने का अर्थ उनकी दृष्टि मे था स्वतन्त्रता का हनन। उन्होने स्वतन्त्रता की साधना के तीन आयाम एक साथ खोल दिए—एक था अहिंसा, दूसरा सत्य और तीसरा ब्रह्मचर्य।

अहिंसा की साधना के लिए उन्होने मैत्री का विकास किया। उनसे सूक्ष्म जीवो की हिंसा भी असभव हो गई। वे न तो सजीव अन्न खाते, न सजीव पानी पीते और न रात्रि-भोजन करते।[1]

सत्य की साधना के लिए वे ध्यान और भावना का अभ्यास करने लगे। मैं अकेला हूं—इस भावना के द्वारा उन्होंने अनासक्ति को साधा और उसके द्वारा आत्मा की उपलब्धि का द्वार खोला।[2]

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए उन्होंने अस्वाद का अभ्यास किया। आहार के सम्बन्ध मे उन्होने विविध प्रयोग किए। फलस्वरूप सरस और नीरस भोजन मे उनका समत्व सिद्ध हो गया।[3]

कुमार ने शरीर के ममत्व से मुक्ति पा ली। अब्रह्मचर्य की आग अपने आप बुझ गई।

कुमार की यह जीवनचर्या राजपरिवार को पसन्द नही थी। कभी-कभी सुपार्श्व और नंदिवर्द्धन कुमार की साधक-चर्या का हल्का-सा विरोध करते। पर कुमार पहले ही अपनी स्वतंत्रता का वचन ले चुके थे।

---

१. आयारो, ६।१।११-१५; आचारांगचूर्णि, पृ० ३०४।

२ आयारो, ६।१।११, आचारांगचूर्णि, पृ० ३०४।

३. देखें, आयारो, ६।४।

काल का चक्र अविराम गति से घूमता है। आकांक्षा की पूर्ति के क्षणों में हमें लगता है, वह जल्दी घूम गया। उसकी पूर्ति की प्रतीक्षा के क्षणों में हमें लगता है, वह कहीं रुक गया। महावीर को दो वर्ष का काल बहुत लंबा लगा। आखिर लक्ष्यपूर्ति की घड़ी आ गयी। स्वतंत्रता-सेनानी के पैर परतंत्रता के निदान की खोज में आगे बढ़ गए।[1]

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४९।

३

स्वतन्त्रता का संकल्प

मैं जब-जब यह सुनता हू कि मृगसर कृष्णा दसमी को महावीर दीक्षित हो गए, तब-तब मेरे सामने कुछ प्रश्न उभर आते हैं। क्या कोई व्यक्ति एक ही दिन मे दीक्षित हो जाता है ? क्या दीक्षा कोई आकस्मिक घटना है ? क्या वह दीर्घकालीन चिंतन-मनन का परिणाम नही है ? यदि इन प्रश्नो के लिए अवकाश है तो फिर कोई आदमी एक ही दिन मे दीक्षित कैसे हो सकता है ? इस सदर्भ मे मेरी दृष्टि उस तर्कशास्त्रीय घट पर जा टिकी जो अभी-अभी कजावा से निकाला गया है। उस पर जल की एक बूद गिरी और वह सूख गई, दूसरी गिरी और वह भी सूख गई। बूदो के गिरने और सूखने का क्रम चालू रहा। आखिरी बूंद ने घट को गीला कर दिया। मैंने देखा घट की आर्द्रता आखिरी बूद की निष्पत्ति नही है, वह दीर्घकालीन बिन्दुपात की निष्पत्ति है। इसी तथ्य के परिपार्श्व में मैंने देखा, दीक्षा किसी एक दिन की निष्पत्ति नही है। वह दीर्घकालीन चिन्तन-मनन और अभ्यास की निष्पत्ति है।

महावीर ने दीर्घकाल तक उस समय के प्रसिद्ध वादों—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद—का सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन किया। उनकी दीक्षा उसी की निष्पत्ति है।

महावीर घर से अभिनिष्क्रमण कर क्षत्रियकुंडपुर के बाहर वाले उद्यान मे चले गए। यह स्वतंत्रता का पहला चरण था। घर व्यक्ति को एक सीमा देता है। स्वतत्रता का अन्वेषी इस सीमा को तोड, अखण्ड भूमि और अखण्ड आकाश को अपना घर बना लेता है।

स्वतंत्रता का दूसरा चरण था—परिवार से मुक्ति। परिवार व्यक्ति को एक सीमा में बांधता है। स्वतत्रता का अन्वेषी इस सीमा को तोड़ संपूर्ण प्राणी-जगत् को अपना परिवार बना लेता है।

स्वतन्त्रता का तीसरा चरण था—वैभव का विसर्जन। वैभव व्यक्ति को दूसरो से विभक्त करता है। स्वतंत्रता का अन्वेषी उसका विसर्जन कर मानव-जाति के साथ एकता स्थापित कर लेता है।

प्रबुद्ध मेरा अभिन्न मित्र है। वह स्वतंत्रता के लिए विसर्जन को प्राथमिकता देने के पक्ष मे नही है। उसका कहना है कि भीतरी बन्धन के टूटने पर बाहरी बधन हो या न हो, कोई अन्तर नहीं आता और भीतरी बंधन के अस्तित्व में बाहरी बधन हो या न हो, कोई अन्तर नही आता। उसने अपने पक्ष की पुष्टि मे कहा—'महावीर ने पहले भीतर की ग्रथियो को खोला था, फिर तुम बाहरी ग्रथियो के खुलने को प्राथमिकता क्यो देते हो ? उसने अपनी स्थापना के समर्थन मे आचारांग सूत्र की एक पहेली भी प्रस्तुत कर दी—'स्वतत्रता का अनुभव गांव मे भी नही होता, जगल में भी नही होता। वह गांव में भी हो सकता है, जगल मे भी हो सकता है।'

उसके लम्बे प्रवचन को विराम देते हुए मैंने पूछा, 'मित्र ! पहले यह तो बताओ वह भीतरी बधन क्या है ?'

'अहंकार और ममकार।'

'महावीर ने पहले इनका विसर्जन किया, फिर घर का। तुम्हारे कहने का अभिप्राय यही है न ?'

'जी हां।'

'अहंकार और ममकार का विसर्जन एक मानसिक घटना है। स्वतंत्रता की खोज मे उसकी प्राथमिकता है। मैं इससे असहमत नही हूं। किन्तु मेरे मित्र ! बाह्य जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए क्या बाहरी सीमाओं का विसर्जन अनिवार्य नही है ? मानसिक जगत् में घटित होने वाली घटना को मैं कैसे देख सकता हू ? उस घटना से मेरा सीधा सम्पर्क हो जाता है जो बाह्य जगत् मे घटित होती है। मैंने महावीर के विसर्जन को प्राथमिकता इसलिए दी है कि वह बाह्य जगत् में घटित होने वाली घटना है। उसने समूचे लोक को आश्वस्त कर दिया कि महावीर स्वतंत्रता की खोज के लिए घर से निकल पड़े हैं। उनका अभिनिष्क्रमण समूची मानव-जाति के लिए प्रकाश-स्तम्भ होगा।'

'क्या गृहवासी मनुष्य स्वतंत्रता का अनुभव नहीं कर सकता ?'

'मैं यह कब कहता हूं कि नहीं कर सकता। मैं यह कहना चाहता हूं कि जो व्यक्ति स्वतत्रता की लौ को अखंड रखना चाहता है, उसे एक घर का विसर्जन करना ही होगा। वह विसर्जन, मेरी दृष्टि में, सब घरों को अपना घर बना लेने की प्रक्रिया है।'

'तुम महावीर को एकांगिता के आदर्श में क्यों प्रतिबिम्बित कर रहे हो, देव !'

'मैं इस आरोप को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हूं। मैंने एक क्षण के

लिए भी यह नहीं कहा कि गृहवासी मनुष्य स्वतंत्रता की खोज और उसका अनुभव नहीं कर सकता। मैं उन लोगों के लिए घर का विसर्जन आवश्यक मानता हूं, जो सबके साथ घुल-मिलकर उन्हें स्वतंत्रता का देय देना चाहते हैं। जहां तक मैं समझ पाया हूं, महावीर ने इसीलिए स्वतंत्रता के संकल्प की सार्वजनिक रूप से घोषणा की थी।'

'वह घोषणा क्या थी?'

'महावीर ने ज्ञातखंड उद्यान मे वैशाली के हजारो-हजारो लोगो के सामने यह घोषणा की—आज से मेरे लिए वे सब कार्य अकरणीय हैं, जो पाप हैं।'[1]

'पाप आन्तरिक ग्रंथि है। महावीर ने उसका आचरण न करने की घोषणा की। इसमे घर के विसर्जन की बात कहा है?'

'पाप को तुम एक रटी-रटाई भाषा मे क्यों लेते हो? क्या परतंत्रता पाप नहो है? वह सबसे बडा पाप है और इसलिए है कि वह सब पापो की जड़ है। महावीर की घोषणा का हृदय यह है—'मैं ऐसा कोई कार्य नही करूंगा जो मेरी स्वतत्रता के लिए बाधा बने।' महावीर ने स्वतत्रता का अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् यह कभी नही कहा कि सब आदमी घर छोड़कर जंगल में चले जाए। उन्होने उन लोगों के लिए इसका प्रतिपादन किया जो सब सीमाओ से मुक्त स्वतत्रता का अनुभव करना चाहते हैं।'

'महावीर ने केवल घर का ही विसर्जन नहीं किया, धर्म-सम्प्रदाय का भी विसर्जन किया था। भगवान् पार्श्व का धर्म-सम्प्रदाय उन्हे परम्परा से प्राप्त था, फिर भी वे उसमे दीक्षित नही हुए। महावीर ने दीक्षित होते ही सकल्प किया—मेरी स्वतत्रता मे बाधा डालने वाली जो भी परिस्थितिया उत्पन्न होंगी, उनका मैं सामना करूगा, उनके सामने कभी नही झुकूगा। मुझे अपने शरीर का विसर्जन मान्य है, पर परतत्रता का वरण मान्य नही होगा।'[2]

प्रबुद्ध अनन्त की ओर टकटकी लगाए देख रहा था। वह जानता था कि शून्य को भरने के लिए महाशून्य से बढ़कर कोई सहारा नही है।

---

1 आयारचूला, 15।32।
2 आयारचूला, 15।34।

४

पुरुषार्थ का प्रदीप

एक विद्यार्थी बहुत प्रतिभाशाली है। उसने पूछा, 'मनुष्य के जीवन का उद्देश्य क्या है ?'

मैंने कहा—'उद्देश्य जीवन के साथ नही आता। आदमी समझदार होने के बाद अपने जीवन का उद्देश्य निश्चित करता है। भिन्न-भिन्न रुचि के लोग है और उनके भिन्न-भिन्न उद्देश्य हैं।'

विद्यार्थी बोला, 'इन सामयिक उद्देश्यो के बारे मे मुझे जिज्ञासा नही है। मेरी जिज्ञासा उस उद्देश्य के बारे मे है जो अंतिम है, स्थायी है और सबके लिए समान है।'

क्षण भर अन्तर् के आलोक मे पहुचने के पश्चात् मैंने कहा, 'वह उद्देश्य है स्वतंत्रता।'

यह उत्तर मेरे अन्तस् का उत्तर था। उसने तत्काल इसे स्वीकार कर लिया। फिर भी मुझे अपने उत्तर की पुष्टि किए बिना सतोष कैसे हो सकता था ? मैं बोला, 'देखा, तोता पिंजड़े से मुक्त होकर मुक्त आकाश में विहरण करना चाहता है। शेर को क्या पिंजडा पसन्द है ? हाथी को जगल जितना पसन्द है, उतना प्रासाद पसन्द नही। ये सब स्वतंत्रता की अदम्य और शाश्वत ज्योति के ही स्फुलिंग हैं।' महर्षि मनु ने ठीक कहा है, 'परतत्रता मे जो कुछ घटित होता है, वह सब दुःख है। स्वतत्रता मे जो कुछ घटित होता है, वह सब सुख है।'

स्वतत्रता की शाश्वत ज्योति पर पड़ी हुई भस्मराशि को दूर करने के लिए महावीर अब आगे बढ़े। उन्होंने अपने साथ आए हुए सब लोगों को विसर्जित कर दिया।

इस प्रसंग मे मुझे राम के वनवास-गमन की घटना की स्मृति हो रही है। दोनो घटनाओं मे पूर्ण सदृशता नही है, फिर भी अभिन्नता के अंश पर्याप्त हैं। राम

घर को छोड़ अज्ञात की ओर चले जा रहे हैं। उनके साथ लक्ष्मण हैं, सीता है और धनुष है। महावीर भी घर को छोड़ अज्ञात की ओर चले जा रहे हैं। उनके साथ न कोई पुरुष है, न कोई स्त्री है और न कोई शस्त्र। दोनों के सामने लक्ष्य है—स्वतंत्रता की दिशा को आलोक से भर देना। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए दोनो ने युद्ध किए हैं और शत्रु-वर्ग का दमन किया है युद्ध और दमन की भूमिका दोनो की भिन्न है। राम के शत्रु हैं—भद्र मनुष्यों की स्वतंत्रता का अपहरण करने वाले दस्यु और महावीर के शत्रु हैं—आत्मा की स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले संस्कार। राम ने उनका दमन किया धनुष से और महावीर ने उनका दमन किया ध्यान और तपस्या से। राम कर्मवीर हैं और महावीर धर्मवीर हैं। ये दोनो भारतीय संस्कृति के महारथ के ऐसे दो चक्र हैं, जिनसे उसे निरतर गति मिली है और मिल सकती है।

महावीर अपनी जन्मभूमि से प्रस्थान कर कर्मारग्राम (वर्तमान कामनछपरा) पहुचे। उन्हे खाने-पीने की कोई चिंता नहीं थी। दीक्षा-स्वीकार के प्रथम दिन वे उपवासी थे और आज दीक्षा के प्रथम दिन भी वे उपवासी हैं। स्थान के प्रति उनकी कोई भी आसक्ति नही है। सुख-सुविधा के लिए कोई आकर्षण नही है। उनके सामने एक ही प्रश्न है और वह है परतन्त्रता के निदान की खोज।

महावीर गाव के बाहर जगल के एक पार्श्व मे खडे हैं।[1] वे ध्यान मे लीन हैं। उनके चक्षु नासाग्र पर टिके हुए है। दोनो हाथ घुटनों की ओर झुके हुए हैं। उनकी स्थिरता को देख दूर से आने वालो को स्तम्भ की अवस्थिति का प्रतिभास हो रहा है।

एक ग्वाला अपने बैलो के साथ घर को लौट रहा था। उसने महावीर को जगल मे खड़े हुए देखा। उसने बैल वही छोड़ दिए। वह अपने घर चला गया। महावीर सत्य की खोज मे खोए हुए थे। वे अन्तर् जगत् मे इतने तन्मय थे कि उन्हें बाहर की घटना का कोई आभास ही नहीं हुआ। बैल चरते-चरते जंगल मे आगे चले गए। ग्वाला घर का काम निपटाकर वापस आया। उसने देखा वहा बैल नही हैं। उसने पूछा, 'मेरे बैल कहा हैं?'

महावीर ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नही दिया। वे अपने अन्तर् के प्रश्नो का उत्तर देने मे इतने लीन थे कि उन्होने ग्वाले का प्रश्न सुना ही नही, फिर उत्तर कैसे देते?

ग्वाले ने सोचा इन्हें बैलों का पता नही है। वह उन्हें खोजने के लिए जंगल की ओर चल पड़ा। सूरज पश्चिम की घाटियो के पार पहुच चुका था। रात ने अपनी विशाल बाहें फैला दीं। तमस् ने भूमि के मुंह पर श्यामल घूंघट डाल दिया।

---

१. साधना का पहला वर्ष। स्थान—कर्मारग्राम।

ग्वाला बैलो को खोजता रहा, पर उनका कोई पता नहीं चला। वह अपने खेत में चला गया।

प्रकाश ने फिर तमस् को चुनौती दी। सूर्य उसकी सहायता के लिए आ खड़ा हुआ। दिन ने उसकी अगवानी में किए सारे द्वार खोल दिए। तमस् के साथ-साथ नींद का भी आसन डोल उठा। ग्वाला जागा। वह नित्यकर्म किए बिना ही बैलों की खोज में निकल गया। वह घूमता-घूमता फिर वहीं पहुंचा, जहां महावीर ध्यान की मुद्रा में गिरिराज की भांति अप्रकम्प खड़े हैं। उसने देखा—बैल महावीर के आस-पास चर रहे हैं। रात की थकान, असफलता और महावीर के आस-पास बैलों की उपस्थिति ने उसके मन मे क्रोध की आग सुलगा दी। उसके मन का संदेह इस कल्पना के तट पर पहुच गया कि ये मुनि बैलो को हथियाना चाहते हैं। इसीलिए मेरे पूछने पर ये मौन रहे। उनके बारे मे मुझे कुछ भी नही बताया। वह अपने आवेग को रोक नही सका। वह जैसे ही रस्सी को हाथ मे ले महावीर को मारने दौड़ा,[1] वैसे ही घोड़ो के पैरों की आहट ने उसे चौंका दिया। महाराज नंदिवर्द्धन उस दृश्य को देख स्तब्ध रह गए। महाराज ने ग्वाले को महावीर का परिचय दिया। वह अपनी मूर्खता पर पछताता हुआ वापस चला गया।

महावीर की ध्यान प्रतिमा सपन्न हुई। महाराज नदवर्द्धन सामने आकर खड़े हो गए। बोले, 'भन्ते! आप अकेले हैं। जंगल में ध्यान करते है। आज जैसी घटना और भी घटित हो सकती है। आप मुझे अनुमति दें, मैं अपने सैनिको को आपकी सेवा में रखू। वे आप पर आने वाले कष्टो का निवारण करते रहेगे।'

भगवान् गम्भीर स्वर मे बोले, 'नदिवर्द्धन! ऐसा नही हो सकता। स्वतत्रता की साधना करने वाला अपने आत्मबल के सहारे ही आगे बढता है। वह दूसरो के सहारे आगे बढने की बात सोच ही नहीं सकता।'[2]

यह घटना स्वतत्रता का पहला सोपान है। इसके दोनो पार्श्वों मे स्वावलंबन और पुरुषार्थ प्रतिध्वनित हो रहे हैं।

स्वावलबन और पुरुषार्थ—ये दोनो अस्तित्व के चक्षु हैं। ये वे चक्षु हैं, जो भीतर और बाहर—दोनो ओर समानरूप से देखते हैं। मनुष्य अस्तित्व की शृंखला की एक कड़ी है। पुरुषार्थ उसकी प्रकृति है। जिसका अस्तित्व है, वह कोई भी वस्तु क्रियाशून्य नही हो सकती। इस सत्य को तर्कशास्त्रीय भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—अस्तित्व का लक्षण है क्रियाकारित्व। जिसमें क्रियाकारित्व नही होता, वह आकाशकुसुम की भांति असत् होता है। मनुष्य सत् है, इसलिए पुरुषार्थ उसके पैर और स्वावलंबन उसकी गति है।

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६८-२७०।

२ देखें—आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७०।

५

असंग्रह का वातायन : अभय का उच्छ्वास

एक दिन मैं सूक्ष्म लोक में विहार कर रहा था। अकस्मात् शरीर-चेतना से सम्पर्क स्थापित हो गया। मैंने पूछा, 'शरीर धर्म का आद्य साधन है'—यह तुम्हारी स्वयं की अनुभूति है या दूसरों की अनुभूति का शब्दावतरण ?'

'क्या इसमे आपको सचाई का भास नहीं होता ?'

'मुझे यह अपूर्ण सत्य लग रहा है।'

'वाणी मे उतरा हुआ सत्य अपूर्ण ही होगा। उसमे आप पूर्णता की खोज क्यों कर रहे हैं ?'

'मनुष्य-लोक की समस्या से सम्भवतः तुम अपरिचित हो। शरीर की प्रतिष्ठा के साथ स्वार्थ और व्यक्तिवाद प्रतिष्ठित हो गए हैं। इस समस्या के समाधान के लिए पूर्णता की खोज क्या अपेक्षित नहीं है ? तुम्हारी अनुभूति का मूल्य इस सत्य के संदर्भ मे ही हो सकता है—शरीर अधर्म का आद्य साधन है।'

'यह कैसे ?'

'अधर्म का मूल आसक्ति है, मूर्च्छा है। उसका प्रारम्भ शरीर से होता है। फिर वह दूसरों तक पहुंचती है।'

मुझे प्रतीत हुआ कि शरीर-चेतना मेरी गवेषणा का अनुमोदन कर रही है, फिर भी मैंने अपनी उपलब्धि की पुष्टि मे कुछ कह दिया—'भगवान महावीर ने सत्य का साक्षात्कार करने पर कहा, 'चेतन और देह की पृथक्ता का बोध हुए बिना दृष्टिकोण सम्यक् नही होता।'

सांख्य-दर्शन का अभिमत है—'विवेकख्याति प्राप्त किए बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।'

वेदान्त का सिद्धान्त है—'देहाध्यास मे मुक्ति पाए बिना साधना का पथ प्रशस्त नहीं होता।'

मैं शरीर-चेतना को भगवान् महावीर के दीक्षाकालीन परिपार्श्व में ले गया। हमने देखा—महावीर घर छोड़कर अकेले जा रहे हैं। उनके शरीर पर केवल एक वस्त्र है, वही अधोवस्त्र और वही उत्तरीय। फिर आभूषणो की बात ही क्या? वे शरीर-अलकरण को छोड चुके हैं। पैरो मे जूते नहीं हैं। भूमि और आकाश के साथ तादात्म्य होने मे कोई बाधा नही आ रही है। भोजन के लिए कोई पात्र नहीं है। पैसे का प्रश्न ही नही है। वे अकेले चले जा रहे हैं। सचमुच अकेले! विसर्जन की साधना प्रारम्भ हो चुकी है—देह के महत्त्व का विसर्जन, संस्कारो का विसर्जन, विचारो का विसर्जन और उपकरण का विसर्जन।

मैंने मृदु-मद स्वर मे कहा, 'यह शरीर धर्म का आद्य साधन है। शरीर ही धर्म का आद्य साधन नही है, वह शरीर धर्म का आद्य साधन है जो आसक्ति के नागपाश से मुक्त हो चुका है।'

हमारी यात्रा समस्वरता मे सम्पन्न हो गई। भगवान् के शरीर पर वह दिव्य दूष्य उपेक्षा के दिन बिता रहा था। न भगवान् उसका परिकर्म कर रहे थे और न वह उनकी शोभा बढ़ा रहा था।

साधना का दूसरा वर्ष और पहला मास। भगवान दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला को जा रहे थे। दोनो सन्निवेशो के बीच मे दो नदिया बह रही थी—सुवर्णबालुका और रूप्यबालुका। सुवर्णबालुका के किनारे पर कटीली झाड़िया थी। भगवान् उनके पास होकर गुजर रहे थे। भगवान् के शरीर पर पडा हुआ वस्त्र काटो मे उलझ गया। भगवान् रुके नही, वह शरीर से उतर नीचे गिर गया। भगवान् ने उस पर एक दृष्टि डाली और उनके चरण आगे बढ गए।

भगवान् के पास अपना बताने के लिए केवल शरीर था और वास्तव मे उनका अपना था चैतन्य। वह चैतन्य जिसके दोनो पार्श्वों मे निरन्तर प्रवाहित हो रहे हैं दो निर्झर। एक का नाम है आनन्द और दूसरे का नाम है वीर्य।

पहले शरीर के साथ प्रेम का सम्बन्ध था। अब उसके साथ विनिमय का सम्बन्ध है। पहले उधार का व्यापार चल रहा था। अब नकद का व्यापार चल रहा है। भगवान् का अधिकाश समय ध्यान मे बीतता है। वे बहुत कम खाते हैं, उतना-सा खाते हैं जिससे यह गाडी चलती रहे।

शरीर के साथ उनके सम्बन्ध बहुत स्वस्थ थे। वे उसे आवश्यक पोषण देते थे और वह उन्हे आवश्यक शक्ति देता था। वे उसे अनावश्यक पोषण नहीं देते थे और वह उन्हे अनावश्यक (विकारक, उत्तेजक या उन्मादक) शक्ति नही देता था।

भगवान् का अपना कोई घर नहीं था। उनका अधिकतम आवास शून्यगृह, देवालय, उद्यान और अरण्य में होता था। कभी-कभी श्मशान मे भी रहते थे।[1]

1 आयारो ९।२।२,३।

साधना के प्रथम वर्ष में वे कोल्लाक सन्निवेश से मोराक सन्निवेश पहुंचे। उसके बहिर्भाग में घुमक्कड़ तापसों का आश्रम था। वे वहां गए। आश्रम का कुलपति भगवान् के पिता सिद्धार्थ का मित्र था। वह भगवान् को पहचानता था। एक तापस ने भगवान् को आश्रम मे आते हुए देखा। उसने कुलपति को सूचना दी। वह अपने साधना-कुटीर से बाहर आया। उसने महावीर को पहचान लिया। वह आतिथ्य के लिए सामने गया। दोनों ने एक-दूसरे का अभिवादन किया। कुलपति के निवेदन पर महावीर एक दिन वहीं रहे। दूसरे दिन वे आगे के लिए प्रस्थान करने लगे। कुलपति ने कहा—'मुनिप्रवर! यह आश्रम आपका ही है। आप इसमे निःसकोच भाव से रहे। अभी आप प्रस्थान के लिए प्रस्तुत हैं। मैं आपकी इच्छा मे विघ्न उपस्थित नहीं करूंगा। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप इस वर्ष का वर्षावास यहीं बिताएं।'

महावीर वहां से चले। कई महीनों तक आसपास के प्रदेश में घूमे। आश्रम से बंधकर गए थे, अत: वर्षावास के प्रारम्भ में पुन वहीं लौट आए। इसे आश्चर्य ही मानना होगा कि अपनी धुन मे अलख जगाने वाला एक स्वतंत्रता-प्रेमी साधक कुलपति के बधन में बंध गया।

कुलपति ने महावीर को एक झोंपड़ी दे दी। वे वहां रहने लगे। उनके सामने एक ही कार्य था और वह था ध्यान—भीतर की गहराइयो मे गोते लगाना और सस्कारो की परतो के नीचे दबे हुए अस्तित्व का साक्षात्कार करना। वे अपनी झोंपडी की ओर भी ध्यान नही देते तब आवासीय झोपड़ी की ओर ध्यान देने की उनसे आशा ही कैसे की जा सकती थी? महावीर की यह उदासीनता झोपड़ी के अधिकारी तापस को खलने लगी। उसने महावीर से अनुरोध किया, 'आप झोपड़ी की सार-सभाल किया करें।'

समय का चरण आगे बढ़ा। बादल आकाश मे घिर गए। रिमझिम-रिमझिम बूदें गिरने लगी। ग्रीष्म ने अपना मुह वर्षा के अवगुंठन से ढक लिया। उसके द्वारा पुरस्कृत ताप शीत में बदल गया। भूमि के कण-कण मे रोमांच हो आया। उसका हरित परिधान बरबस आखो को अपनी ओर खीचने लगा।

गाए अरण्य मे चरने को आने लगीं। घास अभी बढ़ी नही थी। भूमि अभी अंकुरित ही हुई थी। क्षुधातुर गाए घास की टोह मे आश्रम की झोपड़ी तक पहुंच जाती थी। अन्य सभी तापस अपनी-अपनी झोंपड़ी की रक्षा करते थे। गाएं उस झोंपड़ी पर लपकती, जिसमें महावीर ठहरे हुए थे। वे उसके छप्पर की घास खा जाती। तापस ने कुलपति से निवेदन किया—'मेरी झोपड़ी के छप्पर की घास गाए खा जाती हैं। मेरे अनुरोध करने पर भी महावीर उसकी रक्षा नहीं करते। अब मुझे क्या करना चाहिए?' उसके मन में रोष और संकोच—दोनों थे।

कुलपति अवसर देख महावीर के पास आया और बड़ी धृति के साथ बोला—

'मुनिप्रवर ! निम्नस्तर की चेतना वाला एक पक्षी भी अपने नीड़ की रक्षा करता है। मुझे आश्चर्य है कि आप क्षत्रिय होकर अपने आश्रम की रक्षा के प्रति उदासीन हैं। क्या मैं आशा करूं कि भविष्य में मुझे फिर किसी तापस के मुंह से यह शिकायत सुनने को नहीं मिलेगी ?'

महावीर ने केवल इतना-सा कहा, 'आप आश्वस्त रहिए। अब आप तक कोई उलाहना नही आएगा।'

कुलपति प्रसन्नता के साथ अपने कुटीर में चला गया।

महावीर ने सोचा—'अभी मैं सत्य की खोज मे खोया हुआ रहता हूं। मैं अपने ध्यान को उससे हटाकर झोंपड़ी की रक्षा में केन्द्रित करूं, यह मेरे लिए सम्भव नही होगा। झोंपड़ी की घास गाएं खा जाती हैं, यह तापसो के लिए प्रीतिकर नहीं होगा। इस स्थिति मे यहां रहना क्या मेरे लिए श्रेयस्कर है ?'

इस अश्रेयस् की अनुभूति के साथ-साथ उनके पैर गतिमान हो गए। उन्होने वर्षावास के पन्द्रह दिन आश्रम में बिताए, शेष समय अस्थिकग्राम के पार्श्ववर्ती शूलपाणि यक्ष के मदिर मे बिताया।

आश्रम की घटना ने महावीर के स्वतत्रता-अभियान की दिशा मे कुछ नए आयाम खोल दिए। उनके तत्कालीन सकल्पो से यह तथ्य अभिव्यजित होता है। उन्होने आश्रम से प्रस्थान कर पाच सकल्प किए—

१. मैं अप्रीतिकर स्थान में नहीं रहूंगा।
२. प्रायः ध्यान में लीन रहूंगा।
३. प्राय: मौन रहूंगा।
४. हाथ मे भोजन करूंगा।
५. गृहस्थो का अभिवादन नही करूंगा।[1]

अन्तर्जगत् के प्रवेश का सिंहद्वार उद्घाटित हो गया। अ लौकिक मानदण्डो का भय उनकी स्वतत्रता की उपलब्धि मे बाधक नही रहा। अब शरीर, उपकरण और संस्कारो की सुरक्षा के लिए उठने वाला भय का आक्रमण निर्वीर्य हो गया।

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१, २७२।

६

भय की तमिस्रा : अभय का आलोक

भगवान् महावीर साधना के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ रहे हैं। उनका आत्मबल प्रबल और पुरुषार्थ प्रदीप्त हो रहा है। उनका पथ विघ्नों और बाधाओं से भरा है। तीखे-तीखे कांटे चुभन पैदा कर रहे हैं किन्तु वे एक क्षण के लिए भी उनसे संत्रस्त नहीं हैं।

१. साधना का पहला वर्ष चल रहा है। महावीर का आज का ध्यान-स्थल अस्थिकग्राम है। वे शूलपाणि यक्ष के मंदिर में ध्यानमुद्रा के लिए उपस्थित हैं। गांव के लोगों का मन भय से आकुल है। पुजारी भी भयभीत है। उन सबने कहा, 'मुनिप्रवर ! आप गांव में चलिए। यह भय का स्थान है। यहां रहना ठीक नहीं है। शूलपाणि यक्ष बहुत क्रूर है। जो आदमी रात को यहां ठहरता है, वह प्रातः मरा हुआ मिलता है।'

महावीर ने कहा—'मैं गांव में जा सकता हूं। पर इस सुनहले अवसर को छोड़कर मैं गांव में कैसे जाऊं ? स्वतंत्रता की साधना का पहला चरण है अभय। ध्यान-काल में इस सत्य का मुझे साक्षात् हुआ है। मैं अभय के शिखर पर आरोहण का अभियान प्रारम्भ कर चुका हूं। यह कसौटी का समय है। इससे पीछे हटना क्या उचित होगा ?'

लोगों के अपने तर्क थे और महावीर का अपना तर्क था। उनकी वेधक शक्ति अधिक थी, अतः उससे निरुत्तर हो सब लोग गांव में चले गए।

महावीर यक्ष के मंदिर में ध्यानलीन होकर खड़े हैं। जैसे-जैसे समय बीत रहा है, वैसे-वैसे रात की श्यामलता, नीरवता और उनके मन की एकाग्रता गहरी होती आ रही है।

अकस्मात् अट्टहास हुआ। वातावरण की नीरवता भंग हो गई। सारा जंगल कांप उठा। महावीर पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। कुछ क्षणों के बाद एक

हाथी आया। उसने अपने दांतो से महावीर पर तीखे प्रहार किए। पर वह महावीर को विचलित नहीं कर सका। हाथी के अदृश्य होते ही एक विषधर सर्प सामने आ गया। उसकी भयंकर फुफकार से भयभीत होकर पेड़ पर बैठी चिड़िया चहकने लग गई। उसने महावीर को काटा पर उनके मन का एक कोना भी प्रकंपित नही हुआ। यक्ष का आवेश शान्त हो गया।[1]

महावीर के जीवन मे यह घटना घटित हुई या नही, यक्ष ने उन्हें कष्ट दिया या नही, इन विकल्पो का समाधान आप मांग सकते हैं, पर मैं इनका क्या समाधान दू ? जिन ग्रन्थों के आधार पर मैं इन्हें लिख रहा हूं, वे आपके सामने है। यदि आप अन्तर्-जगत् मे मेरे साथ चलें तो मैं इनका समाधान दे सकता हू।

अब हम अन्तर्-जगत् के प्रथम द्वार मे प्रवेश कर रहे हैं। यहा विचार ही विचार हैं। अभी हम प्रवेश कर ही रहे हैं, इसलिए हमे इनकी भीड़ का सामना करना होगा। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, इनकी भीड कम होती चली जायेगी। दूसरे द्वार के निकट पहुंचते-पहुंचते वह समाप्त हो जाएगी।

अब हम दूसरे द्वार मे प्रवेश कर रहे हैं। यहा हमे सपनों की सकरी गलियों में से गुजरना होगा। आगे चलकर हम एक राजपथ पर पहुंच जाएगे।

अब हम तीसरे द्वार मे प्रवेश कर रहे हैं। ओह ! कितनी भयानक घाटिया ! कितने बीहड जगल ! ये सामने खड़े हैं भूत और प्रेत। ये जगली जानवर मारने को आ रहे हैं। ये अजगर, ये विषधर और ये बिच्छू ! कितना घोर अंधकार ! हृदय को चीरने वाला अट्टहास ! भयंकर चीत्कारें ! कितना डरावना है यह लोक ! कितनी खतरनाक है यह मंजिल !

सामने जो दीख रहा है, वह चौथा प्रवेश-द्वार है। वहा प्रकाश ही प्रकाश है, सब कुछ दिव्य ही दिव्य है। उसमे प्रवेश पाने वाला उस मंजिल पर पहुच जाता है, जहां पहुचने पर अन्यत्र कही पहुंचना शेष नही रहता। किन्तु इन खतरनाक घाटियो को पार किए बिना, इन भूत-प्रेतो और जगली जानवरो का सामना किए बिना कोई भी वहा नही पहुंच पाता।

ये द्वार और कुछ नही हैं। हमारे मन की चचलता ही द्वार हैं। उनका खुलना और कुछ नही है। हमारे मन की एकाग्रता ही उनका खुलना है। ये विचार और स्वप्न और कुछ नही हैं। हमारे संस्कारो को बाहर फेंकना ही विचार और स्वप्न हैं। ये भूत-प्रेत और जंगली जानवर और कुछ नही हैं। हमारे चिरकाल से अर्जित, छिपे हुए संस्कार का उन्मूलन ही भूत-प्रेत और जगली जानवर हैं।

भगवान् महावीर के पार्श्व मे होने वाले अट्टहास, हाथी और विषधर उन्हीं के द्वारा प्रताड़ित संस्कारो के प्रतिबिम्ब हैं। वे उन खतरनाक घाटियों को एक-

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७३, २७४।

एक कर पार कर रहे हैं। आत्म-दर्शन या सत्य का साक्षात्कार करने से पूर्व प्रत्येक साधक को ये घाटियां पार करनी होती हैं।

भगवान् बुद्ध ने भी इन घाटियों को पार किया था। वे वैशाखी पूर्णिमा को ध्यान कर रहे थे। उन्हें कुछ अशान्ति का अनुभव हुआ। उस समय उन्होंने संकल्प किया—'मैं आज बोधि प्राप्त किए बिना इस आसन से नही उठूंगा।' जैसे-जैसे उनकी एकाग्रता आगे बढ़ी, वैसे-वैसे उनके सामने भयानक आकृतियां उभरने लगीं—जंगली जानवर, अजगर और राक्षस। इन आकृतियों ने बुद्ध को काफी कष्ट दिया। उनकी धृति अविचल रही। मन शान्त हुआ। उन्हें बोधि प्राप्त हो गई।

यह परमात्मपद तक पहुंचने की आध्यात्मिक प्रक्रिया है। अतः कोई भी महान् साधक इसका अतिक्रमण नहीं कर पाता।

२. यह साधना का दूसरा वर्ष है। भगवान् महावीर दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला की ओर जा रहे हैं। उन्होंने कनकखल आश्रम के भीतर से जाने वाले मार्ग को चुना है। वे कुछ आगे बढ़े। रास्ते मे ग्वाले मिले। उन्होने कहा, 'भंते ! इधर से मत जाइए।'

'क्या यह मार्ग उत्तर वाचाला की ओर नहीं जाता ?'

'भते ! जाता है।'

'क्या यह बाहर से जाने वाले मार्ग से सीधा नहीं है ?'

'भंते ! सीधा है।'

'फिर इस मार्ग से क्यो नही जाना चाहिए मुझे ?'

'भते ! यह निरापद नही है।'

'किसका डर है इस मार्ग में ?'

'भते ! इस मार्ग के पास चंडकौशिक नाम का सांप रहता है। वह दृष्टिविष है। जो आदमी उसकी दृष्टि के सामने आ जाता है, वह भस्म हो जाता है। कृपया आप वापस चलिए।'

महावीर का मन पुलकित हो गया। वे अभय और मैत्री—दोनों की कसौटी पर अपने को कसना चाहते थे। यह अवसर सहज ही उनके हाथ आ गया। उन्होंने साधक की भाषा मे सोचा—'मूढ आत्मा जिसके प्रति विश्वस्त है, उससे अधिक दूसरा कोई भय का स्थान नही है। वह जिससे भयभीत है, उससे अधिक दूसरा कोई अभय का स्थान नही है।'

बेचारे ग्वाले देखते ही रह गए। महावीर के चरण आगे बढ़ गए।

महावीर का आज का ध्यान-स्थल देवालय का मंडप है। वही मंडप विषधर चंडकौशिक की क्रीडा-स्थली है। भगवान् मंडप के मध्य में कायोत्सर्ग की मुद्रा में खडे हैं। दोनों हाथ नीचे झूल रहे हैं। उनकी उंगलियां घुटनो को छू रही हैं।

एड़िया सटी हुई हैं। पजो के बीच मे चार अगुल का अन्तर है। अनिमेष चक्षु नासाग्र पर टिके हुए हैं। शरीर शिथिल, वाणी मौन, मद श्वास और निर्विचार मन। भगवान् ध्यानकोष्ठ मे पूर्णत· प्रवेश पा चुके है। बाह्य-जगत् और इन्द्रिय-संवेदनाओ से उनका सबन्ध विच्छिन्न हो चुका है। अब उनका विहार अन्तर्-जगत् मे हो रहा है। वह जगत् ईर्ष्या, विषाद, शोक, भय आदि मानसिक दुःखो की सबाधा और सर्दी-गर्मी, विष-शस्त्र आदि शारीरिक दु खो की सवेदना से अतीत है।

चडकौशिक जगल मे घूमकर देवालय मे आया। मडप मे प्रवेश करते ही उसने भगवान् को देखा। मडप वर्षों से निर्जन हो चुका था। उसके परिपार्श्व मे भी पैर रखने मे हर आदमी सकुचाता था। फिर उसके भीतर आने और खडे रहने का प्रश्न ही क्या ? चडकौशिक ने आज पहली बार अपने क्रीडास्थल मे किसी मनुष्य को देखा। वह क्षणभर स्तब्ध रह गया। दूसरे ही क्षण उसका फन उठ गया। दृष्टि विष से व्याप्त हो गई। भयकर फुफकार के साथ उसने महावीर को देखा। तीसरे क्षण उसने खडे व्यक्ति के गिर जाने की कल्पना के साथ उस ओर देखा। वह देखता ही रह गया कि वह व्यक्ति अभी भी खडा है और वैसे ही खडा है जैसे पहले खडा था। उसकी विफलता ने उसमे दुगुना क्रोध भर दिया। वह कुछ पीछे हटा। फिर वेग के साथ आगे आया और विषसकुल दृष्टि से भगवान् को देखा। भगवान् पर उसका कोई असर नही हुआ। उसने तीसरी बार सूर्य के सामने देख दृष्टि को विष से भरा और वह भगवान् पर डाली। परिणाम कुछ भी नही हुआ। भगवान् अब भी पर्वत की भाति अप्रकप भाव से खडे हैं।

चडकौशिक का क्रोध सीमा पार कर गया। वह भयकर फुफकार के साथ आगे सरका। आरोप मे उछलता हुआ फन, कोप से उफनता हुआ शरीर, विष उगलती हुई आखें, असि-फलक की भाति चमचमाती जीभ—इन सबकी ऐसी समन्विति हुई कि रौद्र रस साकार हो गया।

चडकौशिक भगवान् के पैरो के पास पहुच गया। उसने सारी शक्ति लगाकर भगवान् के बाए पैर के अगूठे को डसा। विष ध्यान की शक्ति से अभिभूत हो गया। विषधर देखता ही रह गया। उसने दूसरी बार पैर को और तीसरी बार पैरो मे लिपटकर गले को डसा। उसके सब प्रयत्न विफल हो गए। क्रोध के आवेश मे वह खिन्न हो गया। बार-बार के वेग से वह थककर चूर हो गया। वह कुछ दूर जाकर भगवान् के सामने बैठ गया।

भगवान् की ध्यान-प्रतिमा सम्पन्न हुई। उन्होने देखा चडकौशिक अपने विशालकाय को समेटे हुए सामने बैठा है। भगवान् ने प्रशान्त और मैत्री से ओतप्रोत दृष्टि उस पर डाली। उसकी दृष्टि का विष धुल गया। उसके रोम-रोम मे शान्ति और सुधा व्याप्त हो गई।

यह है अहिंसा की प्रतिष्ठा और मैत्री की विजय।

ग्वाले महावीर के पीछे-पीछे आ रहे थे। उन्होने पेड पर चढ़कर दूर से सब कुछ देखा। वे आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने दूर-दूर तक यह सवाद पहुंचा दिया कि 'चडकौशिक' शान्त हो गया है। कनकखल आश्रम का मार्ग अब निरापद है। हर कोई आदमी इससे आ-जा सकता है। जनता के लिए यह बहुत ही शुभसवाद था। वह हर्षोत्फुल्ल हो गई। हजारो-हजारो आदमी वहा आए। उन्होने देखा मडप के मध्य मे एक योगी ध्यानमुद्रा मे खड़े हैं और उनके सामने विषधर प्रशान्त मुद्रा मे बैठा है। जिसका नाम सुनकर लोग भय से कापते थे, उसी विषधर के पास लोग जा रहे हैं। यह कुछ विचित्र-सा लग रहा है। उन्हें अपनी आखो पर भरोसा नही हो रहा है। भगवान् महावीर पन्द्रह दिन तक वहा रहे। उनका यह प्रवास अभय और मैत्री की कसौटी, ध्यानकोष्ठ मे बाह्य-प्रभाव-मुक्ति का प्रयोग, अहिसा की प्रतिष्ठा मे क्रूरता का मृदुता मे परिवर्तन और जनता के भय का निवारण—इन चार निष्पत्तियो के साथ सम्पन्न हुआ।[1]

३ अभी साधना का दूसरा वर्ष चल रहा है। भगवान् सुरभिपुर से थूणाक सन्निवेश की ओर जा रहे हैं। बीच में हिलोरें लेती हुई गगा बह रही है। भगवान् उसके तट पर उपस्थित हैं। सिद्धदत्त की नौका यात्रियों को उस पार ले जाने को तैयार खडी है। सिद्धदत्त भगवान् से उसमे चढने के लिए आग्रह कर रहा है। भगवान् उसमे आरूढ हो गए है।

नौका गन्तव्य की दिशा मे चल पडी। यात्री बातचीत में सलग्न है। महावीर अपने ही ध्यान मे लीन है। नौका नदी के मध्य मे पहुच गई। प्रकृति ने एक नया दृश्य उपस्थित किया। आकाश बादलो से घिर गया। बिजली कौंधने लगी। गर्जारव से सब कुछ ध्वनिमय हो गया। तूफान ने तरगो को गगनचुम्बी बना दिया। नौका डगमगाने लगी। यात्रियो के हृदय काप उठे। इस स्थिति में भी महावीर उस नौका के एक कोने मे शान्तभाव से बैठे हैं। उनका ध्यान अविचल है, मानो उन्हे प्रकृति के इस रौद्र रूप का पता ही नही।

भय, भय को उत्पन्न करता है, अभय, अभय को। सदृश की उत्पत्ति का जैविक सिद्धान्त मनुष्य की मानसिक वृत्तियों पर भी घटित होता है। महावीर के अभय ने प्रकृति की रुद्रता से भयभीत यात्रियो मे अभय का सचार कर दिया। वे उनकी अभयमुद्रा को देख शान्त हो गए। प्रकृति का आवेग भी शान्त हो गया। नौका ने यात्रियों को तट पर पहुचा दिया।[2] महावीर मृत्यु-भय की महानदी को पार कर अभय के तट पर पहुंच गए।

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७७, २७९।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८०, २८१।

७

आदिवासियों के बीच

कस्तूरी घिसने को सहन नही करती, यदि घर्षण से उसका परिमल प्रस्फुट नही होता। अगरबत्ती अपनी सुरभि से सारे वायुमण्डल को सुरभित नही कर पाती, यदि अग्निस्नान उसे मान्य नही होता। अग्निताप को सहकर सोना चमक उठता है। यह हमारी दुनिया ताप और सघर्ष की दुनिया है। इसमे वही व्यक्तित्व चमकता है, जो ताप और संघर्ष को सहता है।

भगवान् अपनी चेतना मे निखार लाने के लिए कृतसकल्प हैं। ताप और सघर्ष अनुचर की भाति उनके साथ-साथ चल रहे हैं।

भगवान् उद्यान के मडप मे खडे हैं। सामने एक तालाब है। कुछ लोग उसके जल को उलीच-उलीचकर बाहर फेंक रहे हैं। वह खाली हो गया है। यह नये जल के स्वागत की तैयारी हो रही है। पानी बरसने लगा। साझ होते-होते जलधर उमड आया। भूमि का कण-कण जलमय हो गया। नाले तेजी से बहने लगे। देखते-देखते तालाब भर गया। भगवान् के मन मे वितर्क हुआ—कुछ समय पूर्व तालाब खाली था, अब वह भर गया है। वह किससे भरा है ? जल से। वह किसके माध्यम से भरा है ? नालो के माध्यम से। यदि नाले नही होते तो तालाब कैसे भरता ? उनका चिंतन बाहर से भीतर की ओर मुड गया। उनके मन मे वितर्क हुआ—मनुष्य की चेतना का सरोवर किससे भरता है ? सस्कार से। वह किसके माध्यम से भरता है ? विचार के माध्यम से। यदि विचार नही होते तो मानवीय चेतना का सरोवर कैसे भरता ? वितर्क करते-करते वे इस बोध की भूमिका पर पहुच गए—यह सरोवर खाली हो सकता है, सस्कारो को उलीच-उलीचकर बाहर फेंकने से। यह सरोवर खाली हो सकता है, नालों को बन्द कर देने से।

भगवान् का चिन्तन गहरे-से-गहरे मे उतर रहा है। उस समय एक पर्यटक-दल उद्यान मे आ पहुचा। वह मंडप के सामने आ खडा हो गया। उसने भगवान्

को देखा। एक व्यक्ति आगे बढ़ा, भगवान् के पास आया। उसने पूछा, 'तुम कौन हो ?' भगवान् अपने चिन्तन में लीन थे। उसे कोई उत्तर नहीं मिला।

उसने फिर उदात्त स्वर मे पूछा, 'तुम कौन हो ?'

'मैं यह जानने की चेष्टा कर रहा हूं, मैं कौन हूं।'

'मैं पहेली की भाषा नही समझता। सीधी-सरल भाषा मे बताओ—तुम कौन हो ?'

'मैं भिक्षु हू।'

'यह हमारा क्रीडा-स्थल है, यहां किसलिए खड़े हो ?'

'जिसके लिए मैं भिक्षु बना हू, उसी के लिए खड़ा हूं।'

'यह स्थान तुम्हें किसने दिया है ?'

'यह किसी का नही है, इसलिए सबके द्वारा प्रदत्त है।'

'अच्छा, तुम भिक्षु हो तो हमे धर्म सुनाओ।'

'अभी मैं सत्य की खोज कर रहा हू।'

'चलो, किसी काम का नही है यह भिक्षु !'—इस आक्रोश के साथ पर्यटक-दल—आगे बढ गया।

सूर्य पश्चिम के अंचल मे चला गया। रात फिर आ गई। अन्धकार सघन हो गया। उस समय एक युगल आया। बाहर से आवाज़ दी, 'भीतर कौन है ?' कोई उत्तर नही आया। दूसरी बार फिर आवाज़ दी, 'भीतर कौन है ?' कोई उत्तर नही मिला। तीसरी बार फिर वही आवाज़ और भीतर से वही मौन। वह युगल भीतर गया। उसे मडप के कोने मे एक अस्पष्ट-सी छाया दिखाई दी। उसने निकट पहुंचकर देखा, कोई आदमी खडा है। वह क्रोधावेश से भर गया, 'भले आदमी ! तीन बार पुकारा, फिर भी नही बोलते हो !' उसने असख्य गालिया दीं और वह चला गया।[1]

भगवान् ने सोचा, 'दूसरे के स्थान मे जाकर रहना अप्रिय हो, यह आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य यह है कि शून्य-स्थान मे रहना भी अप्रिय हो जाता है। कटु वचन बोलना अप्रिय हो, यह अद्भुत नही है। अद्भुत यह है कि मौन रहना भी अप्रिय हो जाता है।'

'मुझे दूसरो के मन मे अप्रीति उपजने का निमित्त क्यो बनना चाहिए ? यह जन-संकुल क्षेत्र है। मैं कही भी चला जाऊ, लोग आ पहुचते हैं। कुछ लोग जिज्ञासा लिये आते है। मैं कम बोलता हूं, उससे वे चिढ़ जाते है। कुछ लोग एकान्त की खोज में आते हैं। मेरी उपस्थिति मे उन्हे एकान्त नही मिलता, इसलिए वे क्रुद्ध हो जाते हैं। कुछ लोग कुतूहलवश आते हैं। वे कोलाहल कर विक्षेप करते हैं।

१. आयारो, ६।२।११,१२, आचारांगचूर्णि, पृ० ३१६।

जब मैं अनिमिषदृष्टि से ध्यान करता हू, तब स्थिर विस्फारित नेत्रो को देखकर बच्चे डर जाते हैं। इस स्थिति मे क्या यह अच्छा नही होगा कि मैं आदिवासी क्षेत्रो मे चला जाऊ। वहा लोग बहुत कम हैं। वहा गाव बहुत कम हैं। पहाड़ ही पहाड हैं और जगल ही जगल। वहा न मैं किसी के लिए बाधा बनूगा और न कोई दूसरा मेरे लिए बाधा बनेगा।'

भगवान् के सकल्प और गति मे कोई दूरी नही रह गई थी। उनका पहला क्षण सकल्प का होता और दूसरा क्षण गति का। वे एक मुक्त विहग की भाति आदिवासी क्षेत्र की ओर प्रस्थित हो गए। न किसी का परामर्श लेना, न किसी की स्वीकृति लेनी और न सौंपना था किसी को पीछे का दायित्व। जो अपना था, वह था प्रदीप। उसकी अखण्ड लौ जल रही थी। बेचारा दीवट उसके साथ-साथ घूम रहा था।

महावीर आदिवासी क्षेत्रो मे कितनी बार गए? कहा घूमे? कहा रहे? कितने समय तक रहे? उन्हे वह कैसा लगा? आदिवासी लोगो ने उनके साथ कैसा व्यवहार किया? इन प्रश्नो का उत्तर पाने के लिए मैं चिरकाल से उत्सुक था। मैंने अनेक प्रयत्न किए, पर मेरी भावना की पूर्ति नही हुई। आखिर मैंने विचार-सप्रेषण का सहारा लिया। मैंने अपने प्रश्न महावीर के पास सप्रेषित कर दिए। मेरे प्रश्न उन तक पहुच गए। उन्होंने उत्तर दिए, उन्हे मैं पकड नही सका।

महावीर के अनुभवो का सकलन गौतम और सुधर्मा ने किया था, यह सोच मैंने उनके साथ सम्पर्क स्थापित किया। मेरी जिज्ञासाए उन तक पहुच गयी, पर उनके उत्तर मुझ तक नही पहुच पाए। मैंने प्रयत्न नही छोडा। तीसरी बार मैंने अपनी प्रश्न-सूची देवर्धिगणी के पास भेजी। वहा मैं सफल हो गया। देवर्धिगणी ने मुझे बताया—'महावीर ने आदिवासी क्षेत्र के अपने अनुभव गौतम और सुधर्मा को विस्तार से बताए। उन्होंने महावीर के अनुभव सूत्रशैली मे लिखे। मुझे वे जिस आकार मे प्राप्त हुए, उसी आकार मे मैंने उन्हे आगम-वाचना मे विन्यस्त कर दिया।'

'क्या आपको उनकी विस्तृत जानकारी (अर्थ-परम्परा) प्राप्त नही थी?'

'अवश्य थी।'

'फिर आपने हम लोगो के लिए सकेत भर ही क्यो छोडे?'

'इससे अधिक और क्या कर सकता था? तुम मेरी कठिनाइयो को नही समझ सकते। मैंने जितना लिपिबद्ध कराया, वह भी तत्कालीन वातावरण मे कम नही था।'

मैं कठिनाइयो के विस्तार मे गए बिना अपने प्रस्तुत विषय पर आ गया। मैंने कहा, 'मैं आपसे कुछ प्रश्नो का समाधान पाने की आशा कर सकता हू?'

'क्यो नही ?'

मैंने एक-एक कर अपने प्रश्न प्रस्तुत किए। मेरा पहला प्रश्न था, 'महावीर आदिवासी क्षेत्रो मे कितनी बार गए ?'

'दो बार गए।'

'किस समय ?'

'पहली बार साधना के पाचवें वर्ष में और दूसरी बार नवें वर्ष मे।'[1]

'किस प्रदेश मे घूमे ?'

'लाट देश के वज्रभूमि और सुम्हभूमि—इन दो प्रदेशों मे।'[2]

'कहा रहे ?'

'कभी पर्वत की कदराओ मे, कभी खडहरो मे और बहुत बार पेडो के नीचे।'

'तब तो उन्हे काफी कठिनाइयो का सामना करना पडा होगा ?'

'क्या पूछते हो, वह पर्वताकीर्ण प्रदेश है। वहा सर्दी, गर्मी और वर्षा—तीनो बहुत होती है।'

'क्या भगवान् तीनो ऋतुओ मे वहा रहे है ?'

'भगवान् का पहला विहार हुआ तब सर्दी का मौसम था। दूसरे विहार मे गर्मी और वर्षा—दोनो ऋतुओ ने उनका आतिथ्य किया।'

'क्या उनका पहला प्रवास दूसरे प्रवास से छोटा था ?'

'दूसरा प्रवास छह मास का था।[3] पहला प्रवास दो-तीन मास से अधिक नही रहा।'[4]

'आदिवासी लोगो का व्यवहार कैसा रहा ?'

'उस प्रदेश मे तिल नही होते थे। गाए भी बहुत कम थी। जो थी, उनके भी दूध बहुत कम होता था। वहा कपास नही होती थी। आदिवासी घास के प्रावरण ओढते-पहनते थे। उनका भोजन रूखा था—घी और तेल से रहित। वहा के किसान प्रात कालीन भोजन मे अम्लरस के साथ ठडा भात खाते थे। उसमे नमक नही होता था। मध्याह्न के भोजन मे वे रूखे चावल और मास खाते थे। इस रूक्ष भोजन के कारण वे बहुत क्रोधी थे। बात-बात पर लडते-झगडते रहते थे। गाली देना और मारना-पीटना उनके लिए सहज कर्म जैसा था।'[5] भगवान् एक गाव मे जा रहे थे। ग्रामवासी लोगो ने कहा, 'नग्न ! तुम किसलिए हमारे गांव मे जा

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६०, २६६।
२ आयारो, ६।३।२।
३. आचारांगचूर्णि, पृ० ३१६, आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६६, आचारांगवृत्ति, पत्र २८२।
४. आवश्यकचूर्णि. पूर्वभाग, पृ० २६०।
५ आचारांगचूर्णि, पृ० ३१८, ३१६।

रहे हो ? वापस चले जाओ ।' भगवान् वापस चले आए ।[1]

भगवान् एक गाव मे गए। वहा किसी ने ठहरने को स्थान नहीं दिया। वे वापस जगल मे जा पेड के नीचे ठहर गए।[2]

'आप क्षमा करेंगे, मैं बीच मे ही एक बात पूछ लेता हू—भगवान् एकान्तवास के लिए वहा गए, फिर उन्हें क्या आवश्यकता थी गाव में जाने की ?'

'भगवान् आहार-पानी लेने के लिए गाव मे जाते थे। छह मासिक प्रवास मे वे वर्षावास बिताने के लिए गाव मे गए। कही भी कोई स्थान नही मिला। उन्होने वह वर्षावास इधर-उधर घूमकर, पेडो के नीचे, बिताया।[3] कभी-कभी आदिवासी लोग रुष्ट होकर उन्हे शारीरिक यातना भी देते थे।'

'क्या उस पर्वतीय प्रदेश में भगवान् को जगली जानवरो का कष्ट नही हुआ ?'

'मुझे नही मालूम कि उन्हे सिंह-बाघ का सामना करना पड़ा या नही, किन्तु यह मुझे मालूम है कि कुत्तो ने उन्हे बहुत सताया। वहा कुत्ते बडे भयानक थे। पास मे लाठी होने पर भी वे काट लेते थे। भगवान् के पास न लाठी थी और न नालिका। उन्हे कुत्ते घेर लेते और काटने लग जाते। कुछ लोग छू-छूकर कुत्तो को बुलाते और भगवान् को काटने के लिए उन्हें इगित करते। वे भगवान् पर झपटते, तब आदिवासी लोग हर्ष से झूम उठते। कुछ लोग भले भी थे। वे वहा जाकर कुत्तो को दूर भगा देते थे।[4]

एक बार भगवान् पूर्व दिशा की ओर मुह कर खडे-खड़े सूर्य का आतप ले रहे थे। कुछ लोग आए। सामने खडे हो गए। भगवान् ने उनकी ओर नही देखा। वे चिढ गए। वे हू-हू कर भगवान् पर थूककर चले गए। भगवान् शान्त खडे रहे। वे परस्पर कहने लगे, 'अरे! यह कैसा आदमी है, थूकने पर भी क्रोध नही करता, गालिया नही देता।'

एक बोला, 'देखो, मैं अब इसे गुस्से मे लाता हू।'

वह धूल लेकर आया। भगवान् की आखे अधखुली थी। उसने भगवान् पर धूल फेंकी। भगवान् ने न आखे मूदी और न क्रोध किया। उसका प्रयत्न विफल हो गया। उसने क्रुद्ध होकर भगवान् पर मुष्टि-प्रहार किया। फिर भी भगवान् की शान्ति भग नही हुई। उसने ढेले फेके। हड्डिया फेंकी। आखिर भाले से प्रहार किया। लोग खडे-खड़े चिल्लाने लगे। भगवान् वैसे ही मौन और शान्त थे। उनकी मुद्रा से प्रसन्नता टपक रही थी। वह बोला, 'चलो, चले। यह कोई आदमी नही

---

१. आचारागचूर्णि, पृ० ३२०।
२ आयारो, ९।३।८, आचारांगचूर्णि, पृ० ३१९।
३ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९६।
४ आयारो, ९।३।३-६।

है। यदि आदमी होता तो जरूर गुस्से मे आ जाता।"[1]

एक बार भगवान् पर्वत की तलहटी मे ध्यान कर रहे थे। वे पद्मासन लगाकर बैठे थे। कुछ लोग जगल मे काम करने के लिए जा रहे थे। उन्होंने भगवान् को बैठे हुए देखा। वे इस मुद्रा मे बैठे आदमी को पहली बार देख रहे थे। वे कुतूहलवश खड़े हो गए। घटा भर खड़े रहे। भगवान् तनिक भी इधर-उधर नही डोले। वे असमजस मे पड गए। यह कौन है, कोई आदमी है या और कुछ ? एक आदमी आगे बढा। उसने जाकर धक्का दिया। भगवान् लुढक गए। भगवान् फिर पद्मासन लगा ध्यान मे स्थिर हो गए। वे भद्रप्रकृति के आदमी थे। भगवान् की प्रशान्त मुद्रा देख उनका शान्तभाव जागृत हो गया। वे भगवान् के निकट आए, पैरो मे प्रणत होकर बोले, 'हमने आपको कष्ट दिया है। आप हमे क्षमा करना।'[2]

'क्या भगवान् आदिवासी लोगो से बातचीत करते थे ?' मैंने पूछा।

देवर्द्धिगणी ने कहा, 'भगवान् बातचीत करने मे रस नही लेते थे। उनका रस सब विषयो से सिमटकर केवल सत्य की खोज मे ही केन्द्रित हो रहा था। अपरिचित चेहरा देखकर कुछ लोग भगवान् के पास आकर बैठ जाते। वे पूछते—'तुम कौन हो ?'

'मै भिक्षु हू।'

'कहा से आए हो ?'

'वैशाली से यहा आया हू।'

'यहा किसलिए आए हो ?'

'एकान्तवास के लिए।'

एक-दो प्रश्न का उत्तर दे भगवान् फिर मौन हो जाते। वे लोग आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से उन्हे देखते रहते। कुछ दूसरे लोग चले आते। वे मखौल की भाषा मे कहते—नग्न और अर्धनग्न लोगो की कैसी जोडी मिली है !'[3]

'आदिवासियो के अप्रिय व्यवहार पर भगवान् क्या सोचते थे।'

'भगवान् तत्त्वद्रष्टा थे। वे जानते थे कि मनुष्य की वृत्तियों का परिष्कार हुए बिना वह अप्रिय, अशिष्ट और उच्छृखल व्यवहार करता है। इसलिए आदिवासी लोगो के व्यवहार पर उन्हे कोई आश्चर्य नही हुआ।'

भगवान् अहिंसा के महास्रोत थे। उन्होंने अपनी वृत्तियो को मैत्री की भावना से भावित किया था। वे मनुष्य को अपनी दृष्टि से देखते थे। उनकी दृष्टि सामने वाले के व्यवहार से प्रतिबिम्बित नही होती थी। इसलिए आदिवासी लोगो के

---

१ आयारो, ९।३।१०,११; आचारांगचूर्णि, पृ० ३२०।

२ आयारो, ९।३।१२, आचारांगचूर्णि, प०३२०।

३ आचारांगचूर्णि, पृ० ३२०।

प्रति उनके मन मे वही प्रेम प्रवाहित था, जिसका प्रवाह हर प्राणी को आप्लावित किए हुए था।'

'लम्बा प्रवास और कष्टपूर्ण यात्रा—इस स्थिति मे भगवान् को कभी-कभी खिन्नता का अनुभव हुआ होगा ?'

'कभी नही। उनकी मुद्रा निरतर प्रसन्न रहती थी।'

'क्या प्रसन्नता का हेतु परिस्थिति नही है ?'

'यह मै कैसे कहू कि नही है और यह भी कैसे कहू कि वही है। जो प्रसन्नता अनुकूल परिस्थिति से प्राप्त होती है, वह प्रतिकूल परिस्थिति से ध्वस्त हो जाती है। किन्तु भावना के बल से प्राप्त प्रसन्नता परिस्थिति के वात्याचक्र से प्रताडित नही होती।'

'भते ! भगवान् ने इतने कष्ट कैसे सहे ?'

'एक आदमी समुद्र मे तैर रहा था। दूसरा तट पर खडा था। तैराक ने डुबकी लगाई। तट पर खडे आदमी ने सोचा—तैराक इतना जलभार कैसे सहता है ? वह नही जानता था कि मुक्त जल का भार नही लगता। जल-भरा घट सिर पर रखने पर भार की अनुभूति होती है। यह बन्धन की अनुभूति है। शरीर के घट मे बधी हुई चेतना को कष्ट का अनुभव होता है। ध्यान-काल मे वह समुद्र-जल की भाति बधन-मुक्त हो जाती है। फिर शरीर पर जो कुछ बीतता है, उसका अनुभव नही होता। ध्यान के तट पर खडे होकर तुम सोचते हो कि भगवान् ने इतने कष्ट कैसे सहे ?'

इस समाधान ने मुझे यथार्थ के जगत् मे पहुचा दिया। अब मेरे कानो मे ध्यान-कोष्ठ की महिमा का वह स्वर गूजने लगा—

प्रलय पवन सवलित शीत भी,
जहा चक्रमण नही कर पाता।
प्रखरपवन प्रेरित ज्वालाकुल,
प्रज्वल हुतवह नही मताता।
पूर्णलोकचारी कोलाहल,
जहा नही बाधा पहुचाता।
ध्यानकोष्ठ की उस सरक्षित,
वेदी का हू मै उद्गाता।

इस स्वर की हजारो प्रतिध्वनियो मे मेरे सब प्रश्न विलीन हो गए।

८

क्या मैं चक्रवर्ती नहीं हूं ?

पुष्य[1] उस समय का प्रसिद्ध सामुद्रिक था। उसका ज्ञान अचूक था। दूर-दूर के लोग उसके पास अपना भविष्य जानने के लिए आते थे। उसे अपनी सफलता पर गर्व था। एक दिन वह घूमता-घूमता गगा के तट पर पहुचा। उसने वहा तत्काल अकित चरणचिह्न देखे। वह आश्चर्य के सागर मे डूब गया।

'ये किसके चरण है ?' उसने मन-ही-मन इसे दो-चार बार दोहराया—'जिसके ये चरण-चिह्न है, वह कोई साधारण आदमी नही है, वह कोई साधारण राजा नही है, वह चक्रवर्ती होना चाहिए। चक्रवर्ती और अकेला, यह कैसे ? चक्रवर्ती और पदयात्री, यह कैसे ? चक्रवर्ती और नगे पैर, यह कैसे ? कही मैं स्वप्न तो नही देख रहा हू ?' वह सन्देह के सागर मे डूब गया।

वह चरण-चिह्नो के पास जाकर बैठा। गहरी तन्मयता और सूक्ष्मता से उन्हे देखा। 'मैं स्वप्न मे नही हू'—उसे अपने पर भरोसा हो गया। उसके मन मे वितर्क हुआ—यदि सामुद्रिक-शास्त्र सच्चा है और मैने श्रद्धा के साथ उसे अपने गुरु से समझा है तो निश्चित ही यह व्यक्ति चक्रवर्ती होना चाहिए। यदि यह चक्रवर्ती नही है तो सामुद्रिक-शास्त्र झूठा है। उसे मैं गगा की जल-धारा मे बहा दूगा और मैं इस निष्कर्ष पर आ जाऊगा कि मेरे गुरु ने मुझे वह शास्त्र पढाया, जिसकी प्रामाणिकता आज कसौटी पर खरी नही उतरी।

वह चरण-चिह्नो का अनुसरण करते-करते थूणाक सन्निवेश के पास पहुच गया। उसने देखा, सामने एक व्यक्ति ध्यान मुद्रा मे खडा है। ये चरण-चिह्न इसी व्यक्ति के हैं। वह भगवान् के सामने जाकर खडा हो गया। शरीर पर एक अर्थभरी दृष्टि डाली—पैर से सिर तक। वह फिर असमजस मे खो गया। इसके शरीर

---

१. साधना का दूसरा वर्ष। स्थान—थूणाक सन्निवेश।

के लक्षण बतलाते हैं कि यह चक्रवर्ती है और इसकी स्थिति से प्रकट होता है कि यह पदयात्री भिक्षु है। वह कुछ देर तक दिग्भ्रांत-सा खड़ा रहा। भगवान् ध्यान से विरत हुए। पुष्य अभिवादन कर बोला, 'भंते ! आप अकेले कैसे ?'

'इस दुनिया मे जो आता है, वह अकेला ही आता है और अकेला ही चला जाता है, दूसरा कौन साथ देता है ?'

'नही, भते ! मैं तत्त्व की चर्चा नही कर रहा हू। मैं व्यवहार की बात कर रहा हू।'

'व्यवहार की भूमिका पर मैं अकेला कहा हू ?'

'भते ! आप परिवार-विहीन होकर भी अकेले कैसे नही हैं ?'

'मेरा परिवार मेरे साथ है।'

'कहा है भते ! यही जानना चाहता हू।'

'सवर (निर्विकल्प ध्यान) मेरा पिता है। अहिंसा मेरी माता है। ब्रह्मचर्य मेरा भाई है। अनासक्ति मेरी बहन है। शाति मेरी प्रिया है। विवेक मेरा पुत्र है। क्षमा मेरा पुत्री है। उपशम मेरा घर है। सत्य मेरा मित्र-वर्ग है। मेरा पूरा परिवार निरतर मेरे साथ घूम रहा है, फिर मैं अकेला कैसे ?'

'भते ! मुझे पहेली मे मत उलझाइए। मैं अपने मन की उलझन आपके सामने रखता हू, उस पर ध्यान दें। आपके शरीर के लक्षण आपके चक्रवर्ती होने की सूचना देते हैं और आपकी चर्या साधारण व्यक्ति होने की सूचना दे रही है। मेरे सामने आज तक के अर्जित ज्ञान की सचाई का प्रश्न है, जीवन-मरण का प्रश्न है। इसे आप सतही प्रश्न मत समझिए।'

'पुष्य ! बताओ, चक्रवर्ती कौन होता है ?'

'भते ! जिसके आगे-आगे चक्र चलता है।'

'चक्रवर्ती कौन होता है ?'

'भंते ! जिसके पास बारह योजन मे फैली हुई सेना को त्राण देने वाला छत्र-रत्न होता है।'

'चक्रवर्ती कौन होता है ?'

'भते ! जिसके पास चर्मरत्न होता है, जिससे प्रात.काल बोया हुआ बीज शाम को पक जाता है।'

'पुष्य ! तुम ऊपर, नीचे, तिरछे—कही भी देखो, धर्म का चक्र मेरे आगे-आगे चल रहा है। आचार मेरा छत्ररत्न है, जो समूची मानव-जाति को एक साथ त्राण देने मे समर्थ है। भावना योग मेरा चर्मरत्न है। उसमे जिस क्षण बीज बोया जाता है, उसी क्षण वह पक जाता है। क्या मैं चक्रवर्ती नही हूं ? क्या तुम्हारे

सामुद्रिक-शास्त्र में धर्म-चक्रवर्ती का अस्तित्व नहीं है ?'

'भंते ! बहुत अच्छा। मेरा सन्देह निवृत्त हो गया है। अब मैं स्वस्थ होकर जा रहा हू।'

भगवान् राजगृह की ओर चल पड़े। पुष्य जिस दिशा से आया था उसी दिशा मे लौट गया।[1]

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८१, २८२।

९

ध्यान की व्यूह-रचना

महावीर का चक्रवर्तित्व प्रस्थापित होता जा रहा है। उनका स्वतत्रता का अभियान प्रतिदिन गतिशील हो रहा है। चक्रवर्ती दूसरो को पराजित कर स्वय विजयी होता है, दूसरों को परतत्र कर स्वय स्वतत्र होता है। धर्म का चक्रवर्ती ऐसा नही करता। उसकी विजय दूसरो की पराजय पर और उसकी स्वतत्रता दूसरो की परतत्रता पर निर्भर नही होती।

महावीर विजय प्राप्त कर रहे है—किसी व्यक्ति पर नही, किन्तु नीद पर, भूख पर, और शरीर की चचलता पर।

महावीर विजय प्राप्त कर रहे है—किसी व्यक्ति पर नही, किन्तु अह पर, ममत्व पर और मन की चचलता पर।

निद्रा-विजय

नीद जीवन का अनिवार्य अग है। महावीर को शरीर-शास्त्रीय नियम के अनुसार छह घटा नीद लेनी चाहिए। पर वे इस नियम का अतिक्रमण कर रहे है। वे महीनो तक निरतर जागते रहते है। उनके सामने एक ही कार्य है—ध्यान, ध्यान और निरतर ध्यान।

जागृति की अवस्था मे मनुष्य बाहर से जागृत और भीतर से सुप्त रहता है। तन्द्रा की अवस्था मे मनुष्य न पूर्णत. जागृत रहता है और न पूर्णत सुप्त ही। सुषुप्ति मे मनुष्य बाहर से भी सुप्त रहता है और भीतर से भी। आत्म-जागृति (तूर्या) मे मनुष्य बाहर से सुप्त और भीतर मे जागृत रहता है। इस अवस्था मे वह स्वप्न या सस्कारो का दर्शन करता है।

गाढ आत्म-जागृति मे मनुष्य बाहर से सुप्त और भीतर से जागृत रहता है। इस अवस्था मे चित्त शात और सकल्प-विकल्प से विहीन हो जाता है।

महावीर कभी आत्म-जागृति और कभी गाढ़ आत्म-जागृति की अवस्था मे चल रहे हैं। जागृति, तन्द्रा और सुषुप्ति की अवस्था को वे दीक्षित होते ही पार कर चुके हैं।

प्रबुद्ध ने पूछा—'महावीर ने साढे बारह वर्षों मे कुल मिलाकर अडतालिस मिनट नीद ली, यह माना जाता है। क्या यह सही है ?'

"मैं भगवान् के पास नही था। मैं कैसे कहू कि यह सही है और मैं पास मे नही था, इसलिए यह भी कैसे कहूं कि यह सही नही है।"

'क्या सब बातें प्रत्यक्ष देखकर ही कही जाती हैं ?'

'नही, ऐसा कोई नियम नही है।'

'तब फिर मेरे इस प्रश्न के लिए ही यह तर्क क्यो ? क्या इसे जानने का कोई आधार नही है ?'

'नही क्यो ? आचारागसूत्र का बहुत प्रामाणिक आधार है।'

'क्या उसमे लिखा है कि भगवान् ने केवल अडतालिस मिनट नीद ली ?'

'नही, उसमे ऐसा नही है।'

'तो फिर क्या है ?'

'उसमे बताया है—भगवान् प्रकाम नीद नही लेते थे, बहुत नही सोते थे। वे अधिक समय आत्मा को जागृत रखते थे।'[1]

'क्या शरीर-धारण के लिए नीद लेना जरूरी नही है ?'

'है, इसीलिए भगवान् चिर जागरण के बाद क्षणभर नीद ले लेते थे।'[2]

'क्या उन्हे नीद नही सताती ?'

'ग्रीष्म और हेमत ऋतु के दिनो में कभी-कभी नीद सताने लग जाती। एक बार रात को नीद ने आक्रमण जैसा कर दिया, तब भगवान् ने क्षण-भर नीद ली, फिर ध्यान मे आरूढ हो गए।'[3]

'नीद आने के चार कारण माने जाते हैं—थकान, एकाग्रता, शून्यता और शिथिलीकरण। भगवान् एकाग्रता और शिथिलीकरण—दोनो की साधना करते, फिर वे नीद के आक्रमण से कैसे बच पाते ?'

'भगवान् की एकाग्रता और शिथिलीकरण के नीचे आत्मोपलब्धि की तीव्र भावना सक्रिय थी। इसलिए नीद उन्हे सहज ही आक्रात नही कर पाती।'

'भगवान् ने ध्यान से नीद को जीता या उससे नीद की पूर्ति की ?'

'भगवान् खडे-खडे ध्यान करते थे। कभी-कभी टहल लेते थे। इन साधनो से

---

१ आयारो, ९।२।५।

२ आयारो, ९।२।५।

३ आचारांगचूर्णि, पृ० ३१३।

वे नीद पर विजय पा लेते थे। भगवान् बहुत कम खाते थे। कायोत्सर्ग बहुत करते थे। इसलिए उन्हे सहज ही नीद कम आती थी। सहज समाधि मे प्राप्त तृप्ति नीद की आवश्यकता को बहुत ही कम कर देती थी इसलिए पूर्ति की अपेक्षा ही नहीं रहती।'

'भगवान् के स्वप्न-दर्शन की कोई घटना ज्ञात नही है ?'

'नही, क्यो ?'

'तो मैं जानना चाहता हू।'

'भगवान् महावीर शूलपाणि यक्ष के चैत्य मे ध्यान कर रहे थे।[1] रात के पिछले पहर मे (सूर्योदय मे मुहूर्त्त भर बाकी था, उस समय) भगवान् को नीद आ गयी। उसमे उन्होने दस स्वप्न देखे—

१ ताल पिशाच पराजित हो गया है।

२. श्वेत पखवाला बडा पुस्कोकिल।

३. चित्र-विचित्र पखवाला पुस्कोकिल।

४. रत्नमय दो मालाए।

५. श्वेत गोवर्ग।

६ कुसुमित पद्मसरोवर।

७ कल्लोलित समुद्र भुजाओ से तीर्ण हो गया है।

८. तेज से प्रज्वलित सूर्य।

९. मानुषोत्तर पर्वत अपनी आतो से आवेष्टित हो गया है।

१० मेरु पर्वत की चूलिका के सिंहासन पर अपनी उपस्थिति।

—ये स्वप्न देखकर भगवान् प्रतिबुद्ध हो गए।[2]

'सस्कार-दर्शन की घटनाए क्या ज्ञात हैं ?'

'ये अनेक बार घटित हुई है। शूलपाणि यक्ष की घटना तुम सुन चुके हो। कटपूतना व्यन्तरी और सगम देव की घटना क्या सस्कार-दर्शन की घटना नही हैं ?'

साधना का पाचवां वर्ष चालू है। भगवान् ग्रामाक सन्निवेश से शालीशीर्ष आ रहे है। उसके बाहर एक उद्यान है। भगवान् उसमें आकर ध्यानस्थ हो गए है। माघ का महीना है। भयकर सर्दी पड़ रही है। ठडी हवा चल रही है। आकाश कुहासे से भरा हुआ है। सारा वातावरण कांप रहा है। हर प्राणी ऊष्मा और ताप की खोज मे है।

भगवान् का शरीर विवस्त्र है। वे आत्मबल और योगबल से उस सर्दी मे

---

१ साधना का पहला वर्ष। स्थान—अस्थिकग्राम (पूर्वनाम वर्द्धमान ग्राम)।

२ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७४।

अप्रकम्प खड़े हैं। उसी समय वहां एक व्यन्तरी आयी। उसका नाम था कटपूतना। भगवान् को देखते ही उसका क्रोध उभर गया। उसने एक परिव्राजिका का रूप धारण किया। बिखरी हुई जटा में जल भरकर उसे भगवान् पर फेंका। भगवान् इस घटना से विचलित नही हुए। इस समय भगवान् को लोकावधि (लोकवर्ती समस्त मूर्त द्रव्यो को जानने वाला अतीन्द्रिय) ज्ञान उपलब्ध हुआ।[1]

भगवान् महावीर अबाधगति से अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ रहे हैं। उनका पथ अबाध नही है। इस द्वन्द्व की दुनिया में क्या किसी का भी पथ अबाध होता है ? जिसकी मंजिल लम्बी है, उसे कही समतल मिलता है, कहीं गढे और कहीं पहाड़। पर जिसके पैर मजबूत होते हैं, उसकी गति बाधित नही होती। वह उन सबको पार कर जाता है।

साधना के आठवें वर्ष मे एक बार सस्कारों ने भयंकर तूफान का रूप धारण कर लिया। यह घटना उस समय की है जब भगवान् बहुसालक गाव के शालवन उद्यान मे ध्यान कर रहे थे। भगवान् की जागरूकता से वह तूफान थोड़े में ही शान्त हो गया।

साधना के ग्यारहवें वर्ष मे सस्कारो ने फिर भयकर आक्रमण किया। यह उसका अन्तिम प्रयत्न था। भगवान् सस्कारो पर तीव्र प्रहार कर रहे थे। इसलिए उन्होंने भी अपनी सुरक्षा मे सारी शक्ति लगा दी।

पेढाल गाव। पेढाल उद्यान। पोलास चैत्य। तीन दिन का उपवास। भगवान् शिलापट्ट पर कुछ आगे की ओर झुककर खड़े हैं। कायोत्सर्ग की मुद्रा है। ध्यान की लीनता बढ़ रही है। दोनो हाथ घुटनो को छू रहे हैं। आखे लक्ष्य पर केन्द्रित हैं। रात्रि की वेला है। चारो ओर अधकार का प्रभुत्व है।

भगवान् को अनुभव हो रहा है कि प्रलयकाल उपस्थित है। धूलि की भीषण वृष्टि हो रही है। शरीर का हर अवयव उससे भर रहा है, दब रहा है। भगवान् घबराए नही। धूलि की वर्षा शान्त हो रही है और तीक्ष्ण मुहवाली चीटिया शरीर को काट रही हैं। भगवान् फिर भी शान्त हैं।

चीटिया अपना काम पूरा कर जा रही हैं और मच्छरों की आंधी आ रही है। उनका दश इतना तीक्ष्ण है कि स्थान-स्थान पर लहू के फव्वारे छूट रहे हैं।

मच्छर गए। दीमकों का दल-बादल आया। वह गया तो बिच्छुओ की भीड़ उमड़ पड़ी। वह बिखरी, फिर आए नेवले, फिर साप, फिर चूहे, फिर हाथी और फिर बाघ। पिशाच फिर क्यों पीछे रहते ? सब बडी तेजी के साथ आए और जैसे आए, वैसे ही विफल होकर चले गए।

सस्कारों ने अकस्मात् अपनी गति बदली। क्रूरता ने करुणा की चादर ओढ़

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९२, २९३।

ली। एक ही क्षण मे भगवान् के सामने त्रिशला और सिद्धार्थ उपस्थित हो गए। वे करुण स्वर मे बोले, 'कुमार ! इस बुढापे मे हमें छोडकर तुम कहां आ गए ? चलो, एक बार फिर अपने घर की ओर। देखो, तुम्हारे बिना हमारी कैसी दयनीय दशा हो गयी है ?' उन्होने करुणा के तीखे-तीखे बाण फेंके, फिर भी भगवान् का मन विध नही पाया।

त्रिशला और सिद्धार्थ जैसे ही उस रगमच से ओझल हुए, वैसे ही एक अप्सरा वहां उपस्थित हो गई। उसके मोहक हाव-भाव, विलास और विभ्रम जल-ऊर्मी की भाति वातावरण मे हल्का-सा प्रकपन पैदा कर रहे थे। उसकी मथर गति और मद-मृदु मुस्कान वायुमडल मे मादकता भर रही थी। उसके नेउर के घूघरु बरबस सबका ध्यान अपनी ओर खीच रहे थे। किन्तु भगवान् पर उसके जादू का कोई प्रभाव नही हुआ।

और भी न जाने कितने बवडर आए और अपनी गति से चले गए। भगवान् के ध्यान का कवच इतना सुदृढ था कि वे उसे भेद नही पाए। यह नवनीत इतना गाढा था कि कोई भी आच उसे पिघाल नही पाई। सारे बादल फट गए। आकाश निरभ्र हो गया और सूरज अपनी असख्य रश्मियो को लिये हुए विजय की लालिमा से फिर प्रदीप्त हो उठा।[1]

भूख-विजय

भगवान् महावीर दीर्घ-तपस्वी कहलाते है। उन्होने बडी-बडी तपस्याए की हैं। उनका साधनाकाल साढे बारह वर्ष और एक पक्ष का है। इस अवधि मे उनकी उपवास-तालिका यह है—

- दो दिन का उपवास — बारह बार।
- तीन दिन का उपवास — दो सौ उन्नीस बार।
- पाक्षिक उपवास — बहत्तर बार।
- एक मास का उपवास — बारह बार।
- डेढ मास का उपवास — दो बार।
- दो मास का उपवास — छह बार।
- ढाई मास का उपवास — दो बार।
- तीन मास का उपवास — दो बार।
- चार मास का उपवास — नौ बार।
- पाच मास पचीस दिन का उपवास — एक बार।
- छह मास का उपवास — एक बार।

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३०४, ३०५।

- भद्रप्रतिमा—दो उपवास — एक बार।
- महाभद्रप्रतिमा—चार उपवास — एक बार।
- सर्वतोभद्रप्रतिमा—दस उपवास — एक बार।

भगवान् ने साधनाकाल मे सिर्फ तीन सौ पचास दिन भोजन किया, निरन्तर भोजन कभी नही किया। उपवासकाल मे जल कभी नही पिया। उनकी कोई भी तपस्या दो उपवास से कम नही थी।[1]

'भगवान् की साधना के दो अग हैं—उपवास और ध्यान। हमने भगवान् की उस मूर्ति का निर्माण किया है, जिसने उपवास किए थे। जिसने ध्यान किया था, उस मूर्ति के निर्माण मे हमने उपेक्षा बरती है। इसीलिए जनता के मन में भगवान् का दीर्घ-तपस्वी रूप अकित है। उनकी ध्यान-समाधि से वह परिचित नही है।'

'भगवान् इतने ध्यान-लीन थे, फिर लम्बे उपवास किसलिए किए ?'

'उन दिनो दो धाराए चल रही थी। कुछ दार्शनिक शरीर और चैतन्य में अभेद प्रस्थापित कर रहे थे। कुछ दार्शनिक उनमें भेद की प्रस्थापना कर रहे थे। महावीर भेद के सिद्धान्त को स्वीकार कर उसके प्रयोग मे लगे हुए थे। वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि स्थूल शरीर की तुलना मे सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीर की तुलना मे मन और मन की तुलना मे आत्मा की शक्ति असीम है। उनकी लम्बी तपस्या उस प्रयोग की एक धारा थी। यह माना जाता है कि मनुष्य पर्याप्त भोजन किए बिना, जल पिए बिना बहुत नही जी सकता और श्वास लिये बिना तो जी ही नही सकता। किन्तु भगवान् ने छह मास तक भोजन और जल को छोडकर यह प्रमाणित कर दिया कि आत्मा का सान्निध्य प्राप्त होने पर स्थूल शरीर की अपेक्षाए बहुत कम हो जाती हैं। जीवन मे नीद, भूख, प्यास और श्वास का स्थान गौण हो जाता है।'

'तो मैं यह समझू कि भगवान् को भूख लगनी बन्द हो गई ?'

'यह सर्वथा गलत है। वे रुग्ण नही थे, तब यह कैसे समझा जाए कि उन्हें भूख लगनी बन्द हो गई।'

'तो फिर यह समझू कि भगवान् भूख का दमन करते रहे, उसे सहते रहे ?'

'यह भी सही समझ नही है।'

'सही समझ फिर क्या है ?'

'भगवान् आत्मा के ध्यान में इतने तन्मय हो जाते थे कि उनकी भूख-प्यास की अनुभूति क्षीण हो जाती थी।'

'क्या ऐसा हो सकता है ?'

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका, पत्र १०७, १०८

'नहीं क्यो ? महर्षि पतजलि का अनुभव है कि कंठकूप मे संयम करने से भूख और प्यास निवृत्त हो जाती है।'

'कठकूप का अर्थ ?'

'जिह्वा के नीचे तन्तु हैं। तन्तु के नीचे कंठ है। कठ के नीचे कूप है।'

'संयम का अर्थ ?'

'धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनो का नाम सयम है। जो व्यक्ति कठ-कूप पर इन तीनो का प्रयोग करता है, उसे भूख और प्यास बाधित नहीं करती।'

भगवान् ने शरीर को सताने के लिए भूख-प्यास का दमन नहीं किया। उनके ध्यानबल से उसकी मात्रा कम हो गई।

स्वाद-विजय

भगवान् भोजन के विषय मे बहुत ध्यान देते थे। वे शरीर-सधारण के लिए जितना अनिवार्य होता, उतना ही खाते थे। कुछ लोग रुग्ण होने पर कम खाते हैं। भगवान् स्वस्थ थे, फिर भी कम खाते थे। उनकी ऊनोदरिका के तीन आलंबन थे—सीमित बार खाना, परिमित मात्रा मे खाना और परिमित वस्तुएं खाना।

'क्या भगवान् ने अस्वाद के प्रयोग किए थे ?'

'भगवान् जीवन के हर क्षेत्र मे समत्व का प्रयोग कर रहे थे। वह भोजन के क्षेत्र मे भी चल रहा था। उनके अस्वाद के प्रयोग समत्व के प्रयोग से भिन्न नही थे।'

'क्या वे स्वादिष्ट भोजन नही करते थे ?'

'करते थे। भगवान् दीक्षा के दूसरे दिन कर्मारग्राम से विहार कर कोल्लाग सन्निवेश पहुंचे। वहां बहुल नाम का ब्राह्मण रहता था। भगवान् उसके घर गए। उसने भगवान् को घृत-शर्करायुक्त परमान्न (खीर) का भोजन दिया।[1]

'भगवान् उत्तर वाचाला मे विहार कर रहे थे।[2] वहा नागसेन नाम का गृहपति रहता था। भगवान् उसके घर पर गए। उसने भगवान् को खीर का भोजन दिया।'[3]

'क्या वे नीरस भोजन नही लेते थे ?'

'लेते थे। भगवान् सुवर्णखल से ब्राह्मण गाव गए।[4] वह दो भागो मे विभक्त

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७० ।

२. साधना का दूसरा वर्ष ।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७९ ।

४. साधना का तीसरा वर्ष ।

था। नंद और उपनंद दोनों सगे भाई थे। एक भाग नंद का और दूसरा उपनंद का। भगवान् नंद के भाग मे भिक्षा के लिए गए। उन्हें नन्द के घर पर बासी भात मिला।'[1]

'वाणिज्यग्राम मे आनन्द नाम का गृहपति रहता था।[2] उसके एक दासी थी। उसका नाम था बहुला। वह रसोई बनाती थी। वह बासी भात को डालने के लिए बाहर आ रही थी। उस समय भगवान् वहां पहुंच गए। दासी ने भगवान् को देखा। वह दीन स्वर मे बोली, 'भंते! अभी रसोई नही बनी है। यह बासी भात है। यदि आप लेना चाहे तो लें।' भगवान् ने हाथ आगे फैलाया। दासी ने बासी भात दिया।'[3]

भगवान् की समत्व-साधना इतनी सुदृढ़ हो गई है कि अब उन्हें जैसा भी भोजन मिलता है, उसे समभाव से खा लेते हैं। उन्हे कभी सव्यजन भोजन मिलता है और कभी निर्व्यंजन। कभी ठंडा भोजन मिलता है और कभी गर्म। कभी पुराने कुल्माष, बक्कस और पुलाक जैसा नीरस भोजन मिलता है और कभी परमान्न जैसा सरस भोजन। पर इन दोनो प्रकारो मे उनकी मानसिक समता विखडित नही होती।

एक बार भगवान् ने रूक्ष भोजन का प्रयोग प्रारम्भ किया। इस प्रयोग में वे सिर्फ तीन वस्तुए खाते थे—कोदू का ओदन, बेर का चूर्ण और कुल्माष। यह प्रयोग आठ महीने तक चला।[4] भगवान् ने रसानुभूति का अधिकार रसना को दे दिया। मन उसके कार्य मे हस्तक्षेप किया करता था। उसे अधिकार-मुक्त कर दिया।

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८३, २८४।
२. साधना का ग्यारहवां वर्ष।
३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३००, ३०१।
४. आयारो, ९।४।४,५,१३, आचारांगचूर्णि, पृ० ३२२

१०

ध्यान, आसन और मौन

मैं ध्यान-कोष्ठ मे प्रवेश पा रहा था। स्थूल जगत् से मेरा सम्बन्ध विच्छिन्न हो चुका था। मेरा ध्येय था—महावीर की ध्यान-साधना का साक्षात्कार। सूक्ष्म-जगत् से सपर्क साधकर मैं आचार्य कुदकुद की सन्निधि मे पहुचा। मैंने जिज्ञासा की, 'महाप्राज्ञ ! आपने लिखा है कि जो व्यक्ति आहार-विजय, निद्रा-विजय और आसन-विजय को नही जानता, वह महावीर को नही जानता, उनके धर्म को नही जानता। क्या महावीर के धर्म मे ध्यान को कही अवकाश नही है ?'

आचार्य ने सस्मित कहा, 'यदि ध्यान के लिए अवकाश न हो तो आहार, निद्रा और आसन की विजय किसलिए ?'

'महाप्राज्ञ ! इसीलिए मेरी जिज्ञासा है कि आपने इनकी सूची मे ध्यान को स्थान न देकर क्या उसका महत्त्व कम नही किया है ?'

'नही, मैं ध्यान का महत्त्व कम कैसे कर सकता हू ?'

'तो फिर उस सूची मे ध्यान का उल्लेख क्यो नही ?'

'वह ध्यान के साधनो की सूची है। आहार, निद्रा और आसन की विजय ध्यान के लिए है। फिर उसमे ध्यान का उल्लेख मैं कैसे करता ?'

'क्या ध्यान साधन नही है ?'

'वह साधन है। और आहार, निद्रा तथा आसन-विजय साधन का साधन है।'

'यह कैसे ?'

'ध्यान आत्म-साक्षात्कार का साधन है। आहार, निद्रा और आसन का नियमन ध्यान का साधन है। भगवान् ने ध्यान की निर्बाध साधना के लिए ही इनका नियमन किया था।'

'महाप्राज्ञ ! आप अनुमति दें तो एक बात और पूछना चाहता हूं ?'

'वह क्या ?'

'आपने महावीर के ध्यान का अर्थ आत्मा को देखना किया है। क्या ध्यान का अर्थ सत्य का साक्षात्कार नहीं है ?'

'आत्म-दर्शन और सत्य-दर्शन क्या भिन्न हैं ?'

'महावीर ने चेतन और अचेतन—दो द्रव्यो का अस्तित्व प्रतिपादित किया है। सत्य-दर्शन में वे दोनो दृष्ट होते हैं। आत्म-दर्शन मे केवल चेतन ही दृष्ट होता है। फिर दोनो भिन्न कैसे नही ?'

'तुम मेरा आशय नहीं समझे। अचेतन का दर्शन उसी को होता है, जिसका चैतन्य अनावृत हो जाता है और चैतन्य का अनावरण मन को चैतन्य में विलीन करने से होता है। इसलिए मैंने महावीर के ध्यान का अर्थ—आत्मा को देखना, मन के उद्‌गम को देखना—किया है।'

मैं बहुत-बहुत कृतज्ञता ज्ञापित कर अपने अन्तःकरण मे लौट आया। मैंने सोचा, जिन लोगो के मानस मे महावीर की दीर्घतपस्विता की प्रतिमा अंकित है, उनके सामने मैं महावीर की दीर्घध्यानिता की प्रतिमा प्रस्तुत करू।

महावीर ने दीक्षित होकर पहला प्रवास कर्मारग्राम मे किया। ध्यान का पहला चरण-विन्यास वही हुआ।[1] वह कैवल्य-प्राप्ति तक स्पष्ट होता चला गया।

कुछ साधक ध्यान के विषय मे निश्चित आसनो का आग्रह रखते थे। महावीर इस विषय मे आग्रहमुक्त थे। वे शरीर को सीधा और आगे की ओर कुछ झुका हुआ रखते थे। वे कभी बैठकर ध्यान करते और कभी खडे होकर। वे अधिकतर खडे होकर ध्यान किया करते थे। वे शिथिलीकरण को ध्यान के लिए अनिवार्य मानते थे, इसलिए वे खडे हो या बैठे, कायोत्सर्ग की मुद्रा मे ही रहते थे। वे श्वास की सूक्ष्म क्रिया के अतिरिक्त अन्य सभी (शारीरिक, वाचिक और मानसिक) क्रियाओ का विसर्जन किए रहते थे।[2]

कुछ साधक ध्यान के लिए निश्चित समय का आग्रह रखते थे। महावीर इस आग्रह से मुक्त थे। वे अधिकाश समय ध्यान मे रहते थे। उन्हे न शास्त्रो का अध्ययन करना था, और न उपदेश। उन्हे करना था अनुभव या प्रत्यक्षबोध। वे दूसरो की गाए चराने वाले ग्वाले नही थे जो समूचे दिन उन्हें चराते रहे और दूध दुहने के समय उनके स्वामियो को सौंप आए। वे अपनी गाए चराते और उनका दूध दुहते थे।

महावीर सालबन और निरालबन—दोनो प्रकार का ध्यान करते थे। वे मन को एकाग्र करने के लिए दीवार का आलबन लेते थे। वे प्रहर-प्रहर तक तिर्यग्‌भित्ति

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६८।
२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३०१।

(दीवार) पर अनिमेषदृष्टि टिकाकर ध्यान करते थे। इस त्राटक-साधना से केवल उनका मन ही एकाग्र नही हुआ, उनकी आखें भी तेजस्वी हो गई। ध्यान के विकासकाल मे उनकी त्राटक-साधना (अनिमेषदृष्टि) बहुत लम्बे समय तक चलती थी।[1]

एक बार भगवान् दृढभूमि प्रदेश मे गए।[2] पेढाल नाम का गांव और पोलाश नाम का चैत्य। वहां भगवान् ने 'एकरात्रिकी प्रतिमा' की साधना की। आरंभ मे तीन दिन का उपवास किया। तीसरी रात को शरीर का व्युत्सर्ग कर खडे हो गए। दोनो पैर सटे हुए थे और हाथ पैरो से सटकर नीचे की ओर झुके हुए थे। दृष्टि का उन्मेष-निमेष बंद था। उसे किसी एक पुद्गल (बिन्दु) पर स्थिर और सब इन्द्रियो को अपने-अपने गोलको मे स्थापित कर ध्यान मे लीन हो गए।[3]

यह भय और देहाध्यास के विसर्जन की प्रकृष्ट साधना है। इसका साधक ध्यान की गहराई मे इतना खो जाता है कि उसे सस्कारो की भयानक उथल-पुथल का सामना करना पड़ता है। उस समय जो अविचल रह जाता है, वह प्रत्यक्ष अनुभव को प्राप्त करता है। जो विचलित हो जाता है वह उन्मत्त, रुग्ण या धर्म-च्युत हो जाता है। भगवान् ने इस खतरनाक शिखर पर बारह बार आरोहण किया था।

साधना का ग्यारहवां वर्ष चल रहा था। भगवान् सानुलट्ठिय गांव मे विहार कर रहे थे। वहां भगवान् ने भद्र प्रतिमा की साधना प्रारम्भ की। वे पूर्व दिशा की ओर मुह कर कायोत्सर्ग की मुद्रा मे खडे हो गए। चार प्रहर तक ध्यान की अवस्था मे खडे रहे। इसी प्रकार उन्होने उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशा की ओर अभिमुख होकर चार-चार प्रहर तक ध्यान किया।

इस प्रतिमा मे भगवान् को बहुत आनन्द का अनुभव हुआ। वे उसकी शृखला मे ही महाभद्र प्रतिमा के लिए प्रस्तुत हो गए। उसमे भगवान् ने चारो दिशाओ मे एक-एक दिन-रात तक ध्यान किया।

ध्यान की श्रेणी इतनी प्रलब हो गई कि भगवान् उसे तोड नही पाए। वे ध्यान के इसी क्रम मे सर्वतोभद्र प्रतिमा की साधना मे लग गए। चारो दिशाओ, चारो विदिशाओ, ऊर्ध्व और अध —इन दसो दिशाओ मे एक-एक दिन-रात तक ध्यान करते रहे।

भगवान् ने कुल मिलाकर सोलह दिन-रात तक निरतर ध्यान-प्रतिमा की

---

१ आयारो, ९।१।५; आचारांगचूर्णि, पृ० ३००, ३०१।
२. साधना का ग्यारहवा वर्ष।
३ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ४९८, आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३०१।

साधना की ।[1]

भगवान् ध्यान के समय ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्—तीनों को ध्येय बनाते थे। ऊर्ध्व लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए वे ऊर्ध्व-दिशापाती ध्यान करते थे। अधो लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए वे अधो-दिशापाती ध्यान करते थे। तिर्यक् लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए वे तिर्यक्-दिशापाती ध्यान करते थे।[2]

वे ध्येय का परिवर्तन भी करते रहते थे। उनके मुख्य-मुख्य ध्येय ये थे[3]—

१. ऊर्ध्वगामी, अधोगामी और तिर्यग्गामी कर्म।

२. बंधन, बंधन-हेतु और बंधन-परिणाम।

३. मोक्ष, मोक्ष-हेतु और मोक्ष-सुख।

४. सिर, नाभि और पादांगुष्ठ।

५. द्रव्य, गुण और पर्याय।

६. नित्य और अनित्य।

७. स्थूल—संपूर्ण जगत्।

८. सूक्ष्म—परमाणु।

९. प्रज्ञा के द्वारा आत्मा का निरीक्षण।

भगवान् ध्यान की मध्यावधि मे भावना का अभ्यास करते थे। उनके भाव्य-विषय ये थे—

१—एकत्व—जितने संपर्क हैं, वे सब सांयोगिक हैं। अंतिम सत्य यह है कि आत्मा अकेला है।

२—अनित्य—संयोग का अन्त वियोग मे होता है। अतः सब संयोग अनित्य हैं।

३—अशरण—अंतिम सचाई यह है कि व्यक्ति के अपने संस्कार ही उसे सुखी और दुःखी बनाते हैं। बुरे संस्कारो के प्रकट होने पर कोई भी उसे दुःखानुभूति से बचा नहीं सकता।

भगवान् ध्यान के लिए प्रायः एकान्त स्थान का चुनाव करते थे। वे ध्यान

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३००।

२. (क) दिशापाती ध्यान मे दिशा-क्रम—

१ ऐंद्री	६. वायव्या
२. आग्नेयी	७. सोमा
३. याम्या	८. ऐशानी
४. नैर्ऋती	९. विमला (ऊर्ध्व)
५. वारुणी	१० तमा (अधः)

(ख) आयारो, ९।४।१४

३. आचारांगचूर्णि, पृ० ३२४

खडे और बैठे—दोनो अवस्थाओं मे करते थे। उनके ध्यानकाल में बैठने के मुख्य आसन थे—पद्मासन, पर्यंकासन, वीरासन, गोदोहिका और उत्कटिका।[1]

भगवान् ध्यान की श्रेणी का आरोहण करते-करते उसकी उच्चतम कक्षाओ मे पहुच गए। वे लम्बे समय तक कायिक-ध्यान करते। उससे श्रान्त होने पर वाचिक और मानसिक। कभी द्रव्य का ध्यान करते, फिर उसे छोड़ पर्याय के ध्यान मे लग जाते। कभी एक शब्द का ध्यान करते, फिर उसे छोड़ दूसरे शब्द के ध्यान मे प्रवृत्त हो जाते।

भगवान् परिवर्तनयुक्त ध्येय वाले ध्यान का अभ्यास कर अपरिवर्तित ध्येय वाले ध्यान की कक्षा मे आरूढ हो गए। उस कक्षा मे वे कायिक, वाचिक या मानसिक—जिस ध्यान मे लीन हो जाते, उसी मे लीन रहते। द्रव्य या पर्याय मे से किसी एक पर स्थित हो जाते। शब्द का परिवर्तन भी नही करते। वे इस कक्षा का आरोहण कर भ्रांति की अवस्था को पार कर गए।

भगवान् की ध्यानमुद्रा अनेक ध्यानाभ्यासी व्यक्तियो को आकृष्ट करती रही है। उनमे एक आचार्य हेमचन्द्र भी है। उन्होने लिखा है—

'भगवन् ! तुम्हारी ध्यानमुद्रा—पर्यंकशायी और शिथिलीकृत शरीर तथा नासाग्र पर टिकी हुई स्थिर आखो—मे साधना का जो रहस्य है, उसकी प्रतिलिपि सबके लिए करणीय है।'

भगवान् प्राय: मौन रहने का सकल्प पहले ही कर चुके है। अब जैसे-जैसे ध्यान की गहराई मे जा रहे हैं, वैसे-वैसे उसका अर्थ स्पष्ट हो रहा है। वाक् और स्पन्दन का गहरा सम्बन्ध है। विचार की अभिव्यक्ति के लिए वाणी और वाणी के लिए मन का स्पन्दन—ये दोनो साथ-साथ चलते है। नीरव होने का अर्थ है मन का नीरव होना। भगवान् के सामने एक तर्क उभर रहा है—जिसे मैं देखता हू, वह बोलता नही है और जो बोलता है, वह मुझे दिखता नही है, फिर मैं किससे बोलू ? इस तर्क के अन्तस् मे उनका स्वर विलीन हो रहा है।

भगवान् बोलने के आवेग के वश मे नही है। बोलना उनके वश मे है। वे उचित अवसर पर उचित और सीमित शब्द ही बोलते है। वे भिक्षा की याचना और स्थान की स्वीकृति के लिए बोलते हैं। इसके सिवा किसी से नही बोलते। कोई कुछ पूछता है तो उसका सक्षिप्त उत्तर दे देते हैं। शेष सारा समय अभिव्यक्ति और सपर्क से अतीत रहता है।

---

१ आचारागचूर्णि, पृ० ३२४, आचारागवृत्ति, पत्र २८३।

११

अनुकूल उपसर्गों के अंचल में

जल कमल को उत्पन्न करता है। उसके परिमल को फैलाता है पवन। उसकी अनुभूति करता है प्राण। सब अपना-अपना काम करते है, तब एक काम निष्पन्न होता है। वह है—परिमल के अस्तित्व का बोध।

१. भगवान् दीक्षित होने को प्रस्तुत हुए। परिवार के लोगो ने उनका अभिषेक किया। फिर उनके शरीर को सुवासित किया—किसी ने दिव्य गोशीर्ष-चदन से, किसी ने सुगधि चूर्ण से और किसी ने पटवास से। भगवान् का शरीर सुगधमय हो गया।

मधुकरो को परिमल के अस्तित्व का बोध हुआ। वे पुष्पित वनराजि और कमलकोशो को छोड़ भगवान् के शरीर पर मडराने लगे। वे चारो ओर दे रहे थे परिक्रमा और कर रहे थे गुजारव। उपवन का शान्त और नीरव वातावरण ध्वनि से तरगित हो गया। मधुकर भगवान् के शरीर पर बैठे। उन्हे पराग-रस नही मिला। वे उड़कर चले गए। परिमल से आकृष्ट हो फिर आए और पराग न मिलने पर फिर उड़ गए। इस परिपाटी से सरुष्ट हो, वे भगवान् के शरीर को काटने लगे।[१]

२. भगवान् कर्मारग्राम मे गए। वहा कुछ युवक सुगधि से आसक्त हो भगवान् के पास आए। उन्होने अवसर देख भगवान् से प्रार्थना की, 'राजकुमार! आपने जिस गधचूर्ण का प्रयोग किया है, उसके निर्माण की युक्ति हमे भी बताइए।' भगवान् ने इसका उत्तर नही दिया। वे क्रुद्ध हो गालिया देने लग गए।[२]

३. भगवान् का शरीर सुगठित, सुडौल और सुन्दर था। उनके घुघराले बाल

---

१ आचारागचूर्णि, पृ० २९९, आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६८, २६९।

२ आचारागचूर्णि, पृ० ३००, आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६९।

बहुत ही आकर्षक लगते थे। उनकी आखें नीलकमल के समान विकस्वर थीं। उनके रूप-वैभव को देख अनेक रूपसिया प्रमत्त हो जाती। एक बार रात के समय भगवान् के पास तीन रूपसिया आई। एक बोली, 'कुमार! तुम्हारी स्त्री कौन है—ब्राह्मणी है या क्षत्रियाणी? वैश्य है या शूद्री?'

'कोई नही है।'

'हम बन सकती है, तुम किसे पसन्द करते हो?'

'किसी को भी नही।'

'अरे! यह कैसा युवक जो हम जैसी रूपसियो को पसन्द नही करता?'

दूसरी रूपसी आगे आकर कहने लगी—'तुम ठीक से देखो, यह पुरुष तो है न?'

तीसरी बोली—'मुझे लगता है, यह कोई नपुसक है। यदि पुरुष होता तो हमारी उपेक्षा कैसे करता?'

तीनो एक साथ कहने लगी—'कुमार! अभी युवा हो। इस यौवन को अरण्य-पुरुष की भाति व्यर्थ ही क्यो गवा रहे हो? लगता है, तुम्हे प्रकृति से रूप का वरदान मिला, पर परिवार अनुकूल नही मिला। इसीलिए तुम उसे छोड अकेले घूम रहे हो। हम तुम्हारे लिए सर्वस्व का निछावर करने को तैयार हैं। फिर यह मोम का गोला आगी से क्यो नहीं पिघल रहा है?'

तीनो के हाव-भाव, विलास और विभ्रम बढ गए। उन्होने रति-प्रणय की समग्र चेष्टाए की। पर भगवान् पर उनका कोई प्रभाव नही हुआ।[1]

भगवान् ऊर्ध्व, तिर्यक् और अध—तीनो प्रकार का ध्यान करते थे। वे ऊर्ध्व ध्यान की साधना के द्वारा काम-वासना के रस को विलीन कर चुके थे। इसलिए उद्दीपन की सामग्री मिलने पर भी उनका काम जागृत नही हुआ। चलते-चलते उनके सामने दुस्तर महानदी आ गई। पर वे ध्यान की नौका द्वारा उसे सहज ही पार कर गए।

मिट्टी का गोला आग की आच से प्रदीप्त होता है, किन्तु पिघलता नही।

४. श्यामाक वैशाली का प्रसिद्ध वीणावादक है। वह वीणा बजाने की तैयारी कर रहा है। भगवान् सिद्धार्थपुर से विहार कर वैशाली पहुच रहे हैं। श्यामाक ने भगवान् को देखकर कहा, 'देवार्य! मैं वीणा-वादन प्रारम्भ कर रहा हू। आप इधर से सहज ही चले आए हैं। यह अच्छा हुआ। कुछ ठहरिए और मेरा वीणा-वादन सुनिए। मैं आपको और भी अनेक कलाएं दिखाना चाहता हूं।' भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नही की। वे आगे बढ़ गए।

इस घटना की मीमांसा का एक कोण यह है कि भगवान् इतने नीरस हैं कि

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६६, ३१०।

वे कलाकार की कोमल भावना और सधी हुई उंगलियों के उत्क्षेप-निक्षेप की अवहेलना कर आगे बढ गए।[1] तो दूसरा कोण यह है कि भगवान् अन्तर्नाद से इतने तृप्त थे कि उन्हें वीणा-वादन की सरसता लुभा नहीं सकी।

५. श्रावस्ती की रंगशाला जनाकुल हो रही है। महाराज ने नाटक का आयोजन किया है।[2] नट-मण्डली के कौशल की सर्वत्र चर्चा है। मण्डली के मुखिया ने भगवान् को देख लिया। उसने भगवान् से रंगशाला मे आने का अनुरोध किया। भगवान् वहां जाने को सहमत नही हुए। नट ने कहा, 'क्या आप नाटक देखने को उत्सुक नही हैं ?'

'नहीं।'

'क्यो, क्या नाटक अच्छा नही लगता ?'

'अपनी-अपनी दृष्टि है।'

'क्या ललितकला के प्रति दृष्टि-भेद हो सकता है ?'

'ऐसा कुछ भी नही जिसके प्रति दृष्टि-भेद न हो सके।'

'यह अज्ञानी लोगो मे हो सकता है, पर आप तो ज्ञानी हैं।'

'ज्ञानी सत्य की खोज मे लगा रहता है। वह विश्व के कण-कण मे अभिनय का अनुभव करता है। वह अणु-अणु मे प्रकम्पन और गतिशीलता का अनुभव करता है। उसकी रसमयता इतनी व्याप्त हो जाती है कि उसके लिए नीरस जैसा कुछ रहता ही नही। अन्य सब शास्त्रो को जानने वाला क्लेश का अनुभव करता है। अध्यात्म को जानने वाला रस का अनुभव करता है। गधा चदन का भार ढोता है और भाग्यशाली मनुष्य उसकी सुरभि और शीतलता का उपभोग करता है।'

नट का सिर श्रद्धा से नत हो गया। वह प्रणाम कर रगशाला मे चला गया।

---

१. आचारांगचूर्णि, पृ० ३०३।

२. आचारांगचूर्णि, पृ० ३०३।

१२

बिम्ब और प्रतिबिम्ब

एक राजा ने पाच धर्माचार्यों को आमत्रित कर कहा, 'मैं गुरु बनाना चाहता हू। पर मेरा गुरु वह होगा जिसका आश्रम सबसे बडा है।' राजा आश्रम देखने निकला। एक आश्रम पाच एकड मे फैला था, दूसरा दस एकड मे, तीसरा बीस एकड मे और चौथा चालीस एकड मे। राजा ने चारो आश्रम देख लिये। एक आश्रम बाकी रहा। बूढा धर्म-गुरु राजा को नगर से बाहर एक पेड के नीचे ले गया। राजा के पूछने पर बताया—

'मेरा आश्रम यही है।'

'इसकी सीमा कहा तक है, महाराज ?'

'जहा तक तुम्हारी दृष्टि पहुचती है और जहा नही भी पहुचती है, वहा तक।'

उसका आश्रम सबसे बडा था। वह राजा का गुरु हो गया।

भगवान् साधना के लिए कही आश्रम बाधकर नही बैठे। वे स्वतत्रता के लिए निकले, निरतर परिव्रजन करते रहे। भूमि और आकाश—दोनो पर उनका अबाध अधिकार हो गया।

वे बाह्य जगत् मे भूमि का स्पर्श कर रहे थे और अन्तर् जगत् मे अपनी आत्मा का। वे बाह्य जगत् मे लोक-मान्यताओ का आकलन कर रहे थे और अन्तर् जगत् मे सार्वभौम सत्यो का।

उस समय लोग शकुन मे बहुत विश्वास करते थे। जो लोग सामाजिक अपराध करने के लिए जाते, वे भी शकुन देखते थे। चोर और डाकू अपशकुन होने पर न चोरी करते और न डाका डालते।

१ पूर्णकलश राढ देश का सीमान्तवर्ती गाव है। भगवान्, वहां से प्रस्थान

कर मगध में आ रहे थे।[1] दो चोर उन्हे मार्ग मे मिले। वे आदिवासी क्षेत्रो मे चोरी करने को जा रहे थे। भगवान् को देख वे क्रुद्ध हो गए। वे भगवान् के पास आए। उन्होने भगवान् को गालियां देकर क्रोध को थोड़ा शान्त किया। फिर बोले, 'नग्न और मुंड श्रमण ! आज तुमने हमारा मनोरथ निष्फल कर दिया।'

'मैंने क्या निष्फल किया ?'

'हम चोरी करने जा रहे थे, तुमने सामने आकर अपशकुन कर दिया।'

'चोरी करना कौन-सा अच्छा काम है, जिसके लिए शकुन देखना पड़े।'

'चोरी अच्छा काम नही है, चोरी अच्छा काम नही है'—इसकी पुनरावृत्ति मे दोनो भान भूल गए।

भगवान् अन्धविश्वास के प्रहार से मुक्त होकर आगे बढ गए।[2]

२. भगवान् को वैशाली मे भी अंधविश्वास का शिकार होना पडा।[3] वे लुहार के कारखाने मे ध्यान कर खडे थे। लुहार छह महीनो से बीमार था। वह स्वस्थ हुआ। अपने यन्त्रो को लेकर वह काम करने के लिए कारखाने मे आया। उसने देखा, कोई नगा भिक्षु कारखाने मे खडा है। अपशकुन का विचार बिजली की भाति उसके दिमाग मे कौंध गया। वह क्रुद्ध होकर अपने कर्मचारियो पर बरस पडा।

'इस नग्न भिक्षु को यहा ठहरने की अनुमति किसने दी ?'

'हम सबने।'

'यह मुझे पसन्द नही है।'

'हमे पसन्द है।'

'इसे निकाल दो।'

'हम नही निकालेंगे।'

'तुम निकाल दिए जाओगे।'

'यह हो सकता है।'

वहा का सामूहिक वातावरण देख लुहार मौन हो गया। वह कुछ आगे बढा। भगवान् के जैसे-जैसे निकट गया, वैसे-वैसे उसका मानस आदोलित हुआ और वह सदा के लिए शान्त हो गया।[4]

भगवान् ने अपने तीर्थंकर-काल मे अंधविश्वास के उन्मूलन का तीव्र प्रयत्न किया। क्या वह इन्ही अंधविश्वासपूर्ण घटनाओ की प्रतिक्रिया नही है ?

---

१. साधना का पांचवा वर्ष।

२ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९०

३. साधना का छठा वर्ष।

४. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ०२९२।

३. भगवान् वैशाली से विहार कर वाणिज्यग्राम जा रहे थे।[1] बीच में गंडकी नदी बह रही थी। भगवान् तट पर आकर खडे हो गए। एक नौका आई। किनारे पर लग गई। यात्री चढने लगे। भगवान् भी उसमे चढ गए। नौका चली। वह नदी पार कर तट पर पहुच गई। यात्री उतरने लगे। भगवान् भी उतरे। नाविक सब लोगो से उतराई लेने लगे। एक नाविक भगवान् के पास आया और उसने उतराई मागी। भगवान् के पास कुछ नहीं था, वे क्या देते? उसने भगवान् को रोक लिया। यात्री अपनी-अपनी दिशा मे चले गए। भगवान् वही खडे रहे।

कुछ समय बीता। नदी मे हलचल-सी हो गई। देखते-देखते नौकाओ का काफिला आ पहुचा। सैनिक उतरे। उनके मुखिया ने भगवान् को देखा। वह तुरत दौडा। भगवान् के पास आ, नमस्कार कर बोला, 'भते! मैं सखराज का भानजा हू। मेरा नाम चित्त है। मैं सखराज के साथ आपके दर्शन कर चुका हू। अभी मैं नौसैनिको को साथ ले दौत्य कार्य के लिए जा रहा हू। भते! आप धूप मे क्यो खडे हैं?'

'भूल का प्रायश्चित्त कर रहा हू।'

'भूल कैसी?'

'मैंने गडकी नदी नौका से पार की। नौका पर चढते समय मुझे नाविको की अनुमति लेनी चाहिए थी, वह नही ली।'

'इसमे भूल क्या है, सब लोग चढते ही हैं।'

'वे लोग चढते हैं, जो उतराई दे पाते है। मेरे पास देने को कुछ भी नही है और ये उतराई माग रहे हैं। इसलिए मुझे अनुमति लिये बिना नही चढना चाहिए था।'

चित्त ने सैनिक-भावमुद्रा मे नाविको की ओर देखा। वे काप उठे। भगवान् ने करुणा प्रवाहित करते हुए कहा, 'चित्त! इन्हे भयभीत मत करो। इनका कोई दोष नही है। यह मेरा ही प्रमाद है।'

भगवान् की बात सुन चित्त शान्त हो गया। उसने नाविको को सतुष्ट कर दिया। भगवान् का परिचय मिलने पर उन्हे गहरा अनुताप हुआ। भगवान् की करुणा देख वे हर्षित हो उठे। भगवान्, चित्त और नाविक—सब अपनी-अपनी दिशा मे चले गए।[2]

इस घटना ने भगवान् के सामने एक सूत्र प्रस्तुत कर दिया—'अपरिग्रही व्यक्ति दूसरे की वस्तु का उपयोग उसकी अनुमति लिए बिना न करे।'

---

१ साधना का दसवां वर्ष।

२ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९६।

१३

प्रगति के संकेत

भगवान् महावीर अभी अकेले ही विहार कर रहे थे। उनका न कोई सहायक है और न कोई शिष्य। उन जैसे समर्थ व्यक्ति को शिष्य का उपलब्ध होना कोई बडी बात नही थी। पर वे स्वतन्त्रता की अनुभूति किए बिना उसका बंधन अपने पर डालना नही चाहते थे।

१. भगवान् पार्श्व की शिष्य-परम्परा अभी चल रही है। उसमें कुछ साधु बहुत योग्य हैं, कुछ साधना मे शिथिल हो चुके हैं और कुछ साधुत्व की दीक्षा छोड परिव्राजक या गृहवासी बन चुके हैं।

उत्पल पार्श्व की परम्परा मे दीक्षित हुआ। उसने दीक्षाकाल मे अनेक विद्याए अर्जित की। वह दीक्षा को छोड़ परिव्राजक हो गया। वह अस्थिकग्राम मे रह रहा है। अष्टाग निमित्त विद्या पर उसका पूर्ण अधिकार है।

भगवान् महावीर शूलपाणि यक्ष के मदिर मे उपस्थित हैं।[1] समूचे अस्थिक-ग्राम मे यह चर्चा हो रही है कि एक भिक्षु अपने गांव मे आया है और वह शूलपाणि यक्ष के मदिर मे ठहरा है। लोग परस्पर कहने लगे, 'यह अच्छा नहीं हुआ। बेचारा मारा जाएगा। क्या पुजारी ने उसे मनाही नही की? क्या किसी आदमी ने उसे बताया नही कि उस स्थान मे रात को रहने का अर्थ मौत को बुलावा है। अब क्या हो, रात ढल चुकी है। इस समय वहा कौन जाए?' पुजारी और उसके साथियो ने लोगों को बताया कि हमने सारी स्थिति उसे समझा दी थी। वह कोई बहुत ही आग्रही भिक्षु है। हमारे समझाने पर भी उसने वहीं रहने का आग्रह किया। इसका हम क्या करें? यह बात उत्पल तक पहुंची। उसने सोचा, 'कोई साधारण व्यक्ति भयकर स्थान में रात को ठहर नहीं सकता।

---

१. साधना का पहला वर्ष। स्थान—अस्थिकग्राम।

स्थिति को जान लेने पर भी वह वहां ठहरा है तो अवश्य ही कोई महासत्त्व व्यक्ति है।' विचार की गहराई मे डुबकी लगाते-लगाते उसके मन मे एक विकल्प उत्पन्न हुआ, 'मैंने सुना है कि भगवान् महावीर इसी वर्ष दीक्षित हुए हैं। वे बहुत ही पराक्रमी हैं। कही वे ही तो नही आए हैं ?' काफी रात जाने तक लोग बातें करते रहे। वे सोए तब भी उनके दिल मे करुणा जागृत थी। प्रात काल लोग जल्दी उठे। उषा होते-होते वे मदिर मे आ पहुचे। कुछ लोग भगवान् को देखने का कुतूहल लिये आए और कुछ लोग अन्त्येष्टि-सस्कार सम्पन्न करने के लिए। वे सब मदिर के दरवाजे मे घुसे। वे यह देख आश्चर्य मे डूब गए कि भिक्षु अभी जीवित है। उन्हे अपनी आखो पर भरोसा नही हुआ। वे कुछ और आगे बढे, फिर ध्यान से देखा। उन्हे अपनी धारणा से प्रतिकूल यही देखने को मिला कि भिक्षु अभी अच्छी तरह से जीवित है। वे हर्ष-विभोर हो आकाश मे उछले। सबने उच्च स्वर से तीन बार कहा, 'शान्त पाप, शान्त पाप, शान्त पाप। भिक्षु ! तुम्हारी कृपा से हमारे गाव का उपद्रव मिट गया। भय समाप्त हो गया। अब यहा कोई भय नही रहा।'

उत्पल आगे आया। उसने भगवान् के शरीर को देखा, फिर रात की घटना को देखा। वह निमित्त-बल से सारी स्थिति जान गया। वह बोला—'भन्ते ! आज रात को आपने कुछ नीद ली है ?'

'हां, उत्पल।'

'उसमे आपने कुछ स्वप्न देखे हैं ?'

'तुम सही हो।'

'भते ! आप बहुत बडे ज्ञानी हैं। उनका फलादेश जानते ही हैं। फिर भी मैं अपनी उत्कठा की पूर्ति के लिए कुछ कहना चाहता हूं।'

उत्पल कुछ ध्यानस्थ हुआ। वह अपने मन को निमित्त-विद्या मे एकाग्र कर बोला—'भते !

१ ताल पिशाच को पराजित करने का स्वप्न मोह के क्षीण होने का सूचक है।

२ श्वेत पखवाले पुंस्कोकिल का स्वप्न शुक्लध्यान के विकास का सूचक है।

३ विचित्र पखवाले पुस्कोकिल का स्वप्न अनेकान्त दर्शन के प्रतिपादन का सूचक है।

४ भते ! चौथे स्वप्न का फल मैं नहीं समझ पा रहा हूं।

५. श्वेत गोवर्ग का स्वप्न संघ की समृद्धि का सूचक है।

६ कुसुमित पद्म सरोवर का स्वप्न दिव्यशक्ति की उपस्थिति का सूचक है।

७ समुद्र तैरने का स्वप्न ससार-सिन्धु के पार पाने का सूचक है।

८ सूर्य का स्वप्न कैवल्य की प्राप्ति होने का सूचक है।

९ पर्वत को आतो से वेष्टित करने का स्वप्न आपके द्वारा प्रतिपादित

सिद्धान्तों के व्यापक होने का सूचक है।

१०. मेरु पर्वत पर उपस्थिति का स्वप्न धर्म की उच्चतम प्रस्थापना करने का सूचक है।'

भगवान् ने कहा—'उत्पल ! तुम्हारा निमित्त-ज्ञान बहुत विकसित है। तुमने जो स्वप्नार्थ बताए हैं, वे सही हैं। मेरा चौथा (रत्न की दो मालाओं का) स्वप्न साधु-धर्म और गृहस्थ-धर्म इस द्विविध धर्म की स्थापना का सूचक है।"[1]

२. भगवान् गडकी नदी को नौका से पार कर वाणिज्यग्राम आए।[2] उसके बाह्य भाग मे एक रमणीय और एकान्त प्रदेश था। भगवान् वहा स्थित होकर ध्यानलीन हो गए। उस गांव मे आनन्द नामक गृहस्थ रहता था। वह भगवान् पार्श्व की परम्परा का अनुयायी था। वह दो-दो उपवास की तपस्या और सूर्य के आतप का आसेवन कर रहा था। उसे इस प्रक्रिया से अतीन्द्रिय-ज्ञान (अवधिज्ञान) उपलब्ध हो गया।

वाणिज्यग्राम के बाह्य भाग मे भगवान् की उपस्थिति का बोध होने पर वह वहां आया। भगवान् के चरणो मे प्रणिपात कर बोला, 'भते ! अनुत्तर है आप की कायगुप्ति, अनुत्तर है आपकी वचनगुप्ति और अनुत्तर है आपकी मनोगुप्ति। भते ! मुझे स्पष्ट दीख रहा है कि आपको कुछ वर्षों के बाद कैवल्य प्राप्त होगा।'[3]

भगवान् कैवल्य की दिशा मे आगे बढ रहे थे। उसके संकेत वातावरण मे तैरने लग गए।

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७३-२७५।

२. साधना का दसवा वर्ष।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३००।

१४

करुणा का अजस्र स्रोत

वर्षा ने विदा ले ली। शरद् का प्रवेश-द्वार खुल गया। हरियाली का विस्तार कम हो गया। पथ प्रशस्त हो गए। भगवान् महावीर अस्थिकग्राम से प्रस्थान कर मोराक सन्निवेश पहुचे।[1] बाहर के उद्यान मे ठहरे।

उस सन्निवेश मे अच्छदक नामक तपस्वी रहते थे। वे ज्योतिष, वशीकरण, मन्त्र-तन्त्र आदि विद्याओ मे कुशल थे। एक अच्छदक की वहा बहुत प्रसिद्धि थी। जनता उसके चमत्कारो से बहुत प्रभावित थी।

उद्यानपालक ने देखा कोई तपस्वी ध्यान किए खडा है। उसने दूसरे दिन फिर देखा कि तपस्वी वैसे ही खडा है। उसके मन मे श्रद्धा जाग गई। उसने सन्निवेश के लोगो को सूचना दी। लोग आने लगे। भगवान् ने ध्यान और मौन का क्रम नही तोड़ा। फिर भी लोग आते और कुछ समय उपासना कर चले जाते। वे भगवान् की ध्यान-मुद्रा पर मुग्ध हो गए। भगवान् की सन्निधि उनके शान्ति का स्रोत बन गई।

सन्निवेश की जनता का झुकाव भगवान् की ओर देख अच्छदक विचलित हो उठा। उसने भगवान् को पराजित करने का उपाय सोचा। वह अपने समर्थको को साथ ले भगवान् के सामने उपस्थित हो गया।

भगवान् आत्म-दर्शन की उस गहराई मे निमग्न थे जहा जय-पराजय का अस्तित्व ही नही है। अच्छदक तपस्वी का मन जय-पराजय के झूले में झूल रहा था। वह बोला, 'तरुण तपस्वी! मौन क्यो खड़े हो? यदि तुम ज्ञानी हो तो मेरे प्रश्न का उत्तर दो। मेरे हाथ में यह तिनका है। यह अभी टूटेगा या नही टूटेगा?' इतना कहने पर भी भगवान् का ध्यान भंग नहीं हुआ।

---

१ साधना का दूसरा वर्ष।

सिद्धार्थ भगवान् का भक्त था। वह कुछ दिनो से भगवान् की सन्निधि में रह रहा था। वह अतिशयज्ञानी था। उसने कहा, 'अच्छदक! इतने सीधे प्रश्न का उत्तर पाने के लिए भगवान् का ध्यान भंग करने की क्या आवश्यकता है? इसका सीधा-सा उत्तर है। वह मैं ही बता देता हूं। यह तिनका जड है। इसमें अपना कर्तृत्व नही है। अत तुम इसे तोड़ना चाहो तो टूट जाएगा और नही चाहो तो नही टूटेगा।' उपस्थित जनता ने कहा, 'अच्छदक इतनी सीधी-सरल बात को भी नही जानता तब गूढ़ तत्त्व को क्या जानता होगा?' जन-मानस में उसके आदर की प्रतिमा खंडित हो गई। साथ-साथ उसके चिंतन की प्रतिमा खंडित हो गई। उसने सोचा था— महावीर कहेंगे कि तिनका टूट जाएगा तो मैं इसे नही तोडूगा और वे कहेंगे कि नही टूटेगा तो मैं इसे तोड़ दूगा। दोनो ओर उनकी पराजय होगी। किन्तु जो महावीर को पराजित करने चला था, वह जनता की ससद मे स्वय पराजित हो गया।

अच्छदक अवसर की खोज मे था। एक दिन उसने देखा, भगवान् अकेले खडे है। अभी ध्यान-मुद्रा मे नही हैं। वह भगवान् के निकट आकर बोला, 'भते! आप सर्वत्र पूज्य हैं। आपका व्यक्तित्व विशाल है। मैं जानता हू, महान् व्यक्तित्व क्षुद्र व्यक्तित्वो को ढाकने के लिए अवतरित नही होते। मुझे आशा है कि भगवान् मेरी भावना का सम्मान करेंगे।'

इधर अच्छदक अपने गाव की ओर लौटा और उधर भगवान् वाचाला की ओर चल पडे। उनकी करुणा ने उन्हे एक क्षण भी वहा रुकने की स्वीकृति नही दी।[1]

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७५-२७७।

१५

गंगा में नौका-विहार

ऐसा कौन मनुष्य है जिसने प्रकृति के रगमच पर अभिनय किया हो और अपना पुराना परिधान न बदला हो। जहां बदलना ही सत्य है वहा नही बदलने का आग्रह असत्य हो जाता है।

भगवान् महावीर अहिंसा और आकिंचन्य की सतुलित साधना कर रहे थे। उनके पास न पैसा था और न वाहन। वे अकिंचन थे, इसलिए परिव्रजन कर रहे थे। वे अहिंसक और अकिंचन—दोनो थे, इसलिए पद-यात्रा कर रहे थे।

भगवान् श्वेतव्या से प्रस्थान कर सुरभिपुर जा रहे थे।[1] बीच मे गगा नदी आ गई। भगवान् ने देखा, दो तटो के बीच तेज जलधारा बह रही है, जैसे दो भावो के बीच चिंतन की तीव्र धारा बहती है। उनके पैर रुक गए।

ध्यान के लिए स्थिरता जरूरी है। स्थिरता के लिए एक स्थान मे रहना जरूरी है। किन्तु अकिंचन के लिए अनिकेत होना जरूरी है और अनिकेत के लिए परिव्रजन जरूरी है। इस प्राप्त आवश्यक धर्म का पालन करने के लिए भगवान् नौका की प्रतीक्षा करने लगे।

सिद्धदत्त एक कुशल नाविक था। वह जितना नौका-सचालन मे कुशल था, उतना ही व्यवहार-कुशल था। यात्री उसकी नौका पर बैठकर गंगा को पार करने मे अपनी कुशल मानते थे।

सिद्धदत्त यात्रियों को उस पार उतारकर फिर इस ओर आ गया। उसने देखा, तट पर एक दिव्य तपस्वी खडा है। उसका ध्यान उनके चरणो पर टिक गया। वह बोला, 'भगवन्! आइए, इस नौका को पावन करिए।'

'क्या तुम मुझे उस पार ले चलोगे?' भगवान् ने पूछा।

---

१. साधना का दूसरा वर्ष।

नाविक बोला, 'भंते ! यह प्रश्न मेरा है। क्या आप मेरी नौका को उस पार ले चलेंगे ?'

सिद्धदत्त का प्रश्न सुन भगवान् मौन हो गए। उनका मौन कह रहा था कि उस पार स्वयं को पहुंचना है। उसमे सहयोगी तुम भी हो सकते हो और मैं भी हो सकता हूं।

भगवान् नौका मे बैठ गए। उसमे और अनेक यात्री थे। उनमे एक था नैमित्तिक। उसका नाम था खेमिल। नौका जैसे ही आगे बढी, वैसे ही दायी ओर उल्लू बोला। खेमिल ने कहा, 'यह बहुत बुरा शकुन है। मुझे भयकर तूफान की आशका हो रही है।' नैमित्तिक की बात सुन नौका के यात्री घबरा उठे।

इधर नौका गगा नदी के मध्य मे पहुची, उधर भयकर तूफान आया। नदी का जल आकाश को चूमने लगा। नौका डगमगा गई। उत्ताल तरंगो के थपेड़ो से भयाक्रात यात्री हर क्षण मौत की प्रतीक्षा करने लगे। भगवान् उन प्रकपित करने वाले क्षणो मे भी निष्कप बैठे थे। उनके मन मे न जीने की आशसा थी और न मौत का आतक। जिसके मन मे मौत के भय का तूफान नही होता, उसे कोई भी तूफान प्रकपित नही कर पाता।

तूफान आकस्मिक ढग से ही आया और आकस्मिक ढग से ही शान्त हो गया। यात्रियो के अशान्त मन अब शान्त हो गए। भगवान् तूफान के क्षणो मे भी शात थे और अब भी शात हैं। खेमिल ने कहा, 'इस तपस्वी ने हम सबको तूफान से बचा लिया।' यात्रियो के सिर उस तरुण तपस्वी के चरणो मे झुक गए। नाविक ने कहा, 'भते ! आपने मेरी नैया पार लगा दी। मुझे विश्वास हो गया है कि मेरी जीवन-नैया भी पार पहुच जाएगी।'

नौका तट पर लग गई। यात्री अपने-अपने गतव्य की दिशा मे चल पडे। भगवान् थूणाक सन्निवेश की ओर प्रस्थान कर गए।[1]

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८०, २८१।

१६

बंधन की मुक्ति : मुक्ति का अनुबंध

भगवान् की जीवन-घटनाओ से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के प्रतिकूल चलना उनका सहज धर्म हो गया। हेमन्त ऋतु मे भगवान् छाया मे ध्यान करते। गर्मी मे वे धूप मे ध्यान करते। भगवान् के ये प्रयोग प्रकृति पर पुरुष की विजय के प्रतीक बन गए।

भगवान् श्रावस्ती से विहार कर हलेद्दुक गाव के बाहर पहुचे।[1] वहा हलेद्दुक नामक एक विशाल वृक्ष था। भगवान् उसके नीचे ध्यानमुद्रा मे खड़े हो गए। एक सार्थवाह श्रावस्ती जा रहा था। उसने उस विशाल वृक्ष के पास पडाव डाला।

सूर्य अस्त हो चुका था। रात के चरण आगे बढ रहे थे। अधकार जैसे-जैसे गहरा हो रहा था, वैसे-वैसे सर्दी का प्रकोप बढ रहा था। भगवान् उस सर्दी मे निर्वसन खडे थे। वह वृक्ष ही छत, वही आगन, वही मकान और वही वस्त्र—सब कुछ वही था। सार्थ के लोग सन्यासी नही थे। उनके पास सग्रह भी था—बिछौने, कबलें, रजाइया, और भी बहुत कुछ। फिर भी वे खुले आकाश मे काप रहे थे। उन्होंने सर्दी से बचने के लिए आग जलाई। वे रात भर उसका ताप लेते रहे। पिछली रात को वहा से चले। आग को वैसे ही छोड गए।

हवा तेज हो गई। आग कुछ आगे बढी। गोशालक भगवान् के साथ थे। वे बोले, 'भते ! आग इस ओर आ रही है। हम यहा से चलें। किसी दूसरे स्थान पर जाकर ठहर जाए।' भगवान् ध्यान मे खड़े ही रहे। आग बहुत निकट आ गई। गोशालक वहा से दूर चले गए। वृक्ष के नीचे बहुत घास नही थी। जो थी, वह सूखी नही थी। इसलिए वृक्ष के नीचे आते-आते आग का वेग कम हो गया। उसकी धीमी आच मे भगवान् के पैर झुलस गए।[2]

---

१. साधना का पांचवां वर्ष।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८८।

भगवान् स्वतंत्रता के विविध प्रयोग कर रहे थे। वे प्रकृति के वातावरण की परतंत्रता से भी मुक्त होना चाहते थे। सर्दी और गर्मी—दोनो सब पर अपना प्रभाव डालती हैं। भगवान् इनके प्रभाव-क्षेत्र मे रहना नही चाहते थे।

शिशिर का समय था। सर्दी बहुत तेज पड़ रही थी। बर्फीली हवा चल रही थी। कुछ भिक्षु सर्दी से बचने के लिए अगार-शकटिका के पास बैठे रहे। कुछ भिक्षु कबलो और ऊनी वस्त्रों की याचना करने लगे। पार्श्वनाथ के शिष्य भी वातायन-रहित मकानों की खोज में लग गए। उस प्रकपित करने वाली सर्दी मे भी भगवान् ने छप्पर में स्थित होकर ध्यान किया। प्रकृति उन पर प्रहार कर रही थी और वे प्रकृति के प्रहार को अस्वीकार कर रहे थे। इस द्वन्द्व मे वे प्रकृति से पराजित नहीं हुए।[1]

भेद-विज्ञान का ध्यान

मकान पर दृष्टि आरोपित हुई तब लगा कि आकाश बधा हुआ है। उसके स्वभाव की भाषा पढी तब ज्ञात हुआ कि वह मकान से बद्ध नही है।

जल मे डूबे हुए कमलपत्र को देखा तब लगा कि वह जल से स्पृष्ट है। उसके स्वभाव की भाषा पढी तब ज्ञात हुआ कि वह जल से स्पृष्ट नही है।

घट, शराब, ढक्कन आदि को देखा तब लगा कि ये मिट्टी से भिन्न हैं। मिट्टी के स्वभाव की भाषा पढी तब ज्ञात हुआ कि वे मिट्टी से भिन्न नही है।

तरगित समुद्र मे ज्वार-भाटा देखा तब लगा कि वह अनियत है। उसके स्वभाव की भाषा पढी तब ज्ञात हुआ कि वह अनियत नही है।

सोने को चिकने और पीले रूप मे देखा तब लगा कि वह विशिष्ट है। उसके स्वभाव की भाषा पढी तब ज्ञात हुआ कि वह अविशेष है।

अग्नि से उत्तप्त जल को देखा तब लगा कि वह उष्णता से संयुक्त है। उसके स्वभाव की भाषा पढी तब ज्ञात हुआ कि वह उष्णता से सयुक्त नही है।

स्वभाव से भिन्न अनुभूति मे लगा कि आत्मा बद्ध-स्पृष्ट, अन्य, अनियत, विशेष और सयुक्त है। स्वभाव की भाषा पढी तब ज्ञात हुआ कि वह अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, ध्रुव, अविशेष और असयुक्त है।

इस स्वभाव की अनुभूति ही आत्मा है। वह देह मे स्थित होने पर भी उससे भिन्न है।

भगवान् महावीर स्वतत्रता के साधक थे। वे सारी परम्पराओं से मुक्त होने की दिशा मे प्रयाण कर चुके थे। फिर उन्हे अपने से भिन्न किसी परम सत्ता की परतन्त्रता कैसे मान्य होती ? उन्होने परम सत्ता को अपने देह मे ही खोज

---

१. आयारो, ६।२।१३-१६; आयारांगचूर्णि, पृ० ३१७, आयारांगवृत्ति, पत्र २८०, २८१।

निकाला।

उनका ध्येय था—आत्मा। उनका ध्यान था—आत्मा। उनका ध्याता था—आत्मा। उनका ध्यान था आत्मा के लिए। उनके सामने आदि से अंत तक आत्मा ही आत्मा था।

तिल में तेल, दूध मे घृत और अरणिकाष्ठ में जैसे अग्नि होती है, वैसे ही देह में आत्मा व्याप्त है।

कोल्हू के द्वारा तिल और तेल को पृथक् किया जा सकता है। घर्षण के द्वारा अरणिकाष्ठ और अग्नि को पृथक् किया जा सकता है। वैसे ही भेद-विज्ञान[1] के ध्यान द्वारा देह और आत्मा को पृथक् किया जा सकता है।

भगवान् महावीर ध्यानकाल मे देह का व्युत्सर्ग और त्याग कर आत्मा को देखने का प्रयत्न करते थे। स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीर के भीतर आत्मा है।

भगवान् चेतना को स्थूल शरीर से हटाकर उसे सूक्ष्म शरीर मे स्थापित करते। फिर वहा से हटाकर उसे आत्मा मे विलीन कर देते।

आत्मा अमूर्त है, सूक्ष्मतम है, अदृश्य है। भगवान् उसे प्रज्ञा से ग्रहण करते। आत्मा चेतक है, शरीर चैत्य है। आत्मा द्रष्टा है, शरीर दृश्य है। आत्मा ज्ञाता है, शरीर ज्ञेय है। भगवान् इस चेतन, द्रष्टा और ज्ञाता स्वरूप की अनुभूति करते-करते आत्मा तक पहुच जाते। वे आत्मध्यान मे चिंतन का निरोध नही करते। वे पहले देह और आत्मा के भेद-ज्ञान की भावना को सुदृढ कर लेते। उसके सुदृढ होने पर वे आत्मा के चिन्मय स्वरूप मे तन्मय हो जाते। अशुद्ध भाव से अशुद्ध भाव की और शुद्ध भाव से शुद्ध भाव की सृष्टि होती है। इस सिद्धान्त के आधार पर भगवान् आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करते थे। उनका वह ध्यान धारावाही आत्म-चिंतन या आत्म-दर्शन के रूप मे चलता था।

भगवान् सर्दी से धूप मे नही जाते, गर्मी से छाया मे नही जाते; आखे नही मलते, शरीर को नही खुजलाते, वमन-विरेचन आदि का प्रयोग नही करते, चिकित्सा नही करते; मर्दन, तैल-मर्दन और स्नान नही करते। एक शब्द मे वे शरीर की सार-सम्हाल नही करते। ऐसा क्यों? कुछ विद्वानो ने इस चर्या की व्याख्या यह की है—'भगवान् ने शरीर को कष्ट देने के लिए यह सब किया।' मेरी

---

१. उपयोग चैतन्य का परिणमन है। वह ज्ञान-स्वरूप है। क्रोध आदि भावकर्म, ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और शरीर आदि नो-कर्म—ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणमन हैं, अचेतन हैं। उपयोग में क्रोध आदि नही है और क्रोध आदि मे उपयोग नहीं है। इनमें पारमार्थिक आधार-आधेयभाव नहीं है। परमार्थतः इनमें अत्यन्त भेद है। इस भेद का बोध ही 'भेद-विज्ञान' है।

व्याख्या इससे भिन्न है। शरीर बेचारा जड़ है। पहली बात—उसे कष्ट होगा ही कैसे ? दूसरी बात—उसे कष्ट देने का अर्थ ही क्या ? तीसरी बात—भगवान् का शरीर धर्म-यात्रा मे बाधक नही था, फिर वे उसे कष्ट किसलिए देते ? मेरी व्याख्या यह है—भगवान् आत्मा मे इतने लीन हो गए कि बाहरी अपेक्षाओं की पूर्ति का प्रश्न बहुत गौण हो गया और चेतना के जिस स्तर पर शारीरिक कष्टो की अनुभूति होती है, वह चेतना अपने स्थान से च्युत होकर चेतना के मुख्य स्रोत की ओर प्रवाहित हो गई। इसलिए वे साधनाकाल मे शरीर के प्रति जागरूक नही रहे।

तन्मूर्तियोग

भगवान् ध्यान के समय साधन और साध्य मे समस्वरता स्थापित करते थे। उनकी भाषा मे इसका नाम 'तन्मूर्ति' या 'भावक्रिया' है। यह अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना से बचकर केवल वर्तमान मे रहने की क्रिया के साथ पूर्णरूपेण समजस होने की प्रक्रिया है। वे इस ध्यान का प्रयोग चलने, खाने-पीने के समय भी करते थे। वे चलते समय केवल चलते ही थे—न कुछ चिंतन करते, न इधर-उधर झाकते और न कुछ बोलते। उनके शरीर और मन—दोनो परिपूर्ण एकता बनाए रखते।

भोजन की वेला मे वे केवल खाते ही थे—न स्वाद की ओर ध्यान देते, न चिंतन करते और न बातचीत करते।

भगवान् आवश्यक क्रियाओ से निवृत्त होने पर आत्ममूर्ति हो जाते। वर्तमान क्रिया के प्रति सर्वात्मना समर्पित होकर ही कोई व्यक्ति तन्मूर्ति हो सकता है। भगवान् ने तन्मूर्ति होने के लिए चेतना की समग्र धारा को आत्मा की ओर प्रवाहित कर दिया। मन, विचार, अध्यवसाय, इन्द्रिय और भावना—ये सब एक ही दिशा मे गतिशील हो गए।

पुरुषाकार आत्मा का ध्यान

आत्मा दृश्य नही है, फिर उसका ध्यान कैसे किया जाए ? यह प्रश्न आज भी उठता है, भगवान् के सामने भी उठा होगा। उन्होंने देखा, आत्मा समूचे शरीर मे व्याप्त है। शरीर का एक भी अणु ऐसा नही है, जिसमे चेतना अनुप्रविष्ट न हो। पुरुष समग्रत: आत्ममय है, इसलिए भगवान् ने पुरुषाकार आत्मा का ध्यान किया। उन्होंने शरीर के हर अवयव मे आत्मा का दर्शन किया। इससे देहासक्ति के दूर होने मे बहुत सहायता मिली।

मन राग के रथ पर आरूढ़ होकर फैलता है। वैराग्य से सिमटकर वह अपने केन्द्र-बिन्दु में स्थित हो जाता है। भगवान् वैराग्य और संवर, अभ्यास और अनुभूति के द्वारा मन की धारा को चैतन्य के महासिन्धु मे विलीन कर रहे थे।

१७

कहीं वंदना और कहीं बंदी

विश्व के हर अचल मे विविधता का साम्राज्य है। एक-रूप कौन है और एक-रूपता कहा है ? जीवन की धारा अनगिन घाटियो और गढो को पार कर प्रवाहित हो रही है। केवल समतल पर अकित होने वाले चरण-चिह्न कही भी अस्तित्व मे नही हैं।

१. भगवान् उत्तर वाचाला से प्रस्थान कर श्वेतव्या पहुचे।[1] राजा प्रदेशी ने भगवान् की उपासना की। भगवान् की दृष्टि मे राजा की उपासना से अपनी उपासना का मूल्य अधिक था। इसलिए वे पूजा मे लिप्त नही हुए। वे श्वेतव्या से विहार कर सुरभिपुर की ओर आगे बढ गए। मार्ग मे पाच नैयक राजा मिले। वे राजा प्रदेशी के पास जा रहे थे। उन्होने भगवान् को आते देखा। वे अपने-अपने रथ से नीचे उतरे। भगवान् को वदना कर आगे चले गए।[2]

२. भगवान् एक बार पुरिमताल नगर मे गए।[1] वहा वग्गुर नाम का श्रेष्ठी रहता था। उसकी पत्नी का नाम था भद्रा। वह पुत्र के लिए अनेक देवी-देवताओ की मनौती कर रही थी। फिर भी उसे पुत्र-लाभ नही हुआ। एक बार वग्गुर दपति उद्यान मे क्रीडा करने गया। वहा उसने अर्हत् मल्ली का जीर्ण-शीर्ण मदिर देखा। श्रेष्ठी ने सकल्प किया—'यदि मेरे घर पुत्र उत्पन्न हो जाये तो मैं इस मंदिर का नव-निर्माण करा दूगा।' सयोग की बात है, पुत्र का जन्म हो गया। श्रेष्ठी ने मदिर का पुनरुद्धार करा दिया।

एक दिन वग्गुर दंपति पूजा करने मदिर मे जा रहा था। उस समय भगवान्

---

१ साधना का दूसरा वर्ष।

२ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७९-२८०।

१. साधना का आठवा वर्ष।

महावीर उस उद्यान में ध्यान कर रहे थे। एक दिव्य आत्मा ने देखा। वह बोल उठी—'कितना आश्चर्य है कि वग्गुर दंपति साक्षात् भगवान् को छोड़ मूर्ति को पूजने जा रहा है !' वग्गुर दंपति को अपनी भूल पर अनुताप हुआ। उसकी दिशा बदल गई। वह भगवान् की आराधना मे तल्लीन हो गया।[1]

३. भगवान् सिद्धार्थपुर से प्रस्थान कर वैशाली पहुचे।[2] वे नगर के बाहर कायोत्सर्ग की मुद्रा में खडे थे। उनकी दृष्टि एक वस्तु पर टिकी हुई थी, स्थिर और अनिमेष। बच्चों ने उन्हें देखा। वे डर गए। वे इधर-उधर घूमकर भगवान् को सताने लगे। उस समय राजा शंख वहां पहुच गया। वह महाराज सिद्धार्थ का मित्र था। वह भगवान् को पहचानता था। उसने भगवान् को उस विघ्न से मुक्त किया। वह भगवान् की वदना कर अपने आवास की ओर चला गया।[3]

४. भगवान् कुमाराक सन्निवेश से चोराक सन्निवेश पहुचे।[4] वहा चोरो का बडा आतंक था। उसके प्रहरी बडे सतर्क थे। उनकी आंखो से बचकर कोई भी आदमी सन्निवेश मे नही पहुच पाता था। प्रहरियों ने भगवान् को देखा और परिचय पूछा। भगवान् मौन रहे। प्रहरी क्रुद्ध हो गए। उस समय गोशालक भगवान् के साथ था। वह भी मौन रहा। प्रहरी और बिगड गए। वे दोनों को सताने लगे। एक ओर मौन और दूसरी ओर उत्पीडन--दोनों लम्बे समय तक चले। सन्निवेश के लोगो ने यह देखा। बात आगे से आगे फैलती गई।

उस सन्निवेश मे दो परिव्राजिकाए रहती थी। एक का नाम था सोमा और दूसरी का नाम था जयती। वे भगवान् पार्श्व की परम्परा में साध्विया बनी थी। वे साधुत्व की साधना मे असमर्थ होकर परिव्राजिकाए बन गई थी। उन्होने सुना कि आज सन्निवेश के प्रहरी दो तपस्वियो को सता रहे हैं। प्रहरी उनसे परिचय मांग रहे है और वे अपना परिचय नही दे रहे हैं। यही उनके सताने का हेतु है। परिव्राजिकाओ ने सोचा—'ये तपस्वी कौन हैं ? भगवान् महावीर इसी क्षेत्र मे विहार कर रहे हैं। वे साधना मे तन्मय होने के कारण बहुत कम बोलते हैं। कही वे ही तो नहीं हैं ?'

दोनो परिव्राजिकाए घटनास्थल पर आईं। उन्होने देखा, भगवान् महावीर मौन और शान्त खडे हैं, प्रहरी अशान्त और उद्विग्न। प्रहरी अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं और भगवान् मौन का प्रायश्चित्त।

'प्रिय प्रहरियो ! यह चोर नही हैं। यह महाराज सिद्धार्थ के पुत्र भगवान्

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६४-२६५।

२. साधना का दसवा वर्ष।

३ आयारो, ६।१।५; आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६६।

४. साधना का चौथा वर्ष।

महावीर हैं। क्या तुम और परिचय पाना चाहते हो ?' परिव्राजिका-युगल ने कहा। प्रहरी अवाक् रह गए। उन्हें अपने कृत्य पर अनुताप हुआ। वे बोले, 'पूज्य परिव्राजिकाओ ! हम आपके बहुत-बहुत आभारी हैं। आपने हमे धर्म-सकट से उबार लिया है। हम अब और परिचय नही चाहते। हम इस तरुण तपस्वी से क्षमा चाहते हैं। इस कार्य में आप हमारा सहयोग कीजिए।' वे प्रायश्चित्त की मुद्रा मे भगवान् के चरणो मे झुक गए। भगवान् की सौम्य-स्निग्ध दृष्टि और मुखमण्डल से टपक रही प्रसन्नता ने उनका भार हर लिया।

'भते ! हमारे प्रहरियो ने आपका अविनय किया है, पर श्रमण-परम्परा के महान् साधक अबोध व्यक्तियो के अज्ञान को क्षमा करते आए हैं। हमे विश्वास है, आप भी उन्हे क्षमा कर देगे। भते ! हमारा छोटा-सा परिचय यह है, हम दोनो नैमित्तिक उत्पल की बहनें हैं।'

परिचय के प्रसग मे वे अपना परिचय देकर, जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा की ओर चली गई। भगवान् अपने गतव्य की ओर आगे बढ़ गए।[1]

५ मेघ और कालहस्ती दोनो भाई थे। कलबुका उनके अधिकार मे था। ये सीमान्तवासी थे।

एक बार कालहस्ती कुछ चोरो को साथ ले चोरी करने जा रहा था। भगवान् चोराक सन्निवेश से प्रस्थान कर कलबुका की ओर जा रहे थे। गोशालक उनके साथ था।

कालहस्ती ने भगवान् का परिचय पूछा। भगवान् नही बोले। उसने फिर पूछा, भगवान् फिर मौन रहे। गोशालक भी मौन रहा। कालहस्ती उत्तेजित हो उठा। उसने अपने साथियो से कहा, 'इन्हे बाधकर कलबुका ले जाओ और मेघ के सामने उपस्थित कर दो।'

मेघ अपने वासकक्ष मे बैठा था। उसके सेवक दोनो तपस्वियो को साथ लिये वहा पहुचे। उसने भगवान् को पहचान लिया और मुक्त कर दिया।[2]

भगवान् को बदी बनाने का जो सिलसिला चला उसके पीछे सामयिक परिस्थितियो का एक चक्र है। उस समय छोटे-छोटे राज्य थे। वे एक-दूसरे को अपने अधिकार मे लेने के लिए लालायित रहते थे। गुप्तचर विभिन्न वेशो मे इधर-उधर घूमते थे। इसीलिए हर राज्य के आरक्षिक बहुत सतर्क रहते। वे किसी भी अपरिचित व्यक्ति को अपने राज्य की सीमा में नही घुसने देते।

६. कूपिय सन्निवेश के आरक्षिको ने भगवान् को गुप्तचर समझकर बदी

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८६-२८७।

२ साधना का पाचवा वर्ष। स्थान—कलबुका सन्निवेश। आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९०।

बना लिया।[1] भगवान् के मौन ने उनके सन्देह को पुष्ट कर दिया। यह घटना पूरे सन्निवेश मे बिजली की भांति फैल गई। वहां भगवान् पार्श्व की परंपरा की दो साध्वियां रहती थीं। एक का नाम था विजया और दूसरी का नाम था प्रगल्भा। इस घटना की सूचना पाकर वे आरक्षि-केन्द्र में पहुचीं। उन्होने आरक्षिकों को भगवान् का परिचय दिया। भगवान् मुक्त हो गए।[2]

यह नियति की कैसी विडबना है कि भगवान् मुक्ति की साधना मे रत हैं और कुछ लोग उन्हें बदी बनाने मे प्रवृत्त हैं।

७. लोहार्गला मे भी भगवान् के साथ यही हुआ।[3] उस राज्य के अपने पडोसी राज्य के साथ तनावपूर्ण सम्बन्ध चल रहे थे। वहां के अधिकारी आने-जाने वालों पर कडी निगरानी रखते थे। उन्ही दिनो भगवान् महावीर और गोशालक वहां आ गए। प्रहरियो ने उनसे परिचय मांगा। उन्होने वह दिया नही। उन्हे बदी बनाकर राजा जितशत्रु के पास भेजा गया। नैमित्तिक उत्पल अस्थिकग्राम से वहा आया हुआ था। वह राज्य-सभा मे उपस्थित था। वह भगवान् को बन्दी के रूप में देख स्तब्ध रह गया। वह भावावेश की मुद्रा मे बोला, 'यह कैसा अन्याय !' राजा ने पूछा, 'उत्पल ! राज्य-अधिकारियो के कार्य मे हस्तक्षेप करना भी क्या कोई निमित्तशास्त्र का विधान है ?'

'यह हस्तक्षेप नही है, महाराज ! यह अधिकारियो का अविवेक है।'

'यह क्या कह रहे हो, उत्पल ? आज तुम्हे क्या हो गया ?'

'कुछ नही हुआ, महाराज ! मेरा सिर लाज से झुक गया है।'

'क्यो ?'

'क्या आप नही देख रहे हैं, आपके सामने कौन खडे हैं ?'

'बदी है, मैं देख रहा हू।'

'ये बदी नही हैं। ये मुक्ति के महान् साधक भगवान् महावीर हैं।'

महावीर का नाम सुनते ही राजा सहम गया। वह जल्दी से उठा और उसने भगवान् के बन्धन खोल दिए और अपने अधिकारियो की भूल के लिए क्षमा मागी।

भगवान् बदी बनने के समय भी मौन थे और अब मुक्ति के समय भी मौन।[4]

उनका चित्त मुक्ति का द्वार खोल चुका था, इसलिए वह शरीर के बदी होने पर रोष का अनुभव नही कर रहा था और मुक्त हो जाने पर हर्ष की हिलोरें नही

---

१ साधना का छठा वर्ष।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९१-२९२।

३ साधना का आठवां वर्ष।

४. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९४।

ले रहा था। बेचारे बंदी को बंदी बनाने का यह अभिनव प्रयोग चल रहा था।

८. इस दुनिया में जो घटित होता है, वह सब सकारण ही नहीं होता। कुछ-कुछ निष्कारण भी होता है। हिरण घास खाकर जीता है, फिर भी शिकारी उसके पीछे पड़े हैं। मछली पानी में तृप्त है, फिर भी मच्छीगर उसे जीने नहीं देते। सज्जन अपने आप मे संतुष्ट है, फिर भी पिशुन उसे आराम की नींद नहीं लेने देते।

भगवान् तोसली गाव के उद्यान में ध्यान कर खड़े थे।[1] सगम देव उनके कार्य मे विघ्न उत्पन्न कर रहा था। वह साधु का वेश बना गांव मे गया और सेंध लगाने लगा। लोग उसे पकड़कर पीटने लगे। तब वह बोला, 'आप मुझे क्यो पीटते हैं?'

'सेंध तुम लगा रहे हो, तब किसी दूसरे को क्यो पीटें?'

'मै अपनी इच्छा से चोरी करने नहीं आया हू। मेरे गुरु ने मुझे भेजा है, इसलिए आया हू।'

'कहा हैं तुम्हारे गुरु?'

'चलिए, अभी बताए देता हूं।'

सगम आगे हो गया। गाव के लोग उसके पीछे-पीछे चलने लगे। वे सब भगवान् के पास पहुचे। सगम ने कहा, 'ये हैं मेरे गुरु।' लोगो ने भगवान् से पूछा, 'क्या तुम चोर हो?' भगवान् मौन रहे। लोगो ने फिर पूछा, 'क्या तुमने इसे चोरी करने के लिए भेजा था?' भगवान् अब भी मौन थे। लोगो ने सोचा, कोई उत्तर नही मिल रहा है, अवश्य ही इसमे कोई रहस्य छिपा हुआ है। वे भगवान् को बाधकर गांव मे ले जाने लगे।

महाभूतिल उस युग का प्रसिद्ध ऐन्द्रजालिक था। वह उस रास्ते से जा रहा था। उसने देखा, 'बन्धन मुक्ति को अभिभूत करने का प्रयत्न कर रहा है।' उसने दूर से ही ग्रामवासियो को ललकारा—'मूर्खो! यह क्या कर रहे हो?' उन्होंने देखा—यह महाभूतिल बोल रहा है। उनके पैर ठिठक गए। वे कुछ सिर झुकाकर बोले, 'महाराज! यह चोर है। इसे पकड़कर गाव मे ले जा रहे हैं।' इतने मे महाभूतिल नजदीक आ गया। वह भगवान् के पैरो मे लुढ़क गया।

ग्रामवासी आश्चर्य मे डूब गए। यह क्या हो रहा है? हम भूल रहे हैं या महाभूतिल? क्या यह चोर नहीं? वे परस्पर फुसफुसाने लगे। महाभूतिल ने दृढ स्वर मे कहा, 'यह चोर नहीं है। महाराज सिद्धार्थ का पुत्र राजकुमार महावीर है। जिस व्यक्ति ने राज्य-सपदा को त्यागा है, वह तुम्हारे घरों में चोरी करेगा? मुझे लगता है कि तुम लोग चितन के क्षेत्र मे बिलकुल दरिद्र हो।'

---

१ साधना का ग्यारहवा वर्ष।

'महाराज ! आप क्षमा करें। हमारी भूल हुई है, उसका कारण हमारा अज्ञान है। हमने जान-बूझकर ऐसा नही किया।' ग्रामवासी एक साथ चिल्लाए।

भगवान् पहले भी शान्त थे, बीच मे भी शान्त थे और अब भी शान्त हैं। शान्ति ही उनके जीवन की सफलता है।[1]

६. भगवान् तोसली से प्रस्थान कर मोसली गाव पहुचे।[2] वहा सगम ने फिर उसी घटना की पुनरावृत्ति की। आरक्षिक भगवान् को पकडकर राजकुल में ले गए। उस गांव के शास्ता का नाम था सुमागध। वह सिद्धार्थ का मित्र था। उसने भगवान् को पहचाना और मुक्त कर दिया। उसने अपने आरक्षिको की भूल के लिए क्षमा मागी और हार्दिक अनुताप प्रकट किया।[3]

१०. भगवान् फिर तोसली गाव मे आए।[4] सगम ने कुछ औजार चुराए और भगवान् के पास लाकर रख दिए। आरक्षिक भगवान् को तोसली क्षत्रिय के पास ले गए। क्षत्रिय ने कुछ प्रश्न पूछे। भगवान् ने कोई उत्तर नही दिया। क्षत्रिय के मन मे सदेह हो गया। उसने फासी के दड की घोषणा कर दी।

जल्लाद ने भगवान् के गले मे फासी का फदा लटकाया और वह टूट गया। दूसरी बार फिर लटकाया और फिर टूट गया। सात बार ऐसा ही हुआ। आरक्षिक हैरान थे। वे क्षत्रिय के पास आए और बीती बात कह सुनाई। क्षत्रिय ने कहा, 'यह चोर नही है। कोई पहुचा हुआ साधक है।' वह दौडा-दौडा आया। भगवान् के चरणो मे नमस्कार कर उसने अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना की।[5]

भगवान् अक्षमा और क्षमा—दोनो की मर्यादा से मुक्त हो चुके थे। उनके सामने न कोई अक्षम्य था और न कोई क्षम्य। वे सहज शान्ति की सरिता में निष्णात होकर विहार कर रहे थे।

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१२।
२. साधना का ग्यारहवां वर्ष।
३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१३।
४. साधना का ग्यारहवां वर्ष।
५. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१३।

१८

नारी का बन्ध-विमोचन

नवोदित सूर्य की रश्मियां व्योमतल मे तैरती हुई धरती पर आ रही हैं। तिमिर का सघन आवरण खण्ड-खण्ड होकर शीर्ण हो रहा है। प्रकाश के अचल मे हर पदार्थ अपने आपको प्रकट करने के लिए उत्सुक-सा दिखाई दे रहा है। नीद की मादकता नष्ट हो रही है। जागरण का कार्य तेजी के साथ बढ रहा है।

चपा के नागरिको ने जागकर देखा, उनकी नगरी शत्रु की सेना से घिर गई है। वे इस आकस्मिक आक्रमण से आश्चर्य-स्तब्ध हैं। 'यह किसकी सेना है ? इसने किस हेतु से हमारी नगरी पर घेरा डाला है ? क्या पहले कोई दूत आया था ? क्या हमारे राज्य की सेना इस आकस्मिक आक्रमण के लिए तैयार है।' यत्र-तत्र ये प्रश्न पूछे जाने लगे। पर इनका समुचित उत्तर कौन दे ?

राजा दधिवाहन वहा उपस्थित नही था। वह सुभद्र की सहायता के लिए गया हुआ था।

सुभद्र छोटा राजा था। वह चपा की अधीनता मे अपना शासन चलाता था। उसने अपनी रूपसी कन्या की सगाई अहिच्छत्रा के राजकुमार के साथ कर दी। भद्दिला के राजा मदनक को यह प्रिय नही लगा। वह उस कन्या को अपने अत पुर मे लाना चाहता था। उसने सुभद्र को युद्ध की चुनौती दे दी। सुभद्र ने दधिवाहन की सहायता चाही। दधिवाहन अपनी सेना के साथ रणभूमि मे पहुच गया।

वत्स देश का अधिपति शतानीक अग देश को अपने राज्य मे बिलीन करने का स्वप्न संजोए बैठा था। एक बार अग देश की सेना ने उसका स्वप्न भग कर दिया था, इसका भी उसके मन मे रोष था।

शतानीक का सेनापति काकमुख धारिणी के स्वयंवर मे असफल हो चुका था। दधिवाहन की सफलता पर उसे ईर्ष्या हो गई। धारिणी के प्रति उसके मन मे अब भी आकर्षण था। शतानीक की स्वप्नपूर्ति और काकमुख की प्रतिशोध-भावना को एक

साथ अवसर मिला। काकमुख के संचालन में वत्स की सेना ने स्थल और जल—दोनों ओर से चंपा पर आक्रमण कर दिया। चंपा की सेना इस आकस्मिक आक्रमण से हतप्रभ हो गई। राजा उपस्थित नही था, वह युद्ध के लिए तैयार नही थी। फिर भी उसने प्रतिरोध किया किन्तु वत्स की सुसज्जित सेना का वह लम्बे समय तक सामना नही कर सकी। राजधानी के द्वार शत्रु सैनिको के लिए खुल गए। काकमुख के प्रतिशोध की आग बुझी नही। उसने चंपा को लूटने की स्वीकृति दे दी। वत्स के सैनिक चपा पर टूट पड़े।

उन्होने किसी भी प्रासाद को शेष नही छोड़ा। वे राजप्रासाद में भी पहुच गए। काकमुख ने रानी धारिणी और उसकी कन्या वसुमती का अपहरण कर लिया।

सैनिक अपनी-अपनी बहादुरी बखानते लौट रहे थे। यह मानव-जाति का दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास है कि मनुष्य दूसरे मनुष्यो को लूटकर प्रसन्नता का अनुभव करता है, दूसरो को अशान्ति की भट्टी मे झोककर शान्ति का अनुभव करता है।

चपा के नागरिको ने क्या अपराध किया था? उन्होने शतानीक या उसकी सेना का क्या बिगाडा था? उनका अपराध यही था कि वे विजेता देश के नागरिक नही थे, पराजित देश के नागरिक थे। शक्तिहीनता क्या कम अपराध है? शक्तिहीन निरपराध को हमेशा अपराधी के कठघरे मे खड़ा होना पड़ा है। दधिवाहन की सेना शतानीक की सेना के सामने अल्पवीर्य थी। शतानीक की सेना पूरी सज्जा के साथ आक्रामक होकर आई थी। दधिवाहन की सेना युद्ध के लिए तैयार नही थी। प्रमाद क्या कम अपराध है? जो अपने दायित्व के प्रति जागरूक नही होता, उसे सदा यातनाए झेलनी पडी हैं।

विजेता का उन्माद शक्ति-प्रदर्शन किए बिना कब शान्त होता है? इस अ-हेतुक शक्ति-प्रदर्शन मे हजारो-हजारो नागरिको को काल-रात्रि भुगतनी पडी। फिर राजप्रासाद कैसे बच पाता और कैसे बच पाता उसका अन्त:पुर? धारिणी और वसुमती को उसी मानवीय क्रूरता के अट्टहास का शिकार होना पडा।

काकमुख ने अपने पराक्रम का बखान इन शब्दो मे किया, 'मैंने धन की ओर ध्यान नही दिया। मैं सीधा राजप्रासाद मे पहुचा। वहा मेरा कुछ प्रतिरोध भी हुआ। पर मैं उसे चीरकर अन्त पुर में पहुच गया और महारानी को ले आया। मुझे पत्नी की आवश्यकता है। यह मेरी पत्नी होगी। एक कन्या को भी ले आया हू। यदि धन आवश्यक होगा तो इसे बेच दूगा।'

काकमुख की बातें सुन महारानी का सुकुमार मन उद्वेलित हो गया। उसके हृदय पर तीव्र आघात लगा। वह मूर्च्छित हो गई। वसुमती ने अपनी मा को सचेत करने का प्रयत्न किया। पर उसकी मूर्च्छा नही टूटी। उसके हृदय की गति व्यथा को रोकने में अक्षम होकर स्वयं रुक गई। काकमुख ने महारानी का अपहरण

किया और उसकी वाणी ने महारानी के प्राणो का अपहरण कर लिया। अब शेष रह गया, उसका निष्प्राण और निस्पन्द शरीर।

महारानी के महाप्रयाण ने काकमुख का हृदय बदल दिया। उसकी आखें खुल गईं। उसका मानवीय रूप जाग उठा। उसने अपने कार्य के प्रति सोचा। उसे लगा, जैसे महारानी का अपहरण करते समय वह उन्माद मे धुत्त था। प्रत्येक आवेश मनुष्य को धुत्त कर देता है। अब उन्माद के उतर जाने पर उसे अपनी और अपने साथियों की चेष्टा की व्यर्थता का अनुभव हो रहा है। उन्माद की समाप्ति पर हर आदमी ऐसा ही अनुभव करता है। पर जो होना होता है, वह तो उन्माद की छाया मे हो जाता है, फिर मूर्च्छा-भग घटित घटना का पाप-प्रक्षालन कैसे कर सकता है ?

काकमुख का दायां हाथ पाप के रक्त से रजित हो गया। उसका बाया हाथ अभी बच रहा था। वह उसके रक्त-रजित होने की आशका से भयभीत हो उठा। उसने वसुमती के सामने अपनी अधमता को उघाडकर रख दिया। उसकी अश्रुपूरित आखो मे क्षमा की माग सजीव हो उठी। हताश काकमुख व्यथित वसुमती को साथ लिये कौशाम्बी पहुच गया।

वह युग मनुष्यो के विक्रय का युग था। आज हमे पशु-विक्रय स्वाभाविक लगता है। उस युग मे मनुष्य-विक्रय इतना ही स्वाभाविक था। बिका हुआ मनुष्य दास बन जाता और वह खरीददार की चल-सपत्ति हो जाता। उस युग मे मनुष्य का मूल्य आज जितना नही था। आज का मनुष्य पशु की श्रेणी से ऊचा उठ गया है। इस आरोहण मे दीर्घ तपस्वी महावीर की तपस्या का कम योग नही है।

काकमुख वसुमती को लेकर मनुष्य-विक्रय के बाजार मे उपस्थित हो गया। बाजार मे बडी चहल-पहल है। सैकडो आदमी बिकने के लिए खडे हैं। विक्रेताओ और क्रेताओ के बीच बोलियां लग रही हैं।

वसुमती राजकन्या थी। उसका रूप-लावण्य मुसकरा रहा था। यौवन उभार की दहलीज पर पैर रखे खडा था। इतनी रूपसी और शालीन कन्या की बिक्री ! सारा बाजार स्तब्ध रह गया।

हर ग्राहक ने वसुमती को खरीदना चाहा। पर उसका मोल इतना अधिक था कि उसे कोई खरीद नहीं सका।

उस समय श्रेष्ठी धनावह उधर से जा रहा था। उसने वसुमती को देखा। वह अवाक् रह गया। उसे कन्या की कुलगरिमा और वर्तमान की दयनीय परिस्थिति—दोनो की कल्पना हो गई। उसका हृदय करुणा से भर गया। वह भारी कीमत चुकाकर कन्या को अपने घर ले आया।

श्रेष्ठी ने मृदु स्वर में कहा, 'पुत्री ! मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहता हूं।' वसुमती की मुद्रा गंभीर हो गई। वह कुछ नही बोली। श्रेष्ठी ने फिर अपनी बात

दोहराई। वसुमती फिर मौन रही। उसने तीसरी बार फिर पूछा, तब वसुमती ने इतना ही कहा, 'मैं आपकी दासी हूं। इससे अधिक मेरा परिचय कुछ नहीं है।' उसकी आंखों से अश्रुधारा बह चली। श्रेष्ठी का दिल पसीज गया। उसने बात का सिलसिला तोड़ दिया।

श्रेष्ठी धनावह की पत्नी का नाम था मूला। वह वसुमती को देख आश्चर्य में पड़ गई। धनावह ने उससे कहा, 'तुम्हारे लिए पुत्री लाया हूं। इसका ध्यान रखना।'

वसुमती के स्वभाव और व्यवहार ने समूचे घर को मोहित कर लिया। उसने धनावह के घर मे दासी के रूप मे पैर रखा था, पर अपनी विशिष्टता के कारण वह पुत्री बन गई। शील की सुगंध और शीतलता ने उसे वसुमती से चंदना बना दिया।

चदना का दिन-दिन निखरता सौन्दर्य अन्य युवतियों के मन मे ईर्ष्या भरने लगा। एक दिन मूला के मन मे आशका के बादल उमड आए। वह सोचने लगी, 'श्रेष्ठी चदना के बारे मे सही बात नही बता रहे हैं। वे इसके प्रति बहुत आकृष्ट हैं। कही धोखा न हो जाए? इसके साथ विवाह न कर लें? यदि कर लिया तो फिर मेरी क्या गति होगी?'—इन अर्थशून्य विकल्पो ने मूला को विक्षिप्त-जैसा बना दिया।

जिसे अपने-आप पर भरोसा नही होता, उसके लिए पग-पग पर विक्षेप की परिस्थिति निर्मित हो जाती है। मनुष्य अपनी शक्ति के सहारे जीना क्यों पसन्द नही करता? उसे अपनी ओर निहारना क्यो नही अच्छा लगता? दूसरो की ओर निहारकर क्या वह अपनी शक्ति को कुंठा की कारा मे कैद नही कर देता? पर यह मानवीय दुर्बलता है। इस दुर्बलता से उबारने के लिए ही भगवान् महावीर ने आत्म-दीप की लौ जलाई थी।

मध्याह्न का सूर्य पूरी तीव्रता से तप रहा था। धरती का हर कोना प्रकाश की आभा से चमक उठा था। हर मनुष्य का शरीर प्रस्वेद की बूदो से अभिषिक्त हो रहा था। उस समय धनावह बाजार से छुट्टी पाकर घर आया। नौकर सब चले गए थे। पैर धोने के लिए जल लाने वाला भी कोई नही था। पूरा घर खाली था। चदना ने श्रेष्ठी को देखा। वह पानी लेकर पैर धुलाने आई। श्रेष्ठी ने उसे रोका। पर वह आग्रहपूर्वक श्रेष्ठी के पैर धोने लगी। उस समय उसकी केश-राशि विकीर्ण होकर भूमि को छूने लगी। उसे कीचड़ से बचाने के लिए श्रेष्ठी ने उसे अपने लीला-काष्ठ से उठा लिया और व्यवस्थित कर दिया। मूला वातायन मे बैठी-बैठी यह सब देख रही थी। श्रेष्ठी के मन मे कोई पाप नही था और चदना का मन भी निष्पाप था। पाप भरा था मूला के मन में। वह जाग उठा।

धनावह विश्राम कर फिर बाजार में चला गया। मूला घर के भीतर आई।

नौकर को भेजकर नाई को बुलाया। चंदना का सिर मुड़वा दिया। हाथ-पैरों मे बेडियां डाल दी। एक ओरे मे बिठा, उसका दरवाजा बन्द कर ताला लगा दिया। दास-दासियो को कड़ा निर्देश दे दिया कि इस चदना के बारे में श्रेष्ठी को कोई कुछ भी न कहे और न चंदना की उपस्थिति का अता-पता बताए। यदि किसी ने इस निर्देश की अवहेलना की तो उसके प्राण सुरक्षित नही होगे।

अपराह्न के भोजन का समय। श्रेष्ठी घर पर आया। भोजन के समय चदना पास रहती थी। आज वह दिखाई नहीं दी। श्रेष्ठी ने पूछा, 'चदना कहा है ?' सबसे एक ही उत्तर मिला, 'पता नहीं।' श्रेष्ठी ने सोचा, 'कही क्रीड़ा कर रही होगी या प्रासाद के ऊपरी कक्ष मे बैठी होगी।'

श्रेष्ठी दूकान के कार्य से निवृत्त होकर रात को फिर घर आया। चदना को वहा नही देखा। फिर पूछा और वही उत्तर मिला। श्रेष्ठी ने सोचा, जल्दी सो गई होगी। दूसरे दिन भी उसे नही देखा। श्रेष्ठी ने उसी कल्पना से अपने मन का समाधान कर लिया। तीसरे दिन भी वह दिखाई नही दी। तब श्रेष्ठी गम्भीर हो गया। उसने दास-दासियो को एकत्र कर कहा, 'बताओ, चदना कहा है ?' वे सब दुविधा मे पड गए। बताए तो मौत और न बताए तो मौत। एक ओर सेठानी का भय और दूसरी ओर श्रेष्ठी का भय। उन्हे सूझ नही रहा था कि वे क्या करें ? एक बूढ़ी दासी ने साहस बटोरकर सबकी समस्या सुलझा दी। जो मृत्यु के भय को चीर देता है, वह अपनी ही नहीं, अनेको की समस्या सुलझा देता है। उस स्थविरा दासी ने कहा, 'चदना इस ओरे मे बन्द है।'

'यह किसने किया ?' सभ्रम के साथ श्रेष्ठी ने पूछा।

'इसका उत्तर आप हमसे क्यो पाना चाहते हैं ?' स्वर को कुछ उद्धत करते हुए स्थविरा दासी ने कहा।

श्रेष्ठी बात की गहराई तक पहुच गया। उसने तत्काल दरवाजा खोला। बादलो की घोर घटा एक ही क्षण मे फट गई। निरभ्र आकाश मे सूर्य की भाति चदना का भाल ज्योति विकीर्ण करने लगा।

'यह क्या हुआ, पुत्री ! मैंने कल्पना ही नही की थी कि तुम्हारे साथ कोई ऐसा व्यवहार करेगा ?'

'पिताजी ! किसी ने कुछ नही किया। यह सब मेरे ही किसी अज्ञात सस्कार का सृजन है।'

चदना की उदात्त भावना और स्नेहिल वाणी ने श्रेष्ठी को शान्त कर दिया। वह बोला, 'मैं बहुत दुःखी हू, पुत्री ! तुम तीन दिन से भूखी-प्यासी हो।'

'कुछ नही, अब खा लूगी।'

श्रेष्ठी ने रसोई मे जाकर देखा, भोजन अभी बना नही है। भात बचे हुए नहीं है। केवल उबले हुए थोड़े उड़द बच रहे हैं। उसने सूर्प के कोने मे उन्हें डाला और

चदना के सामने लाकर रख दिया।

'पुत्री ! तुम खाओ। मैं लुहार को साथ लिये आता हूं'—इतना कहकर श्रेष्ठी घर से बाहर चला गया।

भगवान् महावीर वैशाली और कौशाम्बी के मध्यवर्ती गांवो में विहार कर रहे थे। उन्हे पता चला कि शतानीक ने विजयादशमी का उत्सव चपा को लूटकर मनाया है। उसके सैनिकों ने जीभरकर चपा को लूटा है और किसी सैनिक ने धारिणी और वसुमती का अपहरण कर लिया है। उनके सामने अहिंसा के विकास की आवश्यकता ज्वलंत हो उठी। वे इस चिंतन मे लग गए कि हिंसा कितना बड़ा पागलपन है। उसका खूनी पजा अपने सगे-सम्बन्धियो पर भी पड जाता है। कौन पद्मावती और कौन मृगावती ! दोनो एक ही पिता (महाराज चेटक) की प्रिय पुत्रिया। पद्मावती का घर उजड़ा तो उससे मृगावती को क्या सुख मिलेगा ? पर हिंसा के उन्माद मे उन्मत्त ये राजे बेचारी स्त्रियो की बात कहा सुनते है ? ये अपनी मनमानी करते है।

शक्तिशाली राजे शक्तिहीन राजाओ पर आक्रमण कर उनका राज्य हड़प लेते हैं। यह कितनी गलत परम्परा है। वे जान-बूझकर इस गलत परम्परा को पाल रहे है। क्या शतानीक अजर-अमर रहेगा ? क्या वह सदा इतना शक्तिशाली रहेगा ? कौन जानता है कि उसकी मृत्यु के बाद उसके राज्य पर क्या बीतेगा ? ये राजे अह से अन्धे होकर यथार्थ को भुला देते है। इस प्रकार की घटनाए मुझे प्रेरित कर रही है कि मैं अहिंसा का अभियान शुरू करूं।

भगवान् को फिर पता चला कि महारानी धारिणी मर गई और वसुमती दासी का जीवन जी रही है। इस घटना का उनके मन पर गहरा असर हुआ। नारी-जाति की दयनीयता और दास्य-कर्म—दोनो का चित्र उनकी आखो के सामने उभर आया। उन्होने मन-ही-मन इसके अहिंसक प्रतिकार की योजना बना ली।

साधना का बारहवा वर्ष चल रहा था। भगवान् कौशाम्बी आ गए। पौष मास का पहला दिन। भगवान् ने सकल्प किया, 'मैं दासी बनी हुई राजकुमारी के हाथ से ही भिक्षा लूगा, जिसका सिर मुडा हुआ है, हाथ-पैरो मे बेड़िया हैं, तीन दिन की भूखी है और आखो मे आसू है, जो देहलीज के बीच मे खडी है और जिसके सामने शूर्प के कोने मे उबले हुए थोड़े से उड़द पडे हैं।'[1]

चदना का यह चित्र भगवान् के प्रातिभज्ञान मे अकित हो गया। दासी के इस बीभत्स रूप मे ही उन्हे चदना के उज्ज्वल भविष्य का दर्शन हो रहा था।

भगवान् कौशाम्बी के घरो मे भिक्षा लेने गए। लोगो ने बड़ी श्रद्धा के साथ

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१६, ३१७।

उन्हें भोजन देना चाहा । पर भगवान् उसे लिये बिना ही लौट आए । दूसरे दिन भी यही हुआ । तीसरे-चौथे दिन भी यही हुआ । लोगो मे बातचीत का सिलसिला प्रारम्भ हो गया । भगवान् भिक्षा के लिए घरो मे जाते है पर भोजन लिये बिना ही लौट आते है, यह क्यों ? यह प्रश्न बार-बार पूछा जाने लगा ।

चार मास बीत गए । भगवान् का सत्याग्रह नही टूटा । कौशाम्बी के नागरिक यह जानते है कि भगवान् भोजन नही कर रहे हैं, पर यह नही जान पाए कि वे भोजन क्यो नही कर रहे हैं ? भगवान् इस विषय पर मौन हैं । उनका मौन-सकल्प दिन-दिन सशक्त होता जा रहा है ।

सुगुप्त कौशाम्बी का अमात्य है । उसकी पत्नी का नाम है नदा । वह श्रमणो की उपासिका है । भगवान् भिक्षा के लिए उसके घर पधारे । उसने भोजन लेने का बहुत आग्रह किया, पर भगवान् ने कुछ भी नही लिया । नदा मर्माहत-सी हो गई । तब उसकी दासी ने कहा, 'सामिणी ! इतना दु.ख क्यो ? यह तपस्वी कौशाम्बी के घरो मे सदा जाता है पर कुछ लिये बिना ही वापस चला आता है । चार महीनो से ऐसा ही हो रहा है, फिर आप इतना दु ख क्यो करती हैं ?'

दासी की यह बात सुन उसका अन्तस्तल और अधिक व्यथित हो गया ।

अमात्य भोजन के लिए घर आया । वह नदा का उदास चेहरा देख स्तब्ध रह गया । उसने उदासी का कारण खोजा, पर कुछ समझ नही पाया ।

नदा की गभीरता पल-पल बढ रही थी । उसकी आकृति पर भावो की रेखा उभरती और मिटती जा रही थी । अमात्य ने आखिर पूछ लिया, 'प्रिये ! आज इतनी उदासी क्यो है ?'

'बताने का कोई अर्थ हो तो बताऊ, अन्यथा मौन ही अच्छा है ।'

'बिना जाने अर्थ या अनर्थ का क्या पता लगे ?'

'क्या अमात्य का काम समग्र राज्य की चिन्ता करना नही है ?'

'अवश्य है ?'

'क्या आपको पता है, राजधानी मे क्या घटित हो रहा है ?'

'मुझे पता है कि समूचे देश मे और उसके आसपास क्या घटित हो रहा है ?'

'इसमे आपका अह बोल रहा है, वस्तुस्थिति यह नही है । क्या आपको पता है, इन दिनो भगवान् महावीर कहा हैं ?'

'मैं नही जानता, किन्तु जानना चाहता हू ।'

'भगवान् हमारे ही नगर मे विहार कर रहे हैं ।'

'तब तो तुम्हे प्रसन्नता होनी चाहिए, उदासी क्यो ?'

'भगवान् की उपस्थिति मेरे लिए प्रसन्नता का विषय है, किन्तु यह जानकर मै उदास हो गई कि भगवान् चार महीनो से भूखे हैं ।'

'तपस्या कर रहे होगे ?'

'व्यवस्था होती तो वे भिक्षा के लिए नहीं निकलते। वे प्रतिदिन अनेक घरों मे जाते हैं, किन्तु कुछ लिये बिना ही वापस चले आते हैं।'

'हमारे गुप्तचरों ने यह सूचना कैसे नहीं दी ?' अमात्य ने भृकुटी तानते हुए कहा, 'और मैं सोचता हू कि महाराज शतानीक को भी इसका पता नही है और मेरा खयाल है कि महारानी मृगावती भी इस घटना से परिचित नही हैं। मैं अवश्य ही इस घटना के कारण का पता लगाऊगा।'

प्रतिहारी विजया महारानी के कक्ष मे उपस्थित हो गई। महारानी ने उसकी भावभगिमा देख उसकी उपस्थिति का कारण पूछा। वह बोली, 'देवि ! मैं नदा के घर पर एक महत्त्वपूर्ण बात सुनकर आई हू। क्या आप उसे जानना चाहेगी ?'

'उसका किससे सम्बन्ध है ?'

'भगवान् महावीर से।'

'तब अवश्य सुनना चाहूगी।'

विजया ने नदा के घर पर जो सुना वह सब कुछ सुना दिया। महारानी का मन पीडा से सकुल हो गया। कुछ देर बाद महाराज अन्त:पुर मे आए और वे भी महारानी की पीडा के सभागी हो गए।

महाराज शतानीक और अमात्य सुगुप्त ने इस विषय पर मत्रणा की। उन्होने उपाध्याय तथ्यवादी को बुलाया। वह बहुत बडा धर्मशास्त्री और ज्ञानी था। महाराज ने उसके सामने समस्या प्रस्तुत की। पर वह कोई समाधान नही दे सका।

महाराज खिन्न हो गए। उन्होने उद्धत स्वर मे कहा, 'अमात्यवर ! मुझे लगता है कि हमारा गुप्तचर विभाग निकम्मा हो गया है। मैं जानना चाहता हू, इसका उत्तरदायी कौन है ? क्या मेरा अमात्य इतनी बडी घटना की जानकारी नही दे पाता ? क्या मेरा अधिकारी-वर्ग इतना भी नही जानता कि महारानी महाश्रमण पार्श्वनाथ की शिष्या है ? क्या वह नही जानता कि भगवान् महावीर महारानी के ज्ञाति है ? भगवान् हमारी राजधानी मे विहार करें और उन्हे श्रमणोचित भोजन न मिले, यह सचमुच हमारे राज्य का दुर्भाग्य है। अमात्यवर ! तुम शीघ्रातिशीघ्र ऐसी व्यवस्था करो जिससे भगवान् भोजन स्वीकार करें।'

अमात्य भगवान् के चरणो मे उपस्थित हो गया। उसने महाराज, महारानी, अपनी पत्नी और समूचे नगर की हार्दिक भावना भगवान् के सामने प्रस्तुत की और भोजन स्वीकार करने का विनम्र अनुरोध किया। किन्तु भगवान् का मौन-भंग नही हुआ। अमात्य निराश हो अपने घर लौट आया।

भगवान् की चर्या उसी क्रम से चलती रही। प्रतिदिन घरो में जाना और कुछ लिये बिना वापस चले आना। लोग हैरान थे। समूचे नगर मे इस बात की चर्चा फैल गई। पाचवा महीना पूरा का पूरा उपवास में बीत गया। छठे महीने के पचीस दिन चले गए।

नगर के लोग भगवान् के भोजन का समाचार सुनने को पल-पल अधीर थे। उनकी उत्सुकता अब अधीरता मे बदल गई थी। सब लोग अपना-अपना आत्मालोचन कर रहे थे। महाराज शतानीक ने भी आत्मालोचन किया। कौशाम्बी पर आक्रमण और उसकी लूट का पाप उनकी आखो के सामने आ गया। महाराज ने सोचा--हो सकता है, भगवान् मेरे पाप का प्रायश्चित्त कर रहे हों।

चदना को अतीत की स्मृति हो आई। उसे अपना वैभवपूर्ण जीवन स्वप्न-सा लगने लगा। वह चपा के प्रासाद की स्मृतियो मे खो गई। वे उडद उसके सामने पड़े रहे।

आज छठे महीने का छब्बीसवा दिन था। भगवान् महावीर माधुकरी के लिए निकले। अनेक लोग उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। भगवान् धनावह के घर मे गए। वे रसोई मे नही रुके। सीधे चदना के सामने जा ठहरे। वह देहलीज के बीच बैठी थी। उसे किसी के आने का आभास मिला। वह खडी हो गई। उसने सामने देखे बिना ही कल्पना की—पिताजी लुहार को लेकर आ गए हैं। अब मेरे बधन टूट जाएंगे।

पर उसके सामने तो जगत्पिता खडे हैं। उसकी आखें सामने की ओर उठी और उसका अन्त.करण बोल उठा, 'ओह ! भगवान् महावीर आ रहे हैं।' वह हर्षातिरेक से उत्फुल्ल हो गई। उसकी आखो मे ज्योति-दीप जल उठे। उसका कण-कण प्रसन्नता से नाच उठा। वह विपदा को भूल गई।

भगवान् उसके सामने जाकर रुके। उन्होने देखा, यह वही वसुमती है, जिसके दैन्य की प्रतिमा मेरे मानस मे अकित है। केवल आसू नही हैं। भगवान् वापस मुडे। चन्दना की आशा पर तुषारापात हो गया। उसके पैरो से धरती खिसक गई। आखो मे आसू की धार बह चली। वह करुण स्वर मे बोली, 'भगवन् ! मेरा विश्वास था, तुम नारी-जाति के उद्धारक हो, दास-प्रथा के निवारक हो। पर मेरे हाथ से आहार न लेकर तुमने मेरे विश्वास को झुठला दिया। इस दीन दशा मे मैं तुम्हे ही अपना मानती थी। तुम मेरे नही हो, यह तुमने प्रमाणित कर दिया। बुरे दिन आने पर कौन किसका होता है ? मैंने इस शाश्वत सत्य को क्यो भुला दिया ?'

चदना का मन आत्म-ग्लानि से भर गया। वह सिसक-सिसककर रोने लगी।

भगवान् ने मुड़कर देखा—मेरे सकल्प की शर्तें पूर्ण हो चुकी हैं। वे फिर चदना के सामने जा खडे हुए। उसने उबले हुए उडद का आहार भगवान् को दिया। उसके मन मे हर्ष का इतना अतिरेक हुआ कि उसके बधन टूट गए। उसका शरीर पहले से अधिक चमक उठा।

'भगवान् ने धनावह श्रेष्ठी की दासी के हाथ से आहार ले लिया'—यह बात बिजली की भाति सारे नगर मे फैल गई। हजारो-हजारो लोग धनावह के घर के

सामने एकत्र हो गए। दासवर्ग हर्ष के मारे उछलने लगा। महाराज शतानीक भी वहां पहुंच गए। महारानी मृगावती उनके साथ थी। नदा हर्ष से उत्फुल्ल हो रही थी। अमात्य भी एक बहुत बडी चिन्ता से मुक्त हो गया।

धनावह लुहार को साथ लिये अपने घर पहुचा। वह अनेक प्रकार की बातें सुन रहा था। उसका मन आश्चर्य से आदोलित हो गया। उसने भीतर जाकर देखा—चदना दिव्य-प्रतिमा की भाति अचल खडी है। वह हर्ष-विभोर हो गया।

अब चदना के बारे में लोगो की जिज्ञासा बढी। वे उसके दर्शन को लालायित हो उठे। वह घर से बाहर आई। चदना के जय-जयकार के स्वर मे जनता का तुमुल विलीन हो गया।

सपुल महाराज दधिवाहन का कचुकी था। चपा-विजय के समय महाराज शतानीक उसे बदी बना कौशाबी ले आए थे। वह आज ही राजाज्ञा से मुक्त हुआ था। वह महाराज के साथ आया। उसने चदना को पहचान लिया। वह दौडा। चदना के पैरो मे नमस्कार कर रोने लगा। चदना ने उसे आश्वस्त किया। दोनो एक-दूसरे को देख अतीत के गहरे चिंतन मे खो गए।

महाराज ने कचुकी से पूछा, 'यह कन्या कौन है ?'

कचुकी ने कहा, 'महाराज दधिवाहन की पुत्री वसुमती है।'

मृगावती बोली, 'तब तो यह मेरी बहन की पुत्री है।'

महाराज ने चदना से राजप्रासाद मे चलने का आग्रह किया। उसने उसे ठुकरा दिया। महारानी ने फिर बहुत आग्रह किया। चदना ने उसे फिर ठुकरा दिया। महारानी ने चदना की ओर मुडकर पूछा, 'तुम हमारे प्रासाद मे क्यो नहीं चलना चाहती ?'

'दासी की अपनी कोई चाह नही होती।'

'तुम दासी कैसे ?'

'यह तो महाराज शतानीक ही जानें, मै क्या कहू ?'

महाराज का सिर लज्जा से झुक गया। उसे अपने युद्धोन्माद पर पछतावा होने लगा। वह चदना के दासी बनने का कारण समझ गया। उसने धनावह को बुलाया। चदना सदा के लिए दासी-जीवन से मुक्त हो गई। भगवान् का मौन सत्याग्रह दासी का मूल्य बढाकर दासत्व की जड पर तीव्र कुठाराघात कर गया।[1]

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१६-३२०।

१९

कैवल्य-लाभ

प्राची की अपूर्व अरुणिमा। बाल-सूर्य का रक्तिम बिम्ब। सघन तिमिर क्षण भर मे विलीन हो गया, जैसे उसका अस्तित्व कभी था ही नही। कितना शक्तिशाली अस्तित्व था उसका जिसने सब अस्तित्वो पर आवरण डाल रखा था।

भगवान् महावीर आज अपूर्व आभा का अनुभव कर रहे हैं। उन्हे सूर्योदय का आभास हो रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अस्तित्व पर पडा हुआ परदा अब फटने को तैयार है।

भगवान् गोदोहिका आसन मे बैठे हैं। दो दिन का उपवास है। सूर्य का आतप ले रहे हैं। शुक्लध्यान की अतरिका मे वर्तमान हैं। ध्यान की श्रेणी का आरोहण करते-करते अनावरण हो गए। कैवल्य का सूर्य सदा के लिए उदित हो गया।

कितना पुण्य था वह क्षेत्र—जभियग्राम का बाहरी भाग। ऋजुबालिका नदी का उत्तरी तट। जीर्ण चैत्य का ईशानकोण। श्यामाक गृहपति का खेत। वहां शालवृक्ष के नीचे कैवल्य का सूर्योदय हुआ।

कितना पुण्य था वह काल—वैशाख शुक्ला दशमी का दिन। चौथा प्रहर। विजय मुहूर्त। चन्द्रमा के साथ उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र का योग। इन्ही क्षणो मे हुआ कैवल्य का सूर्योदय।

भगवान् अब केवली हो गए—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी। उनमे सब द्रव्यो और सब पर्यायो को जानने की क्षमता उत्पन्न हो गई। उनकी अनावृत चेतना मे सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ पदार्थ अपने आप प्रतिबिंबित होने लगे। न कोई जिज्ञासा और न कोई जानने का प्रयत्न। सब कुछ सहज और सब कुछ आत्मस्थ। शान्त सिन्धु की भाति निस्पद और निश्चेष्ट। विकल्पों का ज्वार-भाटा

विलीन हो गया। न तूफान, न ऊर्मियां और न तुमुल कोलाहल। शान्त, शान्त और प्रशान्त।[1]

कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् भगवान् मुहूर्त्त भर वहां ठहरे, फिर लक्ष्य की ओर गतिमान हो गए।[2]

---

१. आयारचूला, १५।३८, ३९, आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३२२, ३२३ ।
२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३२४ ।

२०

तीर्थ और तीर्थंकर

भगवान् महावीर वैशाख शुक्ला एकादशी को मध्यम पावा पहुचे। महासेन उद्यान मे ठहरे।[1] अन्तर् मे अकेले और बाहर भी अकेले। न कोई शिष्य और न कोई सहायक।

इतने दिनो तक भगवान् साधना मे व्यस्त थे। वह निष्पन्न हो गई। अब उनके पास समय ही समय है। उनके मन मे प्राणियो के कल्याण की सहज प्रेरणा स्फूर्त हो रही है।

मध्यम पावा मे सोमिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसने एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया। उसे सपन्न करने के लिए ग्यारह यज्ञविद् विद्वान् आए।

इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति—ये तीनो सगे भाई थे। इनका गोत्र था गौतम। ये मगध के गोबर गाव मे रहते थे। इनके पाच-पाच सौ शिष्य थे।

दो विद्वान् कोलाग सन्निवेश से आए। एक का नाम था व्यक्त और दूसरे का सुधर्मा। व्यक्त का गोत्र था भारद्वाज और सुधर्मा का गोत्र था अग्नि वैश्यायन। इनके भी पाच-पाच सौ शिष्य थे।

दो विद्वान् मौर्य सन्निवेश से आए। एक का नाम था मडित और दूसरे का मौर्यपुत्र। मडित का गोत्र था वाशिष्ट और मौर्यपुत्र का गोत्र था काश्यप। इनके साढे तीन सौ, साढे तीन सौ शिष्य थे।

अकपित मिथिला से, अचलभ्राता कौशल से, मेतार्य तुगिक से और प्रभास राजगृह से आए। इनमे पहले का गोत्र गौतम, दूसरे का हारित और शेष दोनो का कौडिन्य था। इनके तीन-तीन सौ शिष्य थे।

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३२४।

ये ग्यारह विद्वान् और इनके ४४०० शिष्य सोमिल की यज्ञवाटिका में उपस्थित थे।

भगवान् महावीर ने देखा, अब जनता को अहिंसा की दिशा मे प्रेरित करना है। जो उसका महाव्रती बनना चाहे, उसके लिए महाव्रती और जो अणुव्रती बनना चाहे उसके लिए अणुव्रती बनने का पथ प्रशस्त करना है। बलि, दासता आदि सामाजिक हिंसा का उन्मूलन करना है। इस कार्य के लिए मुझे कुछ सहयोगी व्यक्ति चाहिए। वे व्यक्ति यदि ब्राह्मण वर्ग के हो तो और अधिक उपयुक्त होगा।

भगवान् ने प्रत्यक्ष ज्ञान से देखा—इन्द्रभूति आदि धुरधर विद्वान् यज्ञशाला मे उपस्थित हैं। उनकी योग्यता से भगवान् खिच गए और भगवान् के सकल्प से वे खिचने लगे।

उद्यानपाल आज एक नया सवाद लेकर राजा के पास पहुचा। वह बोला, 'महाराज ! आज अपने उद्यान मे भगवान् महावीर आए हैं।' राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उद्यानपाल ने फिर कहा, 'भगवान् आज बोल रहे हैं।' यह सुन राजा को आश्चर्य हुआ।

'महाराज ! मैं निश्चयपूर्वक नही कह सकता, फिर भी कुछ लोगो को मैंने यह चर्चा करते हुए सुना है कि भगवान् आज धर्म का उपदेश देंगे,' उद्यानपाल ने कहा।

राजा प्रसन्नता के सागर मे तैरने लगा। वह स्वय महासेन वन मे गया और नागरिको को इसकी सूचना करा दी।

इन्द्रभूति ने देखा—आज हजारो लोग एक ही दिशा मे जा रहे हैं। उनके मन मे कुतूहल उत्पन्न हुआ। उन्होने यज्ञशाला के सदेश-वाहक को लोकयात्रा का कारण जानने को भेजा। सदेश-वाहक ने आकर बताया, 'आज यहा श्रमणो के नए नेता आए हैं। उनका नाम महावीर है। वे अपनी साधना द्वारा सर्वज्ञ बन गए है। आज उनका पहला प्रवचन होने वाला है।[1] इसलिए हजारो-हजारो लोग बडी उत्सुकता से वहा जा रहे हैं।'

संदेश-वाहक की बात सुन इन्द्रभूति तिलमिला उठे। उन्होने मन ही मन सोचा—ये श्रमण हमारी यज्ञ-सस्था को पहले से क्षीण करने पर तुले हुए हैं। श्रमण नेता पार्श्व ने हमारी यज्ञ-सस्था को काफी क्षति पहुचाई है। उनके शिष्य आज भी हमे परेशान किये हुए हैं। जनता को इस प्रकार अपनी ओर आकृष्ट करने वाले इस नए नेता का उदय क्या हमारे लिए खतरे की घटी नही है ? मुझे

---

१. दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् महावीर ने केवलज्ञान-प्राप्ति के ६५ दिन बाद श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन पहला प्रवचन किया था।

इस उगते अकुर को ही उखाड फेंकना चाहिए। यह चिनगारी है। इसे फैलने का अवसर देना समझदारी नही होगी। बीमारी का इलाज प्रारम्भ मे ही न हो तो फिर वह असाध्य बन जाती है। अब विलम्ब करना श्रेय नही है। मैं वहां जाऊ और श्रमण नेता को पराजित कर वैदिक धर्म मे दीक्षित करू। इसके दो लाभ होंगे—

१—हमारी यज्ञ-सस्था को एक समर्थ व्यक्ति प्राप्त हो जाएगा।

२—हजारों-हजारों लोग श्रमण-धर्म को छोड वैदिक धर्म मे दीक्षित हो जाएगे।

इन्द्रभूति ने इस विषय पर गंभीरता से सोचा। अपनी सफलता के मधुर स्वप्न सजोए। शिष्यो को साथ ले, वहां से चलने को तैयार हो गए। इतने मे ही उन्हे कुछ लोग वापस आते हुए दिखाई दिए। इन्द्रभूति ने उनसे पूछा—

'आप कहा से आ रहे हैं ?'

'भगवान् महावीर के समवसरण से।'

'आप लोगों ने महावीर को देखा है ? वे कैसे हैं ?'

'क्या बताए, इतना प्रभावशाली व्यक्ति हमने कही नही देखा। उनके चेहरे पर तप का तेज दमक रहा है।'

'वहा कौन जा सकता है ?'

'किसी के लिए कोई प्रतिबध नही है।'

'वहा काफी लोग होंगे ?'

'हजारो-हजारो की भीड। पैर रखने को स्थान नही। फिर भी जो लोग जाते हैं, वे निराश होकर नही लौटते।'

इन्द्रभूति के पैर आगे बढते-बढते रुक गए। मन मे सन्देह उत्पन्न हो गया। उन्होंने सोचा—महावीर कोई साधारण व्यक्ति नही है। लोगो की बातो से लगता है कि उनके पास साधना का बल है, तपस्या का तेज है। क्या मैं जाऊं ? मन ही मन यह प्रश्न उभरने लगा। इसका उत्तर उनका अहं दे रहा था। अपने पाडित्य पर उन्हें गर्व था। वे शास्त्र-चर्चा के मल्लयुद्ध मे अनेक पडितों को परास्त कर चुके थे। वे अपने को अजेय मान रहे थे। इस सारी परिस्थिति से उत्पन्न अहं ने उन्हें फिर महावीर के पास जाने को प्रेरित किया। उनके पैर आगे बढे। उनके पीछे हजारो पैर और उठ रहे थे। शिष्यो द्वारा उच्चारित विरुदावलियो से आकाश गूज उठा। पावा के नागरिको का ध्यान उनकी ओर केन्द्रित हो गया। राजपथ स्तब्ध हो गए।

इन्द्रभूति महासेन वन के बाहरी कक्ष मे पहुंचे। समवसरण को देखा। उनकी आंखों मे अद्भुत रग-रूप तैरने लगा। उनका मन अपनत्व की अनुभूति से उद्वेलित हो गया। उन्हें लगा जैसे उनका अहं विनम्रता की धारा में प्रवाहित हो रहा है।

उनकी गति में कुछ शिथिलता आ गई। उत्साह कुछ मंद हो गया। पर परम्परा का मोह एक ही धक्के मे कैसे टूट जाता ? वे साहस बटोर महावीर के पास पहुंच गए।

भगवान् ने इन्द्रभूति को देखा। अपनी आंखो में प्रवहमान मैत्री की सुधा को उनकी आखो में उडेलते हुए बोले, 'गौतम इन्द्रभूति ! तुम आ गए ?'

इन्द्रभूति प्रतिमा की भांति निश्चल-मौन खड़े रहे। उनके मन मे विकल्प उठा—महावीर मेरा नाम कसे जानते हैं ? मैं इनसे कभी मिला नही हू। मेरा इनसे कोई परिचय नही है। फिर इन्होने कैसे कहा, 'इन्द्रभूति ! तुम आ गए ?'

इन्द्रभूति का अह चोट खाए साप की भांति रह-रहकर फुफकार उठता था। वह एक बार फिर बोल उठा, 'मुझे कौन नही जानता ? मेरे नाम से मालव तक के लोग कांपते हैं। सौराष्ट्र मे मेरी धाक है। काशी-कौशल के पडितो का मैंने मान-मर्दन किया है। क्या सूर्य किसी से छिपा है ? महावीर बड़े चतुर हैं। वे मेरा नाम-गोत्र और परिचय बताकर मुझे अपनी सर्वज्ञता के जाल मे फसाना चाहते हैं, पर मैं क्या भोली-भाली मछली हू जो इनके जाल मे फस जाऊ ? मैं इनके मायाजाल मे कभी नही फसूगा।'

इन्द्रभूति अपने ही द्वारा गूथे हुए विकल्प के जाल मे उलझ रहे थे। भगवान् महावीर ने सुलझाव की भाषा में कहा, 'इन्द्रभूति ! तुम्हे जीव के अस्तित्व के बारे मे सन्देह है। क्यो, ठीक है न ?'

इन्द्रभूति के पैरो के नीचे से धरती खिसक गई। वे अवाक् रह गए। अपने गूढ सदेह का प्रकाशन उनके लिए पहेली बन गया। वे अपने आपसे पूछने लगे— क्या महावीर सचमुच सर्वज्ञ हैं ? इन्होंने मेरे मन के अन्तस्तल मे पले हुए सदेह को कैसे जाना ? मैंने आज तक अपना सदेह किसी के सामने प्रकट नही किया। फिर इन्हे उसका पता कैसे लगा ? उन्होंने अपने आपको सबोधित कर कहा, 'इन्द्रभूति! आज तुम सचमुच किसी जाल में फंस रहे हो। इससे छुटकारा सभव नही। इसकी पकड मजबूत होती जा रही है।'

भगवान् ने इन्द्रभूति को फिर संबोधित किया, 'इन्द्रभूति ! तुम्हें अपने अस्तित्व में सदेह क्यो ? जिसका पूर्व और पश्चिम नही है, उसका मध्य कैसे होगा ? वर्तमान का अस्तित्व ही अतीत और भविष्य के अस्तित्व का साक्ष्य है। एक परमाणु भी अपने अस्तित्व से च्युत नहीं होता तब मनुष्य अपने अस्तित्व से च्युत कैसे होगा ? यह अमिट लौ है, जलती रही है और जलती रहेगी। इसको अस्वीकार नही किया जा सकता।'

'सूक्ष्म तत्त्व का अस्वीकार करें तो गतितत्त्व और आकाश का स्वीकार कैसे किया जाएगा ? यह जीव इन्द्रियातीत सत्य है। इसे इन्द्रियों से अभिभूत मत करो किन्तु अतीन्द्रियज्ञान से इसका साक्षात् करो।'

भगवान् की वाणी के पीछे सत्य बोल रहा था। इन्द्रभूति का ग्रन्थि-भेद हो गया। उन्हे अपने अस्तित्व की अनुभूति हुई। उनकी आखो मे बिजली कौंध गई। वे अपने अस्तित्व का साक्षात् करने को तडप उठे। वे भावावेश मे बोले, 'भते ! मैं आत्मा का साक्षात् करना चाहता हू। आप मेरा मार्ग-दर्शन करें और मुझे अपनी शरण मे ले लें।'

भगवान् ने कहा, 'जैसी तुम्हारी इच्छा।'

इन्द्रभूति ने अपने शिष्यो से मत्रणा की। उन सबने अपने गुरु के पद-चिह्नों पर चलने की इच्छा प्रकट की। इन्द्रभूति अपने पाच सौ शिष्यो सहित भगवान् की शरण मे आ गए, आत्म-साक्षात्कार की साधना मे दीक्षित हो गए।

इन्द्रभूति ने श्रमण-नेता के पास दीक्षित होकर ब्राह्मणो की गौरवमयी परम्परा के सिर पर फिर एक बार सुयश का कलश चढा दिया। ब्राह्मण विद्वान् बहुत गुणग्राही और सत्यान्वेषी रहे हैं। उनकी गुणग्राहिता और सत्यान्वेषी मनोवृत्ति ने ही उन्हे सहस्राब्दियो तक विद्या और चरित्र मे शिखरस्थ बनाए रखा है।

इन्द्रभूति की दीक्षा का समाचार जल मे तेल-बिन्दु की भाति सारे नगर में फैल गया। अग्निभूति और वायुभूति ने परस्पर मत्रणा की। उन्होने सोचा, 'भाई जिस जाल मे फसा है, वह साधारण तो नही है। फिर भी हमे उसकी मुक्ति का प्रयत्न करना चाहिए।'

अग्निभूति अपने पाच सौ शिष्यो के साथ इन्द्रभूति को उस इन्द्रजालिक के जाल से मुक्त कराने को चले। जनता मे बडा कुतूहल उत्पन्न हो गया। लोग परस्पर पूछने लगे, 'अब क्या होगा ? इन्द्रभूति श्रमणनेता के जाल से मुक्त होंगे या अग्निभूति उसमे फस जाएगे ?' कुछ लोगो ने कहा—'दोनों भाई मिलकर महावीर का सामना कर सकेंगे और उन्हे अपने मार्ग पर ले जाएगे।' कुछ लोगों ने इसका प्रतिकार किया। वे बोले, 'इन्द्रभूति क्या कम विद्वान् था ! यह कोई दूसरा ही जादू है। श्रमणनेता के पास जाते ही विद्वत्ता की आच धीमी हो जाती है। उनके सामने जाते ही मनुष्य विचार-शून्य-से हो जाते हैं। हमें स्पष्ट दीख रहा है कि अग्निभूति की भी वही दशा होगी जो इन्द्रभूति की हुई है।'

अग्निभूति अब चर्चा के केन्द्र बन चुके थे। वे अनेक प्रकार की चर्चा सुनते हुए महासेन वन के बाहरी कक्ष मे पहुचे। वहा पहुंचते ही उनकी वही गति हुई जो इन्द्रभूति की हुई थी। वे समवसरण के भीतर गए। भगवान् ने उन्हें वैसे ही सबोधित किया, 'गौतम अग्निभूति ! तुम आ गए ?'

अग्निभूति को अपने नाम-गोत्र के सबोधन पर आश्चर्य हुआ। उनका आश्चर्यचकित मन विकल्पों की सृष्टि कर रहा था। इधर भगवान् ने उनके आश्चर्य पर गम्भीर प्रहार करते हुए कहा, 'अग्निभूति ! तुम्हें कर्म के बारे में

सन्देह है। क्यो, ठीक है न ?'

अग्निभूति इन्द्रभूति के सामने देखने लगे। ऐसा लग रहा था जैसे अपने भाई से कुछ निर्देश चाह रहे हों। पर भाई क्या कहे ? उनका सिर अपने आप श्रद्धानत हो गया। वे बोले, 'भते ! मेरा सर्वथा अप्रकाशित सन्देह प्रकाश में आ गया, तब उसका समाधान भी प्रकाश मे आना चाहिए।'

भगवान् ने अग्निभूति के विचार का समर्थन किया। 'अग्निभूति ! क्या तुम नही जानते, क्रिया की प्रतिक्रिया होती है ?'

'भंते ! जानता हूं, क्रिया की प्रतिक्रिया होती है।'

'कर्म और क्या है, क्रिया की प्रतिक्रिया ही तो है। क्या तुम नहीं जानते, हर कार्य के पीछे कारण होता है ?'

'भते ! जानता हू।'

'मनुष्य की आन्तरिक शक्ति के विकास का तारतम्य दृष्ट है, किन्तु उसकी पृष्ठभूमि मे रहा हुआ कारण अदृष्ट है। वही कर्म है।'

'भते ! उस तारतम्य का कारण क्या परिस्थिति नही है ?'

'परिस्थिति निमित्त कारण हो सकती है पर वह मूल कारण नही है। परिस्थिति की अनुकूलता मे अकुर फूटता है, पर वह अंकुर का मूल कारण नही है। उसका मूल कारण बीज है। विकास का तारतम्य परिस्थिति से प्रभावित होता है, पर उसका मूल कारण परिस्थिति नही है, किन्तु कर्म है।'

अग्निभूति की तार्किक क्षमता काम नहीं कर रही थी। भगवान् के प्रथम दर्शन मे ही उनमे शिष्यत्व की भावना जाग उठी थी। शिष्यत्व और तर्क—दोनो एक साथ कैसे चल सकते हैं ? वे लबी चर्चा के बिना ही सबुद्ध हो गए। वे आए थे इन्द्रभूति को वापस ले जाने के लिए, पर नियति ने उन्हे इन्द्रभूति का साथ देने को विवश कर दिया। वे अपने पाच सौ शिष्यो के साथ भगवान् की शरण मे आ गए।

पावा की जनता कुछ नई घटना घटित होने की प्रतीक्षा मे थी। उसने अग्निभूति की दीक्षा का सवाद बडे आश्चर्य के साथ सुना। वह वायुभूति के कानो तक पहुचा। वे चकित रह गए। उनमे सघर्ष की अपेक्षा जिज्ञासा का भाव अधिक था। उन्होंने सोचा—श्रमणनेता मे ऐसी क्या विशेषता है, जिसने मेरे दोनो बडे भाइयो को पराजित कर दिया। मैं जानता हू, मेरे भाई तर्कबल से पराजित होने वाले नहीं हैं। वे श्रमणनेता की आत्मानुभूति से पराजित हुए हैं। वायुभूति के मन में भगवान् को देखने की उत्कंठा प्रबल हो गई। वे अपने पांच सौ शिष्यों को साथ लेकर भगवान् के पास पहुंच गए।

भगवान् ने उन्हे सबोधित कर कहा, 'वायुभूति ! तुम्हारी वह धारणा संशोधनीय है कि जो शरीर है वही जीव है। मैं साक्षात् देखता हूं कि शरीर और

जीव एक नही हैं। ये दोनो भिन्न हैं, एक अचेतन और दूसरा चेतन।'

'भते ! क्या इस विषय का साक्षात् किया जा सकता है ?'

'निश्चित ही किया जा सकता है।'

'क्या यह मेरे लिए भी सभव है ?'

'उन सबके लिए सभव है जो आत्मवादी हैं और आत्मा के शक्ति-स्रोतों को विकसित करना जानते हैं।'

वायुभूति के मन मे एक प्रबल प्यास जाग गई। वे आत्म-साक्षात्कार करने के लिए अधीर हो उठे। उन्होने उसी समय भगवान् से आत्मवाद की दीक्षा स्वीकार कर ली।

भगवान् का परिवार कुछ ही घटों मे बडा हो गया। वर्षों तक वे अकेले रहे। आज पन्द्रह सौ शिष्य उन्हे घेरे बैठे हैं और दरवाजा अभी बन्द नही है।

यज्ञशाला मे एक विचित्र स्थिति निर्मित हो गई। उसके आयोजक चिंता मे डूब गए। यज्ञ की असफलता उनके चेहरे पर झलकने लगी। सर्वत्र उदासी का वातावरण छा गया। आयोजक वर्ग ने अन्य विद्वानो को श्रमणनेता के पास जाने से रोकने के प्रयत्न शुरू कर दिए।

पैसे के पास पैसा जाता है। धनात्मक शक्ति ऋणात्मक शक्ति को अपनी ओर खीच लेती है। महावीर ने शेष विद्वानो को इस प्रकार खीचा कि वे वहा जाने से रुक नही सके।

एक-एक विद्वान् आते गए और भगवान् से सबोधन और अपनी धारणा मे सशोधन पाकर दीक्षित होते गए। उनकी धारणाए थी—

व्यक्त—पचभूत का अस्तित्व नही है।

सुधर्मा—प्राणी मृत्यु के बाद अपनी ही योनि मे उत्पन्न होता है।

मंडित—बध और मोक्ष नही है।

मौर्यपुत्र—स्वर्ग नही है।

अंकपित—नरक नही है।

अचलभ्राता—पुण्य और पाप पृथक् नही हैं।

मेतार्य—पुनर्जन्म नही है।

प्रभास—मोक्ष नही है।[1]

भगवान् ने परिषद् के सम्मुख धर्म की व्याख्या की। उसके दो अग थे—अहिंसा और समता। भगवान् ने कहा, 'विषमता से अहिंसा और हिंसा से व्यक्ति के चरित्र का पतन होता है। व्यक्ति-व्यक्ति के चरित्र-पतन से सामाजिक चरित्र का पतन होता है। इस पतन को रोकने के लिए अहिंसा और उसकी प्रतिष्ठा के

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ६४४-६६०; आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३३४-३३६।

लिए समता आवश्यक है।'

हिंसा, घृणा, पशुबलि और उच्च-नीचता के दमनपूर्ण वातावरण में भगवान् का प्रवचन अमा की सघन अधियारी में सूर्य की पहली किरण जैसा लगा। जनता ने अनुभव किया कि आज इस प्रकाश की अपेक्षा है। महावीर जैसे समर्थ धर्मनेता के द्वारा वह पूर्ण होगी। उसकी सपन्नता में अपनी आहुति देने के लिए अनेक स्त्री-पुरुष भगवान् के चरणो मे समर्पित हो गए।

चन्दनबाला साध्वी बनने के लिए भगवान् के सामने उपस्थित हुई। वैदिक धर्म के सन्यासी स्त्री को दीक्षित करने के विरोधी थे। श्रमण-परम्परा मे स्त्रिया दीक्षित होती थीं। भगवान् पार्श्व की साध्विया उस समय विद्यमान थी। किन्तु उनका नेतृत्व शिथिल हो गया था। उनमे से अनेक साध्विया दीक्षा को त्याग परिव्राजिकाए बन चुकी थी।

भगवान् महावीर स्त्री के प्रति वर्तमान दृष्टिकोण मे परिवर्तन लाना चाहते थे। वैदिक प्रवक्ता उसके प्रति हीनता का प्रसार करते थे। भगवान् को वह इष्ट नही था। उन्होने साध्वी-सघ की स्थापना कर स्त्री जाति के पुनरुत्थान कार्य को फिर गतिशील बना दिया।

भगवान् ने चदना को दीक्षित कर उसे साध्वी-सघ का नेतृत्व सौप दिया। साधु-सघ का नेतृत्व इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वानो को सौपा।

भगवान् महावीर गणतत्र के वातावरण मे पले-पुसे थे। सत्ता और अर्थ के विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त उनके रक्त मे समाया हुआ था। वर्तमान मे वे अहिंसा के वातावरण मे जी रहे थे। उनमे केन्द्रीकरण के लिए कोई अवकाश नही है।

भगवान् ने साधु-सघ को नौ गणो मे विभक्त कर उसकी व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण कर दिया। इन्द्रभूति आदि को गणधर के रूप मे नियुक्ति की। प्रथम सात गणो का नेतृत्व एक-एक गणधर को सौपा। आठवें गण का नेतृत्व अकपित और अचलभ्राता तथा नौवें गण का नेतृत्व मेतार्य और प्रभास को सौंपकर सयुक्त नेतृत्व की व्यवस्था की।

जो लोग साधु-जीवन की दीक्षा लेने मे समर्थ नही थे, किन्तु समता धर्म मे दीक्षित होना चाहते थे, उन्हे भगवान् ने अणुव्रत की दीक्षा दी। वे श्रावक-श्राविका कहलाए।

भगवान् महावीर साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका—इस तीर्थ-चतुष्टय की स्थापना कर तीर्थंकर हो गए। इतने दिन भगवान् व्यक्ति थे और व्यक्तिगत जीवन जीते थे, अब भगवान् सघ बन गए और उनके सघीय जीवन का सिंहद्वार खुल गया।

इतने दिन भगवान् स्वयं के कल्याण मे निरत थे, अब उनकी शक्ति जन-कल्याण में लग गई।

भगवान् स्वार्थवश अपने कल्याण मे प्रवृत्त नही थे। यह एक सिद्धात का प्रश्न था। जो व्यक्ति स्वय खाली है, वह दूसरो को कैसे भरेगा ? जिसके पास कुछ नही है, वह दूसरो को क्या देगा ? स्वय विजेता बनकर ही दूसरों को विजय का पथ दिखाया जा सकता है। स्वय बुद्ध होकर ही दूसरो को बोध दिया जा सकता है। स्वय जागृत होकर ही दूसरो को जगाया जा सकता है। भगवान् स्वय बुद्ध हो गए और दूसरो को बोध देने का अभियान शुरू हो गया।

२१

ज्ञान-गंगा का प्रवाह

ढाई हजार वर्ष पहले का युग श्रुति और स्मृति का युग था। लिपि का प्रचलन बहुत ही कम था। इसलिए उस युग मे स्मृति की विशिष्ट पद्धतिया विकसित थी। ग्रथ-रचना की पद्धति भी स्मृति की सुविधा पर आधारित थी। इसी परिस्थिति मे सूत्र-शैली के ग्रथो का विकास हुआ, जिनका प्रयोजन था, थोडे मे बहुत कह देना।

इन्द्रभूति आदि गणधरो पर भगवान् महावीर के विचार-प्रसार का दायित्व आ गया। अत भगवान् के आधारभूत तत्त्वो को समझना उनके लिए आवश्यक था। इन्द्रभूति ने विनम्र वदना कर पूछा—'भते ! तत्त्व क्या है ?'

'पदार्थ उत्पन्न होता है।'

'भते ! पदार्थ उत्पत्तिधर्मा है तो वह लोक मे कैसे समाएगा ?'

'पदार्थ नष्ट होता है।'

'भते ! पदार्थ विनाशधर्मा है तो वह उत्पन्न होगा और नष्ट हो जाएगा, शेष क्या रहेगा ?'

'पदार्थ ध्रुव है।'

'भते ! जो उत्पाद-व्यय धर्मा है, वह ध्रुव कैसे होगा ? क्या उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य मे विरोधाभास नही है ?'

'यह विरोधाभास नही, सापेक्ष दृष्टिकोण है। कुटिया मे अधकार था। दीप जला कि प्रकाश हो गया। वह बुझा, फिर अधकार हो गया। प्रकाश और अधकार पर्याय हैं। इनका परिवर्तन होता रहता है। परमाणु ध्रुव हैं। उनका अस्तित्व तामस और तैजस—दोनो पर्यायो मे अखण्ड और अबाध रहता है।'

इस त्रिपदी की त्रिपथगा ने गणधरो की बुद्धि को इतना सीचा कि उसके बीज अकुरित हो गए। सभी गणधरो ने इस त्रिपदी के आधार पर बारह सूत्रो

(द्वादशांगी) की रचना की। उसमें भगवान् महावीर के दर्शन और तत्त्वों का प्रतिपादन किया।

गणधरों ने सोचा—हम इतने दिन पर्यायों मे उलझ रहे थे, मूल तक पहुंच ही नही पाए। मनुष्य, पशु, पक्षी—ये सब पर्याय हैं। मूल तत्त्व आत्मा है। आत्मा मूल है और ये सब पर्याय उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं, तब कोई हीन कैसे और अतिरिक्त कैसे ? कोई नीच कसे और ऊच कैसे ? कोई स्पृश्य कैसे और अस्पृश्य कैसे ? ये सब पर्याय आत्मा के आलोक से आलोकित हैं, तब जन्मना जाति का अर्थ क्या होगा ? जातिवाद तात्त्विक कैसे होगा ? स्त्री और शूद्र को हीन मानने का आधार क्या होगा ?

देवता और पशु दोनो एक ही आत्मा की ज्योति से ज्योतित हैं, फिर देवता के लिए पशु-बलि देने का औचित्य कैसे स्थापित किया जा सकता है ?

इस त्रिपदी ने गणधरो के अन्त:चक्षु खोल दिए। उनके चिरकालीन सस्कार भगवान् की ज्ञान-गगा के प्रवाह मे धुल गए।

२२

संघ-व्यवस्था

भगवान् महावीर अहिंसा के साधक थे। अहिंसा की साधना का अर्थ है—मन की ग्रन्थियो को खोल डालना। यही है मुक्ति, यही है स्वतन्त्रता। राजनीति की सीमा मे स्वतन्त्रता का अर्थ सापेक्ष होता है। एक देश पर दूसरा देश शासन करता है, तब वह परतन्त्र कहलाता है। एक देश उसमे रहने वाली जनता के द्वारा शासित होता है, तब वह स्वतन्त्र कहलाता है। अहिंसा की भूमिका मे स्वतन्त्रता का अर्थ निरपेक्ष होता है। जिसका मन ग्रन्थियो से मुक्त नही है, वह किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा शासित हो या न हो, परतन्त्र है। जिसके मन की ग्रन्थिया खुल चुकी हैं, वह फिर किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा शासित हो या न हो, स्वतन्त्र है। इसी सत्य को भगवान् ने रहस्यात्मक शैली मे प्रतिपादित किया था। उन्होने कहा—अहिंसक व्यक्ति न पराधीन होता है और न स्वाधीन। वह बाहरी बधनो से बंधा हुआ नही होता, इसलिए पराधीन नही होता और वह आत्मानुशासन की मर्यादा से मुक्त नही होता, इसलिए स्वाधीन भी नही होता।

सामुदायिक जीवन जीने वाला अहिंसक व्यक्ति भी व्यवस्था-तन्त्र को मान्यता देता है, किन्तु उसकी अभिमुखता तंत्र-मुक्ति की ओर होती है।

भगवान् महावीर ने एक ऐसे समाज का प्रतिपादन किया, जिसमे तन्त्र नही है। वह समाज हमारी आंखो के सामने नही है, इसलिए हम उसे महत्त्व दें या न दें किन्तु उस प्रतिपादन का अपने आप मे महत्त्व है।

भगवान् ने बताया—कल्पातीत देव अहमिंद्र होते हैं। उनकी हर इकाई स्वतन्त्र है। वहां कोई शासक और शासित नही है, कोई स्वामी और सेवक नही है, कोई बड़ा और छोटा नही है। वे सब स्वय-शासित हैं। उनके क्रोध, मान, माया और लोभ उपशान्त हैं, इसलिए वे स्वयं-शासित हैं।

हमारा समाज राज्य के द्वारा शासित है। मनुष्य का क्रोध उपशान्त नहीं है,

इसलिए वह दूसरों को अपना शत्रु बना लेता है। उसका मान शान्त नहीं है, इसलिए वह अपने को बड़ा और दूसरो को छोटा मानता है। उसकी माया उपशान्त नही है, इसलिए वह दूसरो के साथ प्रवचनापूर्ण व्यवहार करता है। उसका लोभ उपशान्त नही है, इसलिए वह स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरो के स्वार्थों का विघटन करता है।

जिस समाज मे शत्रुता, उच्च-नीच की मनोवृत्ति, प्रवचनापूर्ण व्यवहार और दूसरो के स्वार्थों का विघटन चलता है, वह स्वय-शासित नही हो सकता।

जनतत्र शासन-तत्र मे अहिंसा का प्रयोग है। विस्तार आत्मानुशासन और व्यक्तिगत स्वतत्रता की दिशा मे होता है। जनतत्र के नागरिक अहिंसानिष्ठ नही होते, उसका अस्तित्व कभी विश्वसनीय नही होता।

अहिंसा का अर्थ है—अपने भीतर छिपी हुई पूर्णता मे विश्वास और अपने ही जैसे दूसरे व्यक्तियो के भीतर छिपी हुई पूर्णता मे विश्वास।

हिंसा निरतर अपूर्णता की खोज मे चलती है, जबकि अहिंसा की खोज पूर्णता की दिशा मे होती है। राग और द्वेष की चिता मे जलने वाला कोई भी आदमी पूर्ण नही होता। पर उस चिता को उपशात कर देने वाला मुमुक्षु पूर्णता की दिशा मे प्रस्थान कर देता है। महावीर ने ऐसे मुमुक्षुओं के लिए ही सघ का सगठन किया।

भगवान् ने आत्म-नियत्रण, अनुशासन और व्यवस्था मे सतुलन स्थापित किया। मुक्ति की साधना मे आत्म-नियत्रण अनिवार्य है। व्यक्तिगत रुचि, सस्कार और योग्यता की तरतमता में अनुशासन भी आवश्यक है। आत्म-साधना के क्षेत्र मे आत्म-नियत्रण विहीन अनुशासन प्रवचना है। अनुशासन के अभाव मे आत्म-नियत्रण कही-कही असहाय जैसा हो जाता है। व्यवस्था इन दोनो से फलित होती है। भगवान् ने व्यवस्था की दृष्टि से अपने गणो के नेतृत्व को सात इकाइयो मे बाट दिया, जैसे—

१ आचार्य
२. उपाध्याय
३. स्थविर
४. प्रवर्तक
५ गणी
६. गणधर
७. गणावच्छेदक

ये शिक्षा, साधना, सेवा, धर्म-प्रचार, उपकरण, विहार आदि आवश्यक कार्यों की व्यवस्था करते थे। गण के नेतृत्व का विकास एक ही दिन मे नही हुआ। जैसे-जैसे गणो का विस्तार होता गया, वैसे-वैसे व्यवस्था की सुसपन्नता के लिए नेतृत्व की दिशाए विकसित होती गई।

यह आश्चर्य की बात है कि सघीय नेतृत्व का इतना विकास अन्य किसी धर्म-परम्परा मे नही मिलता। इस व्यवस्था का आधार था भगवान् महावीर का अहिंसा, स्वतत्रता और सापेक्षता का दृष्टिकोण। इसीलिए भगवान् ने आत्मानुशासन

से मुक्त अनुशासन को कभी मूल्य नही दिया। भगवान् के धर्म-सघ में दस प्रकार की सामाचारी का विकास हुआ। उसमे एक सामाचारी है 'इच्छाकार'। कोई मुनि किसी दूसरे मुनि को सेवा देने से पूर्व कहता—'मैं अपनी इच्छा से आपकी सेवा कर रहा हू।' दूसरो से सेवा लेने के लिए कहा जाता—'यदि आपकी इच्छा हो तो आप मेरा यह कार्य करे।' सेवा लेने-देने तथा अन्य प्रवृत्तियो मे बलप्रयोग वर्जित था। आपवादिक परिस्थितियो के अतिरिक्त आचार्य भी बल का प्रयोग नही करते थे।

दिनचर्या

भगवान् ने साधु-सघ की दिनचर्या निश्चित कर दी। उनके अनुसार मुनि दिन के पहले प्रहर मे स्वाध्याय, दूसरे मे ध्यान, तीसरे मे भोजन और चौथे मे फिर स्वाध्याय किया करते थे। इसी प्रकार रात्रि के पहले प्रहर मे स्वाध्याय, दूसरे मे ध्यान, तीसरे मे शयन और चौथे मे फिर स्वाध्याय।[1]

वस्त्र

भगवान् ने परिग्रह पर बडी सूक्ष्मता से ध्यान दिया। भगवान् ने दीक्षा के समय एक शाटक रखा था। यह भगवान् पार्श्व की परम्परा का प्रतीक था। कुछ समय बाद भगवान् विवस्त्र हो गए। वे तीर्थ-प्रवर्तन के बाद भी विवस्त्र रहे। उनके तीर्थ मे दीक्षित होने वाले विवस्त्र रहे या सवस्त्र—इस प्रश्न का उत्तर एकागी दृष्टिकोण से नही मिल सकता। जितेन्द्रिय होने के लिए वस्त्र-त्याग का बहुत मूल्य है। अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि मे वह बहुत सहायक होता है। फिर भी स्याद्वाद-दृष्टि के प्रवर्तक ने विवस्त्रता का ऐकान्तिक विधान किया हो, ऐसा प्रतीत नही होता। यदि किया हो तो उसे स्वीकारने मे मुझे कोई आपत्ति नही होगी। मुनि के वस्त्र रखने की परम्परा उत्तरकालीन हो तो उसे विचार का विकास या व्यवहार का अनुपालन मानना मुझे सगत लगता है। किन्तु इस तथ्य की स्वीकृति यथार्थ के बहुत निकट है कि भगवान् का झुकाव विवस्त्र रहने की ओर था। भगवान् पार्श्व के शिष्य विवस्त्र रहने मे अक्षम थे। इस स्थिति मे भगवान् ने दोनो विचारो का सामजस्य कर अचेल और सचेल—दोनो रूपो को मान्यता दे दी। इस मान्यता के कारण भगवान् पार्श्व के सघ का बहुत बडा भाग भगवान् महावीर के शासन मे सम्मिलित हो गया।

भगवान् ने मुनि को अपरिग्रही जीवन बिताने का निर्देश दिया। परिग्रह के दो अर्थ हैं—वस्तु और मूर्च्छा। वस्तु का परिग्रह होना या न होना मूर्च्छा पर निर्भर है। मूर्च्छा के होने पर वस्तु परिग्रह बन जाती है और मूर्च्छा के अभाव मे वह

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २६।१२।

अपरिग्रह बन जाती है।

परिग्रह के मुख्य प्रकार दो हैं—शरीर और वस्तु। शरीर को छोड़ा नहीं जा सकता। उसके प्रति होनेवाली मूर्च्छा को छोड़ा जा सकता है। वस्तु को सर्वथा छोड़ा नही जा सकता। उसके प्रति होनेवाली मूर्च्छा को छोड़ा जा सकता है। वस्त्र जैसे वस्तु है, वैसे भोजन भी वस्तु है। वस्त्र और भोजन चैतन्य की मूर्च्छा के हेतु न बनें, यह सोचकर भगवान् ने कुछ व्यवस्थाए दी—

१. जो मुनि जित-लज्ज और जित-परीषह हो वे विवस्त्र रहे। वे पात्र न रखें।

२. जो मुनि जित-लज्ज और जित-परीषह न हो वे एक वस्त्र और एक पात्र रखें।

३. जो मुनि एक वस्त्र से काम नही चला सकें वे दो वस्त्र और एक पात्र रखे।

४. जो मुनि दो वस्त्र से काम न चला सकें वे तीन वस्त्र और एक पात्र रखें।

५. जो मुनि लज्जा को जीतने मे समर्थ हो किन्तु सर्दी को सहने मे समर्थ न हो, वे ग्रीष्म ऋतु के आने पर विवस्त्र हो जाए।

६. वस्त्र रखने वाले मुनि रगीन और मूल्यवान् वस्त्र न रखें।

७. मुनि के निमित्त बनाया या खरीदा हुआ वस्त्र न ले।

दिगम्बर परम्परा आज भी वस्त्र न रखने के पक्ष मे है। श्वेताम्बर परम्परा वस्त्र रखने के पक्ष मे है। इसमें कोई संदेह नहीं कि श्वेताम्बर परम्परा मे उत्तरोत्तर वस्त्रो और पात्रो की सख्या मे वृद्धि हुई है।

भोजन और विहार

भोजन के विषय मे विधान यह था—

१ मुनि रात को न खाए।

२ सामान्यतया दिन मे बारह बजे के पश्चात् एक बार खाए।

३ यदि अधिक बार खाए तो पहले पहर मे लाया हुआ भोजन चौथे पहर मे न खाए।

४ बत्तीस कौर से अधिक न खाए।

५. मादक और प्रणीत वस्तुएं न खाए।

६. माधुकरी-चर्या द्वारा प्राप्त भोजन ले, अपने निमित्त बना हुआ भोजन स्वीकार न करे।

७. लाकर दिया हुआ भोजन स्वीकार न करे।

भगवान् पार्श्व के शिष्यो के लिए परिव्रजन की कोई मर्यादा नहीं थी। वे एक

गांव में चाहे जितने समय तक रह सकते थे। भगवान् महावीर ने इसमें परिवर्तन कर नवकल्पी विहार की व्यवस्था की। उसके अनुसार मुनि वर्षावास मे एक गांव में रह सकता है। शेष आठ महीनो में एक गाव मे एक मास से अधिक नही रह सकता।

पात्र

भगवान् महावीर दीक्षित हुए तब उनके पास कोई पात्र नही था। भगवान् ने पहला भोजन गृहस्थ के पात्र में किया। भगवान् ने सोचा—यह पात्र कोई मांजेगा, धोएगा। यह समारम्भ किसके लिए होगा? मेरे लिए दूसरे को यह क्यो करना पड़! उन्होने पात्र मे भोजन करना छोड़ दिया। फिर भगवान् पाणि-पात्र हो गए—हाथ मे ही भोजन करने लगे।[1]

भगवान् साधना-काल मे तंतुवायशाला मे ठहरे हुए थे।[2] उस समय गोशालक ने कहा—'भंते! मैं आपके लिए भोजन लाऊ?' भगवान् ने इस अनुरोध को अस्वीकार कर दिया। भगवान् गृहस्थ के पात्र मे भोजन न करने का संकल्प कर चुके थे। इसीलिए भगवान् ने गोशालक की बात स्वीकार नही की।[3] भगवान् भिक्षा के लिए स्वयं गृहस्थो के घर मे जाते और वही खड़े रहकर भोजन कर लेते। तीर्थ-स्थापना के बाद भगवान् ने मुनि को एक पात्र रखने की अनुमति दी। अब मुनिजन पात्रो मे भिक्षा लाने लगे। भगवान् के लिए भिक्षा लाने का अवकाश ही नही रहा। गणधर गौतम ने भगवान् के लिए भिक्षा लाने की व्यवस्था कर दी। मुनि लोहार्य इस कार्य मे नियुक्त थे। भगवान् उनके द्वारा लाया हुआ भोजन करते थे। एक आचार्य ने उनकी स्तुति मे लिखा है—

'धन्य है वह लोहार्य श्रमण,
परम सहिष्णु कनक-गौरवर्ण।
जिसके पात्र मे लाया हुआ आहार
भगवान् खाते थे, अपने हाथो से।'[4]

अभिवादन

अभिवादन के विषय मे भगवान् की दो दृष्टियां प्राप्त होती हैं—साधुत्वमूलक और व्यवस्थामूलक। पहली दृष्टि के अनुसार साधुत्व वंदनीय है। जिस व्यक्ति मे

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१; आचारांगचूर्णि, पृ० ३०९।
२ साधनाकाल का दूसरा वर्ष।
३. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग पृ० २७१।
४. आयारो, ९।१।१९; आचारांगचूर्णि, पृ० ३०९, आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१।

साधुत्व विकसित है वह साधु हो या साध्वी, सबके लिए वदनीय है। दूसरी दृष्टि के अनुसार भगवान् ने व्यवस्था की—दीक्षा-पर्याय मे छोटा साधु या साध्वी दीक्षा-पर्याय मे ज्येष्ठ साधु या साध्वी का अभिवादन करे।[1]

साधु-साध्वियो के परस्पर अभिवादन के विषय मे भगवान् ने क्या निर्देश दिया, यह उनकी वाणी मे उपलब्ध नही है। उत्तरवर्ती साहित्य मे मिलता है कि सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी आज के दीक्षित साधु को वदना करे। क्योकि धर्म का प्रवर्तक पुरुष है, धर्म का उपदेष्टा पुरुष है, पुरुष ज्येष्ठ है, लौकिक पथ मे भी पुरुष प्रभु होता है, तब लोकोत्तर पथ का कहना ही क्या ?[2]

उस समय लोकमान्यता के अनुसार पुरुष की प्रधानता थी। बहुत सारे धार्मिक संघ भी पुरुष को प्रधानता देते थे। बौद्ध साहित्य से यह तथ्य स्पष्ट होता है। महाप्रजापति गौतमी ने आयुष्यमान् आनन्द का अभिवादन कर कहा, 'भते आनन्द ! मैं भगवान् से एक वर मागती हू। अच्छा हो भते ! भगवान् भिक्षुओ और भिक्षुणियो मे परस्पर दीक्षा-पर्याय की ज्येष्ठता के अनुसार अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोडने और सत्कार करने की अनुमति दे दें।'

आनन्द ने यह बात बुद्ध से कही। तब भगवान् बुद्ध ने कहा, 'आनन्द ! इसकी जगह नही, इसका अवकाश नही कि तथागत स्त्रियो को अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोडने और सत्कार करने की अनुमति दे।'

'आनन्द ! जिनका धर्म ठीक से नही कहा गया है, वे तीर्थिक (दूसरे मतवाले साधु) भी स्त्रियो को अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोडने और सत्कार करने की अनुमति नही देते तो भला तथागत स्त्रियो को अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोडने और सत्कार करने की अनुमति कैसे दे सकते हैं ?'

तब भगवान् ने इसी सम्बन्ध मे इसी प्रकरण मे धार्मिक कथा कह, भिक्षुओ को सम्बोधित किया—'भिक्षुओ ! स्त्रियो का अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोडना और सत्कार नही करना चाहिए, जो करे उसे उत्कट का दोष हो।'[3]

भगवान् महावीर का दृष्टिकोण स्त्रियो के प्रति बहुत उदार था। साधना के क्षेत्र मे उन्हे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। समता का प्रयोग स्त्री-पुरुष—दोनो पर समान रूप से चलता था। अत यह कल्पना करने को मन ललचाता है कि भगवान् ने अभिवादन की स्वतन्त्र व्यवस्था की। उसका आशय था—

१ दीक्षा-पर्याय मे छोटा साधु ज्येष्ठ साधु का अभिवादन करे।

२. दीक्षा-पर्याय मे छोटी साध्वी ज्येष्ठ साध्वी का अभिवादन करे।

---

१ दसवेआलिय, ६।३।३।

२ उपदेशमाला, श्लोक १५, १६।

३. विनयपिटक, पृ० ५२२।

सामुदायिकता

भगवान् महावीर वैयक्तिक स्वतन्त्रता के महान् प्रवक्ता और सामुदायिक मूल्यों के महान् संस्थापक थे। उनके सापेक्षवाद का सूत्र था—व्यक्ति-सापेक्ष, समुदाय और समुदाय-सापेक्ष व्यक्ति।

स्वतन्त्रता और सगठन—दोनो सापेक्ष सत्य हैं। एक की अवहेलना करने का अर्थ है दोनों की अवहेलना करना। इस सत्य को निर्युक्तिकार ने इस भाषा में प्रस्तुत किया है—'जो एक मुनि की अवहेलना करता है, वह समूचे सघ की अवहेलना करता है और जो एक मुनि की प्रशसा करता है, वह समूचे सघ की प्रशसा करता है।'[1]

रुचि, सस्कार और विचार—ये व्यवस्था के सूत्र नही बन सकते। ये व्यक्तिगत तत्त्व है। दीक्षा-पर्याय यह सामुदायिक तत्त्व है। भगवान् ने इसी तत्त्व के आधार पर व्यवस्थाओ का निर्माण किया। मेघकुमार की घटना से इस स्थापना की पुष्टि हो जाती है।

मेघकुमार भगवान् के पास दीक्षित हुआ।[2] रात के समय सब साधुओ ने दीक्षा-पर्याय के क्रम से सोने के स्थान का सविभाग किया। मेघकुमार सबसे छोटा था, इसलिए उसे दरवाज़े के पास सोने का स्थान मिला।

भगवान् के साथ बहुत साधु थे। वे देहचिंता-निवारण, स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रयोजनो से इधर-उधर जाने-आने लगे। कोई मेघकुमार के हाथ को छू जाता, कोई पैर को और कोई सिर को। इस हलचल मे उसे सारी रात नीद नही आई। रात का हर क्षण उसने जागते-जागते बिताया।

राजकुमार, कोमल शैया पर सोया हुआ और राज-प्रासाद के विशाल प्रांगण मे रहा हुआ। कठोर शैया, दरवाज़े के पास संकरा स्थान और आने-जाने वाले साधुओ के पैरो-हाथों का स्पर्श। इस विपरीत स्थिति ने मेघकुमार को विचलित कर दिया। वह सोचने लगा—'मैं महाराज श्रेणिक का पुत्र और महारानी धारिणी का आत्मज था। मैं अपने माता-पिता को बहुत प्रिय था। जब मैं घर मे था तब ये साधु मेरा कितना आदर करते थे? मुझे पूछते थे। मेरा सत्कार-सम्मान करते थे। मुझे अर्थ और हेतु बतलाते थे। मीठे बोल बोलते थे। आज मैं साधु हो गया। इन साधुओ ने न मेरा आदर किया, न मुझे पूछा, न मेरा सत्कार-सम्मान किया,

---

१ ओघनिर्युक्ति, गाथा : ५२६, ५२७।
एक्कम्मि हीलियंमि सव्वे ते हीलिया हुंति ॥
एक्कम्मि पूइयमि सव्वे ते पूइया हुंति ॥

२. तीर्थंकर काल का पहला वर्ष।

न मुझे अर्थ और हेतु बतलाया और न मधुर वाणी से मुझे सम्बोधित किया। मुझे एक दरवाजे के पास सुला दिया। सारी रात मुझे नीद नही लेने दी। इस प्रकार मैं कैसे जी सकूगा ? मैं इस प्रकार की नारकीय राते नही बिता सकता। कल सूर्योदय होते ही मैं भगवान् के पास जाऊगा, और भगवान् को पूछकर अपने घर लौट जाऊगा।"[1]

इस घटना के बाद भगवान् महावीर ने नव-दीक्षित साधुओं को उस आनुक्रमिक व्यवस्था से मुक्त कर दिया। उन्हें अनेक कार्यों मे प्राथमिकता दी। 'उनकी सेवा करने वाले तीर्थंकर बन सकते है, मेरी स्थिति को प्राप्त हो सकते है'[2]—यह घोषणा कर भगवान् ने नव-दीक्षित साधुओ की प्राथमिकता को स्थायित्व दे दिया और चिर-दीक्षित साधुओ की व्यवस्था दीक्षा-पर्याय के क्रमानुसार सविभागीय पद्धति से चलती रही।

सेवा

सेवा सामुदायिक जीवन का मौलिक आधार है। इस ससार मे विभिन्न रुचि के लोग होते हैं। भगवान् महावीर ने ऐसे लोगो को चार वर्गों मे विभक्त किया है[3]—

१. कुछ लोग दूसरो से सेवा लेते हैं, पर देते नही।

२ कुछ लोग दूसरो को सेवा देते है, पर लेते नही।

३ कुछ लोग सेवा लेते भी हैं और देते भी हैं।

४. कुछ लोग न सेवा लेते हैं और न देते है।

सामुदायिक जीवन मे सेवा लेना और देना—यही विकल्प सर्वमान्य होता है। भगवान् ने इसी आधार पर सेवा की व्यवस्था की।

कुछ साधु परिव्रजन कर रहे हैं। उन्हे पता चले कि इस गाव मे कोई रुग्ण साधु है। वे वहा जाए और सेवा की आवश्यकता हो तो वहा रहे। यदि आवश्यकता न हो तो अन्यत्र चले जाए। रुग्ण साधु का पता चलने पर वहां न जाए तो वे संघीय अनुशासन का भग करते हैं और प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

भगवान् ने ग्लान साधु की सेवा को साधना की कोटि का मूल्य दिया। सघीय सामाचारी के अनुसार एक मुनि आचार्य के पास जाकर कहता—'भते ! मैं आवश्यक क्रिया से निवृत्त हूं। अब आप मुझे कहा नियोजित करना चाहते हैं ? यदि सेवा की अपेक्षा हो तो मुझे उसमें नियोजित करें। उसकी अपेक्षा न हो तो

---

१ नायाधम्मकहाओ, १।१५२-१५४।

२. नायाधम्मकहाओ, ८।१२।

३. ठाण, ४।४१२।

मुझे स्वाध्याय में नियोजित करें।'

भगवान् ने कहा—'जो ग्लान साधु की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है।

'ग्लान साधु की अग्लानभाव से सेवा करने वाला मेरी भूमिका तक पहुंच जाता है, तीर्थंकर हो जाता है।'

इस प्रकार सामुदायिकता के तत्त्वों को समुचित मूल्य देकर भगवान् ने संघ और उसकी व्यवस्थाओं को प्राणवान् बना दिया।

२३

संघातीत साधना

भगवान् महावीर तीर्थंकर थे। जो व्यक्ति सत्य का साक्षात् और प्रतिपादन—दोनो करता है, वह तीर्थंकर होता है। उस समय भारतीय धर्म की दो धाराए चल रही थी—एक शास्त्र की और दूसरी तीर्थंकर की।

मीमासा दर्शन ने तर्क उपस्थित किया कि शरीरधारी व्यक्ति वीतराग नही हो सकता। जो वीतराग नही होता, वह सर्वज्ञ नही हो सकता। जो सर्वज्ञ नही होता, उसके द्वारा प्रतिपादित शास्त्र प्रमाण नही हो सकता। इस तर्क के आधार पर मीमासको ने पौरुषेय (पुरुष द्वारा कृत) शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार नही किया। वे वेदो को अपौरुषेय (ईश्वरीय) मानकर उनका प्रामाण्य स्वीकार करते थे।

श्रमण दर्शन का तर्क था कि शास्त्र वर्णात्मक होता है, इसलिए वह अपौरुषेय नही हो सकता। पुरुष साधना के द्वारा वीतराग हो सकता है। वीतराग पुरुष कैवल्य या बोधि प्राप्त कर लेता है। कैवल्य-प्राप्त पुरुष का वचन प्रमाण होता है।

बौद्ध साहित्य मे महावीर, अजितकेशकबली, पकुधकात्यायन, गोशालक, सजयवेलट्ठिपुत्त और पूरणकश्यप—इन्हे तीर्थंकर कहा गया है। बुद्ध भी तीर्थंकर थे। शकराचार्य ने कपिल और कणाद को भी तीर्थंकर कहा है।[1]

जैन साहित्य मे महावीर को आदिकर कहा गया है। परम्परा का सूत्र उन्हे चौबीसवा और इस युग का अन्तिम तीर्थंकर कहता है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक तीर्थंकर आदिकर होता है। वह किसी पुराने शास्त्र के आधार पर सत्य का प्रतिपादन नही करता। वह सत्य का साक्षात्कार कर उसका प्रतिपादन करता है। इस दृष्टि से प्रत्येक तीर्थंकर पहला होता है, अतिम कोई नही होता।

---

१ ब्रह्मसूत्र, अ० २, पा० १, अधि० ३, सू० ११—शांकरभाष्य।

भगवान् महावीर ने अपने प्रत्यक्ष बोध के आधार पर सत्य का प्रतिपादन किया। भगवान् पार्श्व भी तीर्थंकर थे। उन्होंने अपने प्रत्यक्ष बोध से सत्य का प्रतिपादन किया। महावीर के प्रतिपादन का पार्श्व के प्रतिपादन से भिन्न होना आवश्यक नही है तो अभिन्न होना भी आवश्यक नही है। सत्य के अनन्त पक्ष हैं। प्रत्यक्षदर्शी उन्हे जान लेता है पर उन सबका प्रतिपादन नहीं कर पाता। ज्ञान की शक्ति असीम है, वाणी की शक्ति ससीम है। इसलिए प्रतिपादन सीमित और सापेक्ष ही होता है। भगवान् पार्श्व को जिस तत्त्व के प्रतिपादन की अपेक्षा थी, उसी का प्रतिपादन उन्होने किया, शेष का नही किया। समग्र का प्रतिपादन हो नही सकता। भगवान् महावीर ने भी उसी तत्त्व का प्रतिपादन किया जिसकी अपेक्षा उनके सामने थी। निष्कर्ष की भाषा यह होगी कि सत्य का दर्शन दोनो का भिन्न नही था, प्रतिपादन भिन्न भी था।

भगवान् महावीर का साधना-मार्ग भगवान् पार्श्व के साधना-मार्ग से कुछ भिन्न था। इतिहास की स्थापना है कि भगवान् पार्श्व सघबद्ध साधना के प्रवर्तक है। उनसे पहले व्यक्तिगत साधना चलती थी। उसे सामूहिक रूप भगवान् पार्श्व ने दिया।

अध्यात्म वस्तुत वैयक्तिक होता है। वह सघबद्ध कैसे हो सकता है ? सत्य का साक्षात् करने के लिए असीम स्वतन्त्रता अपेक्षित होती है। सघीय जीवन में वह प्राप्त नही हो सकती। उसमे समझौता चलता है। सत्य मे समझौते के लिए कोई अवकाश नही है। व्यवहार विवादास्पद हो सकता है। सत्य निर्विवाद है। जहा विवाद हो, वहा समझौता आवश्यक होता है। निर्विवाद के लिए समझौता कैसा ?

सघ मे व्यवहार होता है और व्यवहार मे समझौता। फिर भगवान् पार्श्व ने सघबद्ध साधना का सूत्रपात क्यो किया ? भगवान् महावीर ने उसे मान्यता क्यो दी ? वे भगवान् पार्श्व के अनुयायी नही थे, शिष्य नही थे। भगवान् पार्श्व ने जिस परम्परा का सूत्रपात किया उसे चलाना उनके लिए अनिवार्य नही था। फिर सघबद्ध साधना को उनकी सम्मति क्यो मिली ?

भगवान् महावीर साधना के पथ पर अकेले ही चले थे। वर्षों तक अकेले ही चलते रहे। केवली होने के बाद वे संघबद्धता मे गए। उनके भीतरी बधन टूट गए तब उन्होने बाहरी बधन स्वीकार किया। वह बंधन असंख्य जनो की मुक्ति के लिए स्वीकृत था। यथार्थ की भाषा मे वह बधन नही, अवतरण था। मृण्मय पात्र मे ज्योति अवतरित होती है। उसके अवतरण का प्रयोजन है प्रकाश, केवल प्रकाश।

भगवान् पार्श्व ने साधना का संघीकरण एक विशेष संदर्भ में किया। वह था जीवन-व्यवहार का समुचित संचालन। कुछ साधक शरीर से अक्षम थे और कुछ

सक्षम। कुछ साधक स्वस्थ थे और कुछ रुग्ण। कुछ साधक युवा थे और कुछ वृद्ध। दुर्बल, रुग्ण और वृद्ध साधक जीवन-यापन की कठिनाई का अनुभव करते थे। वे या तो जीवन चला नहीं पाते या जीवन चलाने के लिए गृहस्थों का सहारा लेते थे। भगवान् पार्श्व ने सोचा कि यदि दूसरे का सहारा ही लेना है तो फिर एक साधक दूसरे साधक का सहारा क्यो न ले ? गृहस्थ के अपने उत्तरदायित्व हैं। उसे उन्हें निभाना होता है। साधकों पर कोई पारिवारिक उत्तरदायित्व नही होता। अक्षम साधक की परिचर्या का उत्तरदायित्व समर्थ साधक के कंधों पर क्यो नही आना चाहिए ?

यह चिंतन संघीय साधना का पहला उच्छ्वास बना। उन्मुक्त साधना की कोई पद्धति नही होती। सघीय साधना पद्धतिबद्ध होती है। साधना को सघीय बनाने के लिए उसकी पद्धति का निर्धारण किया गया। पद्धतिहीन साधना का एकरूप होना जरूरी नही है, किन्तु पद्धतिबद्ध साधना का एकरूप होना अत्यन्त जरूरी है। इस एकरूपता के लिए साधना के सविधान की रचना हुई। उससे मुनि-सघ अनुशासित हो गया। सगठन की दृष्टि से उसका बहुत महत्त्व नही है। अनुशासन और साधना की प्रकृति भिन्न है। साधक भी भिन्न-भिन्न प्रकृति के होते हैं। कुछ अनुशासन के साथ साधना को पसन्द करते हैं और कुछ मुक्त साधना को। मुक्त साधना करने वाले अपना पथ स्वयं चुन लेते है। कुछ साधक सघ मे दीक्षित होकर बाद मे मुक्त साधना करना चाहते हैं। भगवान् महावीर ने इन सबको मान्यता दी। भगवान् ने साधको को तीन श्रेणियो मे विभक्त कर दिया—

१ प्रत्येक बुद्ध—प्रारम्भ से ही संघ-मुक्त साधना करने वाले।

२. स्थविरकल्पी—सघबद्ध साधना करने वाले।

३ जिनकल्पी—सघ से मुक्त होकर साधना करने वाले।

यह श्रेणी-विभाग भगवान् पार्श्व के समय मे भी उपलब्ध होता है। सघ साधना का स्थायी केन्द्र था। अकेले रहकर साधना करने वाले साधको को उस (साधना) की अनुमति मिल जाती। वे साधना पूर्ण कर फिर सघ मे आना चाहते तो आ सकते थे। भगवान् महावीर की दृष्टि सघ से बधी हुई नही थी। उसका अनुबध साधना के साथ था। साधक का लक्ष्य साधना को विकसित करना है, फिर वह सघ मे रहकर करे या अकेले मे। साधना-शून्य होकर अकेले मे रहना भी अच्छा नही है और सघ मे रहना भी अच्छा नही है। सघ को प्रधान मानने वाले व्यक्ति अपने द्वार को खुला नही रख सकते। जो अपने सघ के भीतर आ गया, उसके लिए बाहर जाने का द्वार बन्द रहता है और जो बाहर चला गया, उसके लिए भीतर आने का द्वार बन्द रहता है। भगवान् महावीर ने आने और जाने के दोनो द्वार खुले रखे। साधना के लिए कोई भीतर आए तो आने का द्वार खुला है और साधना के लिए कोई बाहर जाए तो जाने का द्वार खुला है।

सघबद्ध और संघमुक्त साधको की मर्यादाए भिन्न-भिन्न थी। सघबद्ध साधक परस्पर सहयोग करते थे। सघमुक्त साधक निरालम्ब जीवन जीते थे। जीवन-व्यवहार मे अनुशासन और एकरूपता—ये सघ की विशेषताए हैं।

भगवान् महावीर सिंधु-सौवीर की ओर जा रहे थे।[1] गर्मी का मौसम था। मार्ग मे गाव कम, जल कम और आवागमन बहुत कम। चारों ओर बालू के टीले ही टीले। भूखे-प्यासे साधु भगवान् के साथ चल रहे थे। उस समय कुछ बैलगाडिया मिली। उनमे तिल लदे हुए थे। उनके मालिकों ने साधु-सघ को देखा और देखा कि साधु भूख से आकुल हो रहे है। वे बोले—'महाराज ! आप तिल खाकर भूख को शान्त करे।' तिल निर्जीव थे। फिर भी भगवान् ने तिल खाने की अनुमति नही दी। तिल लेने की परम्परा का सूत्रपात एक बार हो गया तो सदा के लिए हो गया। फिर तिल लेने का सस्कार बन जाएगा, सजीव या निर्जीव की बात पीछे रह जाएगी। हर साधु कैसे जान पाएगा कि तिल सजीव है या निर्जीव ?

भगवान् का काफिला कुछ आगे बढा। मार्ग से थोडी दूर पर एक जलाशय दिखाई दिया। प्यास से आकुल साधु बोल उठे—'वह पानी दीख रहा है।' भगवान् ने अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से देखा—जलाशय का जल निर्जीव है। इसे पीने मे कोई हिसा नही होगी पर इसे पीना उचित कैसे होगा ? एक बार जलाशय का जल पी लिया, फिर दूसरी बार वह वर्जित कैसे होगा ? हर साधु कैसे जान पाएगा कि जल सजीव है या निर्जीव ? भगवान् ने जलाशय का जल पीने की अनुमति नही दी।

उस मार्ग मे भगवान् के अनेक साधु दिवगत हो गए पर उन्होने सघीय व्यवस्था का अतिक्रमण नही किया।[2]

सघीय जीवन मे अनुसरण की बात पर बहुत ध्यान देना होता है। एकाकी जीवन मे धर्म की चिन्ता होती है, अनुसरण की चिन्ता नही होती।

भगवान् महावीर के सघ से मुक्त होकर एकाकी साधना करने वाले सैकडो-सैकडो मुनि थे।

भगवान् ने सघ को बहुत श्रेष्ठता प्रदान की, इसलिए अधिकाश साधको ने सघ मे रहना पसन्द किया। उस समय कुछ धर्मावलम्बी सघ का विरोध भी करते थे।

एक बार भगवान् के श्रमण भिक्षा लेकर आ रहे थे। एक तपस्वी ने उनसे पूछा—

'तुम कौन हो ?'

---

१. तीर्थंकर काल का पांचवां वर्ष।

२ बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ९९७-९९९, भाग २, पृ० ३१४, ३१५।

'हम साधु हैं।'

'इस पात्र मे क्या है ?'

'भोजन।'

'भोजन का सग्रह करते हो, फिर साधु कैसे ? साधु को जो मिले वह वही खा लेना चाहिए। वह पात्र भर क्यो ले जाए ?'

'हम सग्रह नही करते, किन्तु यह भोजन बीमार साधु के लिए ले जा रहे हैं।'

'दूसरो के लिए ले जा रहे हो, तब तुम निश्चित ही साधु नही हो। यह गृहस्थोचित कार्य है, साधु-जनोचित कार्य नही है। यह मोह है।'

'यह मोह नही है, यह सेवा है। भगवान् महावीर ने इसका समर्थन किया है। एक साधक दूसरे साधक की सेवा करे, इसमे अनुचित क्या है ? इसे गृहस्थ-कर्म क्यो माना जाए ?'

सघबद्ध रहना और परस्पर सहयोग करना, उस समय पूर्णत विवाद-रहित नही था। फिर भी भगवान् महावीर ने सघबद्ध साधना का मूल्य कम नही किया। साथ-साथ सघमुक्त साधना को भी पदच्युत नही किया। दोनो विधाओ के लिए भगवान् का दृष्टिकोण स्पष्ट था। उन्होने कहा—

१ जिस साधक को सहयोग की अपेक्षा हो, वह सघ मे रहकर साधना करे।

२ जिसमे अकेला रहने की क्षमता हो, वह एकाकी साधना करे।

३ सघ मे निपुण सहायक—उत्कृष्ट या समान चरित्र वाले साधक के साथ रहे। हीन चरित्र वाले साधक के साथ न रहे। निपुण सहायक के अभाव मे अकेला रहकर साधना करे।[1]

१ उत्तरज्झयणाणि, ३२।५।

२४

अतीत का सिंहावलोकन

इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के पास आए। वन्दना कर बोले--'भते ! मैं भगवान् का वर्तमान देख रहा हू। मेरा सकल्प है कि भविष्य मे मैं भगवान् का वैसे ही अनुगमन करूगा, जैसे छाया शरीर का अनुगमन करती है। किन्तु भते ! अतीत मेरे हाथ से निकल चुका है। मैं साधनाकाल मे भगवान् के साथ नही रह सका। भते ! मै उसे जानना चाहता हू। यदि भगवान् को कष्ट न हो तो भगवान् मुझे उस समय के कुछ प्रयोगात्मक अनुभव सुनाए।'

भगवान् ने स्वीकृति दी और वे कहने लगे—'गौतम ! इन दिनो क्षत्रियो और ब्राह्मणो मे प्रतिद्वन्द्विता चल रही है। मैं इसे समाप्त करना चाहता हू। मैने दीक्षित होते ही इस दिशा मे प्रयत्न शुरू कर दिए। मैंने पहला भोजन ब्राह्मण के घर किया।[1] क्षत्रियो और ब्राह्मणो के समन्वय का मेरा यह पहला प्रयोग था।'

'गौतम ! मेरे प्रयोग की चरम परिणति तुम्हे पाकर हुई है। मेरे आसपास तुम सब ब्राह्मण ही ब्राह्मण हो। प्रतीत होता है अब वह प्रतिद्वन्द्विता अन्तिम सास ले रही है।'

'भते ! जातीय-समन्वय की दिशा मे भगवान् का चरण आगे बढा, उसका लाभ हमे मिला। हम भगवान् की शरण मे आ गए। भते ! मैं जानना चाहता हू, भगवान् के प्रयोगो से और भी बहुत लोग लाभान्वित हुए होगे ?'

'गौतम ! मैंने समता धर्म (साम्ययोग) की साधना की है। मै उसी का प्रतिपादन करूगा। मैं नारी और पुरुष की आध्यात्मिक क्षमता को परिपूर्णतया तुल्य देखता हूं, हीन या अतिरिक्त नही देखता। मैंने १७५ दिन भोजन नही

१, आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७०।

किया। फिर चन्दनबाला के हाथ से भिक्षा लेकर भोजन किया। यह कोई अकारण आग्रह नही था। यह मेरा प्रयोग था, नारी-जाति के पुनरुत्थान की दिशा मे।'

'भते! मैं अनुभव कर रहा हू कि भगवान् का वह प्रयोग बहुत सफल रहा। चन्दनबाला को दीक्षित कर भगवान् ने नारी जाति के विकास का अवरुद्ध द्वार ही खोल दिया। भते! भगवान् ने एक जाति के उदय का प्रयत्न किया, क्या इससे दूसरी जाति का अनुदय नही होगा?'

'गौतम! समता धर्म का साधक सर्वोदय चाहता है। वह किसी एक के हित-साधन से दूसरे के हित को बाधित नही करता। जब मनुष्य विषमता का पथ चुनता है, तभी हितो का सघर्ष खडा होता है। मैने दासप्रथा का विरोध सर्वोदय की दृष्टि से किया। मेरा समता धर्म किसी भी व्यक्ति को दास बनाने की स्वीकृति नही देता। मैं दास बनाने मे बडे लोगो का अहित देखता हू, नही बनाने मे नही देखता।'

'भते! भगवान् को कष्ट न हो तो मैं जानना चाहता हू कि भगवान् ने समता के प्रयोग मानव-जगत् पर ही किए या समूचे प्राणी-जगत् पर?'

'गौतम! मेरे समता धर्म मे पशु-पक्षियो का मूल्य कम नही है। समूचे प्राणी जगत् को मैने आत्मा की दृष्टि से देखा है। चडकौशिक सर्प मुझे डसता रहा और मैं उसे प्रेम की दृष्टि से देखता रहा। आखिर विषधर शान्त हो गया। उसमे समता का निर्झर प्रवाहित हो गया।'

'भते! भगवान् अब भविष्य मे क्या करना चाहते है?'

'गौतम! जो साधना-काल मे किया, वही करना चाहता हू। मेरे करणीय की सूची लम्बी नही है। मेरे सामने एक ही कार्य है और वह है विषमता के आसन पर समता की प्रतिष्ठा।'

'भते! समता की प्रतिष्ठा चाहने वाला क्या शरीर के प्रति विषम व्यवहार कर सकता है?'

'कभी नही, गौतम!'

'भते! फिर भगवान् ने कैसे किया? बहुत कठोर तप तपा। क्या यह शरीर के प्रति समतापूर्ण व्यवहार है?'

'गौतम! इसका उत्तर बहुत सीधा है। जितना रोग उतनी चिकित्सा और जैसा रोग वैसी चिकित्सा। मैंने रोगानुसार चिकित्सा की, शरीर को यातना देने की कोई चेष्टा नही की।'

'भते! सस्कार-शुद्धि ध्यान से ही हो जाती, फिर भगवान् को तप क्यो आवश्यक हुआ?'

'गौतम! एकागी कार्य मे मेरा विश्वास नही है, इसलिए मैंने तप और ध्यान दोनो को साधा। मैं चाहता हू एकागिता की वेदी पर समन्वय की प्रतिष्ठा।'

'भंते ! क्या भगवान् को भोजन करना इष्ट नही था ?'

'गौतम ! मैं इसका उत्तर एकान्त की भाषा मे नही दे सकता । साधना की पुष्टि के लिए मैंने भोजन किया । उसमे बाधा उत्पन्न करने वाला भोजन मैंने नही किया । यह सापेक्षता है । मैं अनाग्रह के दीवट पर सापेक्षता का दीप जलाना चाहता हू ।'

'भते ! श्रमणो ने पहले से ही अनेक दीप जला रखे है, फिर नया दीप जलाने की क्या आवश्यकता है ?'

'गौतम ! मैं मानता हू भगवान् पार्श्व ने प्रखर ज्योति प्रज्वलित की थी । किन्तु आज वह कुछ क्षीण हो गई है । उसमे पुन प्राण फूकना आवश्यक है ।'

'भते ! बारह वर्ष तक आप अकेले रहे, अब आपको सघ-निर्माण की आवश्यकता क्यो हुई ?'

'गौतम ! मुझे अहिंसा और सापेक्षता को जनता तक पहुचाना है । उसे जनता के माध्यम से ही पहुचाया जा सकता है । धर्म की उत्पत्ति और निष्पत्ति समाज मे ही होती है, शून्य मे नही होती ।'

'भते ! फिर लम्बे समय तक शून्य मे रहने का क्या अर्थ है ?'

'गौतम ! उसका अर्थ था शून्य को भरना । अपनी शून्यता को भरे बिना दूसरो की शून्यता को भरा नही जा सकता । मैं साधना-काल मे लगभग अकेला रहा । न सभा मे उपस्थिति, न प्रवचन और न सगठन । तत्त्व-चर्चा भी बहुत कम । मैंने साधना-काल का बारहवा चातुर्मास चम्पा मे बिताया । मैं स्वातिदत्त ब्राह्मण की अग्नि-होत्र शाला मे रहा । एक दिन स्वातिदत्त ने पूछा—

'भते ! आत्मा क्या है ?'

'जो अह (मैं) का अनुभव है, वही आत्मा है ।'

'भते ! वह कैसा है ?'

'सूक्ष्म है ।'

'भते ! सूक्ष्म का अर्थ ?'

'जो इन्द्रियो द्वारा गृहीत नही होता ।'

'भते ! इसका साक्षात्कार कैसे किया जा सकता है ?'

'मैं इसी प्रयत्न मे लगा हू ।'

स्वातिदत्त आत्मा की खोज मे लग गया । मुझे आत्मा ही प्रिय रहा है । इसलिए मैंने स्वय उसकी खोज की है और यदा-कदा दूसरो को उस दिशा मे जाने को प्रेरित किया है ।[1]

मैंने साधना के दूसरे वर्ष मे एक शिष्य भी बनाया । उसका नाम था—

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३२०, ३२१ ।

मखलिपुत्र गोशालक। वह कुछ वर्षों तक मेरे साथ रहा। फिर उसने मेरा साथ छोड दिया।

मैंने गोशालक के साथ कुछ बातें की, उसके प्रश्नो का उत्तर दिया, अपने अतीन्द्रिय ज्ञान का थोडा-थोडा परिचय कराया और आतरिक शक्ति के कुछ रहस्य भी सिखाए।

'भते! यह प्रकरण बहुत ही दिलचस्प है, मैं इसे थोडे विस्तार से सुनना चाहता हू। मै विश्वास करता हू, भगवान् मुझ पर कृपा करेगे।'

'गौतम! गोशालक आज नियतिवादी हो गया है। नियतिवाद के बीज एक दिन मैंने ही बोए थे।'

'भते! यह कैसे?'

'गौतम! एक बार हम (मैं और गोशालक) कोल्लाग सन्निवेश से सुवर्णखल की ओर जा रहे थे।[1] मार्ग मे एक स्थान पर ग्वाले खीर पका रहे थे। गोशालक ने मुझे रोकना चाहा। मैंने कहा—खीर नही पकेगी, हाडी फट जाएगी।

मैं आगे चला गया। गोशालक वही रहा। उसने ग्वालो को सावधान कर दिया। ग्वालो ने हाडी को बास की खपाचो से बाध दिया। हाडी दूध से भरी थी। चावल अधिक थे। वे फूले तब हाडी फट गई। खीर नीचे ढुल गई। गोशालक के मन मे नियति का पहला बीज-वपन हो गया। उसने सोचा—जो होने का होता है वह होकर ही रहता है।[2] ऐसी अनेक घटनाए घटित हुई। एक-दो मुख्य घटनाए ही मैं तुम्हे बता रहा हू।

एक बार हम लोग सिद्धार्थपुर से कूर्मग्राम जा रहे थे।[3] रास्ते मे एक खेत आया। उसमे सात पुष्प वाला एक तिल का पौधा था। गोशालक ने मुझे पूछा—'क्या यह फलेगा?' मैंने कहा—'अवश्य फलेगा। इसके सात पुष्पो के सात जीव एक ही फली मे उत्पन्न होगे।'

मैं आगे बढ गया। गोशालक पीछे की ओर मुडा। उसने उस खेत मे जा तिल के पौधे को उखाड दिया।

हम कुछ दिन कूर्मग्राम मे ठहरकर वापस सिद्धार्थपुर जा रहे थे। फिर वही खेत आया। गोशालक ने कहा—'भते! वह तिल का पौधा नही फला, जिसके फलने की आपने भविष्यवाणी की थी।'

मैंने सामने की ओर उगली से सकेत कर कहा—'यह वही तिल का पौधा है, जिसके फलने की मैने भविष्यवाणी की थी और जिसे तुमने उखाड़ा था।'

---

१. साधना का तीसरा वर्ष।

२ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८३।

३. साधना का दसवा वर्ष।

गोशालक को मेरी बात पर विश्वास नही हुआ। वह उस पौधे के पास गया। उसकी फली को तोडकर देखा। उसमे सात ही तिल निकले। वह स्तब्ध रह गया। उसने आश्चर्य के साथ पूछा—'भते ! यह कैसे हुआ ?' मैंने उसे बताया—'तुम उस पौधे को उखाडकर आ गए। थोडी देर के बाद वर्षा हुई। उधर से एक गाय आई। उसका खुर उस पर पडा। वह जमीन मे गड़ गया।'

गोशालक के मन मे नियति का बीज अकुरित हो गया। उसने फिर उसी भाषा मे सोचा—'जो होने का होता है, वह होकर ही रहता है। मृत्यु के उपरान्त सभी जीव अपनी ही योनि मे उत्पन्न होते हैं।'[1]

गौतम बडी तन्मयता से भगवान् की बात सुन रहे थे। उनकी बुद्धि प्रत्येक तथ्य की गहराई तक पहुच रही थी। वे भगवान् के प्रत्येक वचन को बडी सूक्ष्मता से पकड रहे थे। वे अतृप्त जिज्ञासा को शान्त करने के लिए बोले—'भते ! आपने गोशालक को शक्ति के रहस्य सिखलाए, उस विषय मे कुछ सुनना चाहता हू।'

भगवान् ने कहना प्रारम्भ किया—'एक बार हम लोग कूर्मग्राम मे विहार कर रहे थे।[2] वहा वैश्यायन नाम का तपस्वी तपस्या कर रहा था। मध्याह्न का समय। दोनो हाथ ऊपर की ओर तने हुए थे। खुली जटा। सूर्य के सामने दृष्टि। यह थी उसकी मुद्रा। उसकी जटा से जूए गिर रही थी। वह उन्हे उठाकर पुन. अपनी जटा मे रख रहा था। यह देख गोशालक ने मुझसे पूछा—'भते ! यह जूओ का आश्रयदाता कौन है ?' उसने इस प्रश्न को कई बार दोहराया। तपस्वी क्रुद्ध हो गया। उसने गोशालक को जलाने के लिए तेजोलब्धि नामक योगशक्ति का प्रयोग किया। उसके मुह से धुआ निकलने लगा। उसके पीछे आग की तेज लपटें दीख रही थी। उस समय मैंने अपने शिष्य को भस्म होने देना उचित नही समझा। मैंने शीत तेजोलब्धि का प्रयोग कर उसे हतप्रभ कर दिया। गोशालक का जीवन बच गया।[3]

इस घटना का उसके मन पर बहुत असर हुआ। वह तेजोलब्धि को प्राप्त करने के लिए आतुर हो गया। मैंने उसका रहस्य गोशालक को बता दिया। उसने बडी तत्परता से तेजोलब्धि की साधना की। वह उसे प्राप्त कर शक्तिशाली हो गया।'

गौतम ने पूछा—'भते ! क्या मैं वह रहस्य जान सकता हू ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! जो व्यक्ति छह मास तक निरन्तर दो-दो उपवास (बेले-बेले) की तपस्या करता है, सूर्य के सामने दृष्टि रखकर खडे-खडे उसका

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६७, २६८।
२. साधना का दसवा वर्ष।
३. भगवती, १५।६०-६८; आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६८, २६६।

आतप लेता है, पारणा के दिन मुट्ठी भर उबले हुए छिलकेदार उड़द खाता है और चुल्लूभर गर्म पानी पीता है, वह तेजोलब्धि को प्राप्त कर लेता है।"[1]

गौतम जैसे-जैसे भगवान् को सुन रहे थे, वैसे-वैसे उनका मन भगवान् के चरणो मे लीन हो रहा था। वे अपने गुरु के गौरवमय अतीत पर प्रफुल्ल हो रहे थे। वे भावावेश मे बोले—'भते! मैंने आपको बहुत कष्ट दिया। पर क्या करू, इसके बिना अतीत की शून्यता को भर नही सकता। भते! आपको मेरी भावना की पूर्ति के लिए थोडा कष्ट और करना होगा। भते! महाश्रमण पार्श्व का धर्म-तीर्थ आज भी चल रहा है। उसमे सैकडो-सैकडो साधु-साध्विया विद्यमान हैं। भगवान् से उनका कभी साक्षात् नही हुआ?'

'गौतम! मुझे लोकमान्य अर्हत् पार्श्व के शासन से च्युत कुछ परिव्राजक मिले थे। उनके शासन का कोई साधु नही मिला। गोशालक से उनका साक्षात् हुआ था। मैं कुमाराक सन्निवेश के चपक-रमणीय उद्यान मे विहार कर रहा था। गोशालक मेरे साथ था। दुपहरी मे उसने भिक्षा के लिए सन्निवेश मे चलने का अनुरोध किया। मेरे उपवास था, इसलिए मैं नही गया। वह सन्निवेश मे गया।

उस सन्निवेश मे कूपनय नाम का कुभकार रहता था। वह बहुत धनाढ्य था। उसकी शाला मे भगवान् पार्श्व की परम्परा के साधु ठहरे हुए थे। गोशालक ने उन्हे देखा। उनके बहुरगी वस्त्रो को देख गोशालक ने पूछा—'आप कौन हैं?' उन्होने उत्तर दिया—'हम श्रमण हैं। भगवान् पार्श्व के शासन मे साधना कर रहे हैं।'

गोशालक बोला—'इतने वस्त्र-पात्र रखने वाले श्रमण कैसे हो सकते हैं?'

'उसने बहुत देर तक पार्श्वापत्यीय श्रमणो से वाद-विवाद किया। फिर मेरे पास लौट आया। उसने मुझसे कहा—'भते! आज मैंने परिग्रही साधुओ को देखा है।' मैंने अन्तर्ज्ञान से देखकर बताया—'वे परिग्रही नही है। वे भगवान् पार्श्व के शिष्य हैं।'[2]

'एक बार तम्बाय सन्निवेश मे भी पार्श्व की परम्परा के आचार्य नदिषेण के श्रमणो से गोशालक मिला था। गौतम! नदिषेण बहुत ज्ञानी और ध्यानी श्रमण थे। वे रात्रि के समय चौराहे पर खडे होकर ध्यान कर रहे थे। उस समय आरक्षिक का पुत्र आया। उसने नदिषेण को चोर समझकर मार डाला।'[3]

'भते! यह तो बहुत बुरा हुआ।'

'गौतम! क्या दासप्रथा बुरी नही है? क्या पशु-बलि बुरी नही है? क्या

---

१ भगवती १५।६९, ७०, ७६, आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९९।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८५, २८६।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९१।

शूद्र के प्रति घृणा बुरी नहीं है ? क्या नारी जाति के प्रति हीनता का भाव बुरा नहीं है ? आज का समाज न जाने कितनी बुराइयों का भार ढो रहा है। मैं इन बुराइयों को पत्र, पुष्प और फल मानता हूं। बुराई की जड़ है मिथ्या दृष्टिकोण। गौतम ! कुछ धर्माचार्य अग्र के शोधन में विश्वास करते हैं। मैं मूल और अग्र—दोनों के शोधन की अनिवार्यता प्रतिपादित करता हूं। तुम जाओ और इस पर गहराई से विचार करो'—यह कहकर भगवान् मौन हो गए। गौतम अतीत से हटकर भविष्य की कल्पना में खो गए।

२५

तत्कालीन धर्म और धर्मनायक

भारतीय क्षितिज मे धर्म का सूर्य सुदूर अतीत मे उदित हो चुका था। उसका आलोक जैसे-जैसे फैला वैसे-वैसे जनमानस आलोकित होता गया। आलोक के साथ गौरव बढ़ा और गौरव के साथ विस्तार।

भारतीय धर्म की दो धाराए बहुत प्राचीन है—श्रमण और वैदिक। श्रमण धारा का विकास आर्य-पूर्व जातियो और क्षत्रियो ने किया। वैदिक धारा का विकास ब्राह्मणो ने किया। दोनो मुख्य धाराओ की उप-धाराए अनेक हो गई। भगवान् महावीर के युग मे तीन सौ तिरेसठ धर्म-सम्प्रदाय थे—यह उल्लेख जैन लेखको ने किया है। बौद्ध लेखक बासठ धर्म-सम्प्रदायों का उल्लेख करते हैं। जैन आगमो मे सभी धर्म-सम्प्रदायो का चार वर्गों मे समाहार किया गया है—

१ क्रियावाद
२. अक्रियावाद
३ अज्ञानवाद
४ विनयवाद

भगवान् महावीर गृहस्थ जीवन मे इन वादों से परिचित थे।[1] इनकी समीक्षा कर उन्होने क्रियावाद का मार्ग चुना था।

भगवान् महावीर का समय धार्मिक चेतना के नव-निर्माण का समय था। विश्व के अनेक अचलो मे प्रभावी धर्म-नेताओ द्वारा सदाचार और अध्यात्म की लौ प्रज्वलित हो रही थी। चीन मे कन्फ्युशस और लाओत्से, यूनान मे पैथागोरस, ईरान मे जरथुस्त, फिलस्तीन मे मूसा आदि महान् दार्शनिक दर्शन के रहस्यो को अनावृत कर रहे थे। भारतवर्ष मे श्वेतकेतु, उद्दालक, याज्ञवल्क्य आदि ऋषि

---

१. सूयगडो १।६।२७।

औपनिषदिक अध्यात्म का प्रचार कर रहे थे। श्रमण परम्परा में अनेक तीर्थंकर विचार-क्रान्ति का नेतृत्व कर रहे थे। उनमें मुख्य थे—मक्खलिपुत्त गोशालक, पूरणकश्यप, पकुधकात्यायन, अजितकेशकबली और सजयवेलट्ठिपुत्त। भगवान् बुद्ध ने भगवान् महावीर के दस वर्ष बाद बोधि प्राप्त की थी। भगवान् महावीर ने ई० पू० ५५७ मे कैवल्य प्राप्त किया और भगवान् बुद्ध ने ई० पू० ५४७ में बोधि प्राप्त की। भगवान् पार्श्व का निर्वाण हो चुका था। उनकी परम्परा का नेतृत्व कुमारश्रमण केशी कर रहे थे।

भगवान् पार्श्व का धर्म भारतवर्ष के विभिन्न अंचलो मे प्रभावशाली हो चुका था। भगवान् नागवशी थे। अनेक नागवशी राजतन्त्र और गणतन्त्र उनके अनुयायी थे। मध्य एव पूर्वी देशो के व्रात्य क्षत्रियो मे उनका धर्म लोकप्रिय हो चुका था। वैशाली और वैदेह के वज्जीगण भगवान् पार्श्व के परम भक्त थे। भगवान् महावीर का परिवार भगवान् पार्श्व के धर्म का अनुयायी था। भगवान् बचपन से ही भगवान् पार्श्व और उनकी धर्म-परम्परा से परिचित थे। भगवान् का गृहत्याग श्रमणधर्म की प्राची मे बाल-सूर्य के आलोक का सचार था। भगवान् के द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन श्रमणधर्म के पुनरुत्थान का अभिनव अभियान था।

भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के प्रति अत्यन्त श्रद्धानत थे। वे भगवान् पार्श्व को पुरुषादानीय (लोकनेता) के सम्मान्य सबोधन से सम्बोधित करते थे।[1] किन्तु भगवान् पार्श्व की परम्परा मे, कुछ कारणो से, लक्ष्य के प्रति शिथिलता आ गई थी। भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन का अर्थ था—पार्श्व की परम्परा का नवीनीकरण।

भगवान् पार्श्व ने सामायिक चारित्र का प्रतिपादन किया था। उनके सघ मे सम्मिलित होने वाले समता की साधना का व्रत लेते थे। उनके सामायिक के चार अग थे—

१. अहिंसा
२ सत्य
३ अचौर्य
४ बाह्यादान (परिग्रह) विरमण।

भगवान् महावीर ने देखा भगवान् पार्श्व के श्रमण ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सम्बन्ध मे शिथिल दृष्टिकोण अपनाते जा रहे हैं। भगवान् पार्श्व द्वारा प्रदत्त पूर्व-ज्ञान का प्रयोग चमत्कार-प्रदर्शन मे कर रहे हैं। साधना-काल में भगवान् को ऐसे अनेक अनुभव हुए थे। मक्खलिपुत्त गोशालक को अष्टाग-निमित्त की शिक्षा देने वाले श्रमण भगवान् पार्श्व की परम्परा में ही दीक्षित हुए थे। उनके नाम हैं—

---

१ भगवती, ५।२५५ . से नूण भे अज्जो ! पासेणं अरहया पुरिसादाणिएणं'।

शाण, कलद, कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवैश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन। वे सुख-दुःख, लाभ-अलाभ और जीवन-मृत्यु के रहस्यो के पारगामी विद्वान् थे। उनकी भविष्यवाणी बडी चमत्कारपूर्ण होती थी। वे भगवान् पार्श्व के शासन से पृथक् होकर अष्टांग-निमित्त से जीविका चलाते थे।[1]

भगवान् महावीर इन सारी परिस्थितियो का अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुचे कि वर्तमान परम्परा मे नया प्राण फूके बिना उसे सजीव नही बनाया जा सकता।

१. भगवती, १५।३ ६, भगवती वृत्ति, पत्र ६५९ : पासावच्चिज्जत्ति चूर्णिकार ।

२६

नई स्थापनाएं : नई परम्पराएं

भगवान् महावीर ने समता धर्म को वही प्रतिष्ठा दी जो भगवान् पार्श्व ने दी थी। भगवान् ने दीक्षा का प्रारम्भ समता के सकल्प से ही किया और कैवल्य प्राप्त कर सबसे पहले समता धर्म की व्याख्या की। उनके गणधरो ने सर्वप्रथम समता के प्रतिनिधि ग्रन्थ सामायिक सूत्र की रचना की। किन्तु भगवान् ने परिस्थिति के संदर्भ मे सामायिक का विस्तार कर दिया। सामायिक के तीन प्रकार हैं—

१. सम्यक्त्व सामायिक—सम्यग् दर्शन।

२ श्रुत सामायिक—सम्यग् ज्ञान।

३. चारित्र सामायिक—सम्यक् चारित्र।

भगवान् महावीर को सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान मे कोई परिवर्तन करना आवश्यक प्रतीत नही हुआ। उन्होने केवल चारित्र सामायिक का विकास किया।

भगवान् महावीर ने चार महाव्रतों का विस्तार कर उनकी सख्या पांच कर दी।[1] जैसे—

१. अहिंसा

२. सत्य

३. अचौर्य

४. ब्रह्मचर्य

५. अपरिग्रह।

---

१. (क) भगवई, २०।६६।

(ख) मूलाचार, ७।३६,३७।

(ग) तत्त्वार्थवार्तिक, भाग १, पृ० ४१ : चतुर्धा चतुर्यमभेदात्, पञ्चधा सामायिकादि-विकल्पात्।

भगवान् ने जितना बल अहिंसा पर दिया, उतना ही बल ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर दिया। उनकी वाणी पढने वाले को इसकी प्रतिध्वनि पग-पग पर सुनाई देती है।

भगवान् ने कहा—'जिसने ब्रह्मचर्य की आराधना कर ली, उसने सब व्रतो की आराधना कर ली। जिसने ब्रह्मचर्य का भग कर दिया, उसने सब व्रतो का भग कर दिया।"[1]

जो अब्रह्मचर्य का सेवन नही करते, वे मोक्ष जाने वालो की पहली पक्ति मे हैं।[2]

भगवान् का यह स्वर उनके उत्तराधिकार मे भी गुजित होता रहा है। एक आचार्य ने लिखा है—'कोई व्यक्ति मौनी हो या ध्यानी, वल्कल चीवर पहनने वाला हो या तपस्वी, यदि वह अब्रह्मचर्य की प्रार्थना करता है, तो वह मेरे लिए प्रिय नही है, भले फिर वह साक्षात् ब्रह्मा ही क्यो न हो।"[3]

भगवान् की आत्म-निष्ठा और अनुत्तर इन्द्रिय-विजय ने ब्रह्मचर्य-विकास के नए आयाम खोल दिए। उनसे पूर्व अब्रह्मचर्य को अनेक दिशाओ मे प्रोत्साहन मिल रहा था। कुछ धर्म-चिन्तक 'सतान पैदा किए बिना परलोक मे गति नही होती'—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर विवाह की अनिवार्यता प्रतिपादित कर रहे थे। कुछ सन्यासी अब्रह्मचर्य को स्वाभाविक कर्म बतलाकर उसकी निर्दोषता प्रमाणित कर रहे थे। वे कह रहे थे—जैसे व्रण को सहलाना स्वाभाविक है वैसे ही वासना के व्रण को सहलाना स्वाभाविक है। इन दोनो धारणाओ के प्रतिरोध मे खडे होकर भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य को इतना मूल्य दिया कि उनके उत्तर-युग मे गृहवास मे रहकर भी ब्रह्मचारी रहने को जीवन की सार्थकता समझा जाने लगा।

भगवान् दीक्षित हुए तब उनके पास केवल एक वस्त्र था। कुछ दिनो बाद उसे भी छोड दिया। वे मूर्च्छा की दृष्टि से प्रारम्भ से ही निर्ग्रन्थ थे, किन्तु वस्त्र-त्याग के बाद उपकरणों से भी निर्ग्रन्थ हो गए।

तीर्थ-प्रवर्तन के बाद भगवान् ने निर्ग्रन्थो को सीमित वस्त्र और पात्र रखने की अनुमति दी और वह केवल उन्ही निर्ग्रन्थो को जो लज्जा पर विजय पाने मे असमर्थ थे। महावीर के इन परिवर्तनो ने भगवान् पार्श्व और स्वय उनके शिष्यो मे एक प्रश्न पैदा कर दिया। केशी और गौतम की चर्चा मे इसका स्पष्ट चित्र मिलता है।

---

१ पण्हावागरणाइ, ९।३।

२ पण्हावागरणाइ, ९।३।

३ जइ ठाणी जइ मोणी, जइ झाणी वक्कली तवस्सी वा।
पत्थतो य अबभ, बभा वि न रोयए मज्झ॥

गौतम स्वामी अपने शिष्यो के साथ श्रावस्ती आए। कुमारश्रमण केशी पहले ही वहा उपस्थित थे। गौतम कोष्ठक उद्यान मे ठहरे। केशी तिन्दुक उद्यान मे ठहरे हुए थे। दोनो के शिष्यो ने एक-दूसरे को देखा। उनके मन के प्रश्न उभार मे आ गए। उन्होने आपस मे चर्चा शुरू कर दी। 'हमारा लक्ष्य एक है तब फिर यह भेद क्यो ? यह चार और पाच महाव्रतों का भेद क्यो ? यह पूर्ण वस्त्र और अवस्त्र या अल्पवस्त्र का भेद क्यों ?' यह चर्चा गौतम और केशी के कानो तक पहुची। दोनो ने अपने-अपने शिष्यो की जिज्ञासा का समाधान करना चाहा। मिलने की योजना बन गई।

गौतम अपने शिष्यो को लेकर तिन्दुक वन मे पहुच गए। केशी ने उनका स्वागत किया। उन्हे बैठने के लिए आसन दिए। दोनो के बीच चर्चा शुरू हुई।[१]

केशी द्वारा महाव्रतो के विस्तार का कारण पूछने पर गौतम ने कहा—'भगवान् पार्श्व के युग मे मुनि ऋजु-प्रज्ञ थे। वे व्रत के आशय को पकडते थे। भगवान् पार्श्व ने बाह्य के आदान का प्रतिषेध किया। इस आधार पर वे अब्रह्म और परिग्रह दोनो का निषेध स्वीकार कर लेते थे। आज स्थिति बदल गई है। वर्तमान के मुनि वक्र-प्रज्ञ है। ये आशय की अपेक्षा शब्दो को पकडने मे चतुर हैं। आपको ज्ञात ही है कि आज आपकी परम्परा के अनेक मुनि यह कहने लग गए हैं कि भगवान् पार्श्व ने अब्रह्मचर्य का निषेध नही किया है। इस धारणा से उनकी मानसिक शिथिलता को पनपने का अवसर मिला है। भगवान् महावीर ने इस स्थिति को देख 'बहिर्द्धादान-विरमण' महाव्रत का विस्तार कर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन दो स्वतत्र महाव्रतो की स्थापना कर दी। अब्रह्मचर्य की वृत्ति को प्रश्रय देने के लिए जिस कुतर्क का प्रयोग किया जाता था, उसका इस स्थापना के द्वारा समूल उन्मूलन हो गया। यह हमारे धर्म की द्विधा नही हैं। यह है वर्तमान मानस का उपचार।'[२]

केशी ने बडी शालीनता के साथ कहा—'गौतम ! आपने महाव्रतो के विस्तार के बारे में जो कहा, वह मुझे उचित लगता है। मैं उसका समर्थन करता हू और मैं देख रहा हूं कि मेरे शिष्य भी उसका समर्थन कर रहे हैं। पर भगवान् महावीर ने यह वेश की द्विधा क्यो की ? इससे आपकी धारा श्रमण-परम्परा की मुख्य धारा से पृथक् होकर प्रवाहित होने लगी है। भगवान् पार्श्व के तीर्थ की वेषभूषा को स्वीकार करने मे भगवान् महावीर के सामने क्या कठिनाई थी ?'

गौतम ने बताया—'युग-चेतना ने मुनि की वेशभूषा के पुराने मूल्यों को अस्वीकार कर दिया है। मुनि के लिए रगीन और बहुमूल्य वस्त्रो का उपयोग अब

१ उत्तरज्झयणाणि, २३।१-२२।
२. उत्तरज्झयणाणि, २३। २३-२८।

मान्य नही है। भगवान् महावीर ने वर्तमान की समस्या का अध्ययन कर वेषभूषा में परिवर्तन किया।'

'जीवन-यात्रा का निर्वाह वेश-धारण का प्रयोजन है। जनता को उसके मुनि होने की प्रतीति हो, यह भी उसका प्रयोजन है। वेश केवल प्रयोजन की निष्पत्ति है, मुक्ति का साधन नही है। उसके साधन हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। इस विषय मे भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर का पूर्ण मतैक्य है।'

'भगवान् महावीर ने देखा—वर्तमान के मुनि वेश मे कुछ आसक्त होते जा रहे है। मुनि-जीवन आसक्ति को क्षीण करने के लिए है, फिर उसका वेश आसक्ति को बढ़ाने वाला क्यो होना चाहिए ? इस चिंतन के आधार पर भगवान् ने अवस्त्र रहने का विधान किया और कोई अवस्त्र न रह सके उसके लिए अल्पमूल्य वाले अल्पवस्त्र रखने का विधान किया है। यह द्विधा का प्रयत्न नही है, यह मुख्य धारा से पृथक् चलने का प्रयत्न नही है, किन्तु उमे इस दिशा की ओर मोडने का प्रयत्न है।'[१]

केशी के शिष्यो का चित्त समाहित हो गया। उनके मन मे एक नई स्फुरणा का उदय हुआ। केशी स्वयं बहुत प्रभावित हुए। उन्होने शिष्यो की भावना को पढा और महावीर के तीर्थ मे सम्मिलित होने का प्रस्ताव रख दिया। यह गौतम की बहुत बडी सफलता थी। महावीर के शासन मे एक नया मोड लिया। एक प्राचीन तथा प्रभावी स्रोत के मिलन से उसकी धारा विस्तीर्ण हो गई।

भगवान् पार्श्व के शिष्यो ने महावीर और उनके तीर्थ को सहज ही मान्यता नही दी। वे लम्बी-लम्बी चर्चाओ के बाद उनके तीर्थ मे सम्मिलित हुए और कुछ साधु अन्त तक भी उसमे सम्मिलित नही हुए।

गौतम ने केशी और उनकी शिष्य-सपदा को पच-महाव्रत की परम्परा मे दीक्षित किया। वह एक अद्भुत दृश्य था। उसे देखने के लिए हजारो लोग उपस्थित थे। अनेक सम्प्रदायो के श्रमण भी बडी उत्सुकता से देख रहे थे। वह कोई साधारण घटना नही थी। वह था अतीत और वर्तमान का सामजस्य। वह था महान् श्रमण-नेताओ की दो धाराओ का एकीकरण।[२]

भगवान् ने रात्रि-भोजन न करने को एक व्रत का रूप दिया[३]। गमन, भाषा, भोजन, उपकरणों का लेना-रखना और उत्सर्ग—इन विषयो मे होने वाले प्रमाद और असावधानी का निवारण करने के लिए भगवान् ने पाच समितियो की व्यवस्था की।[४] जैसे—

१. उत्तरज्झयणाणि, २३।२९-३४।
२. उत्तरज्झयणाणि, २३।८६, ८९।
३ दसवेआलिय, ६।२५।
४ उत्तरज्झयणाणि, २४।१,२।

१. ईर्या—गतिशुद्धि का विवेक।
२. भाषा—भाषाशुद्धि का विवेक।
३. एषणा—भोजन का विवेक।
४. आदान-निक्षेप—उपकरण लेने-रखने का विवेक।
५ उत्सर्ग—मल-मूत्र के विसर्जन का विवेक।

इन समितियो का विधान कर भगवान् ने साधु-सघ के सामने अहिंसा का व्यापक रूप उपस्थित कर दिया, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अहिंसा की व्यावहारिकता, उपयोगिता और सार्थकता का दृष्टिकोण प्रस्तुत कर दिया। उनका साधु-सघ अहिंसा की साधना मे अत्यन्त जागरूक हो गया।

भगवान् जीवन की छोटी-छोटी प्रवृत्तियो पर बड़ी गहराई से ध्यान देते थे। वे किसी को दीक्षित करते ही उसका ध्यान इन छोटी-छोटी प्रवृत्तियो की ओर आकृष्ट करते।

मेघकुमार सम्राट् श्रेणिक का पुत्र था। वह भगवान् के पास दीक्षित हुआ। मेघकुमार ने प्रार्थना की—'भंते ! मैं सयम-जीवन की यात्रा के लिए आपसे शिक्षा चाहता हू।' उस समय भगवान् ने चलने, बैठने, खडे रहने, सोने, खाने और बोलने मे अहिंसा के आचरण की शिक्षा दी।[1] जीवन की महानता का निर्माण छोटी-छोटी प्रवृत्तियो की क्षमता पर होता है—यह सत्य उनके समिति-विधान मे अभिव्यक्त हो रहा है।

भगवान् ने सयम की साधना के लिए तीन गुप्तियो का निरूपण किया[2]—

१ मनगुप्ति—मन का सवर, केन्द्रित विचार या निर्विचार।
२ वचनगुप्ति—वचन का सवर, मौन।
३ कायगुप्ति—काय का स्थिरीकरण, शिथिलीकरण, ममत्व-विसर्जन।

भगवान् ने देखा—अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि सयम-साधना की निष्पत्तिया हैं। उनकी सिद्धि के लिए साधनो का सम्यक् चयन और अभ्यास होना चाहिए।

भाषासमिति और वचनगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है—जीवन मे सत्य की प्रतिष्ठा।

ईर्या, एषणा, उत्सर्ग, कायगुप्ति और मनगुप्ति के सम्यक अभ्यास का अर्थ है—जीवन मे अहिंसा की प्रतिष्ठा।

कायगुप्ति और मनगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है—जीवन में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा।

कायगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है—जीवन मे अपरिग्रह की प्रतिष्ठा।

---

१ नायाधम्मकहाओ, १।१५०।
२ उत्तरज्झयणाणि, २४।१,२।

भगवान् महावीर ने भगवा पार्श्व के चतुर्याम धर्म का विस्तार कर त्रयोदशाग धर्म की प्रतिष्ठा की है। जैसे[1]-

१. अहिसा
२ सत्य
३. अचौर्य
४. ब्रह्मचर्य
५. अपरिग्रह
६. मम्यक् गति
७ सम्यक् भाषा
८ सम्यक् आहार
९. सम्यक् प्रयोग
१० सम्यक् उत्सर्ग
११. मनगुप्ति
१२. वचनगुप्ति
१३. कायगुप्ति।

इस विभागात्मक धर्म की स्थापना के दो फलित हुए—

१ भगवान् पार्श्व के श्रमणो मे आ रही आन्तरिक शिथिलता पर नियन्त्रण।

२. आन्तरिक शिथिलता के समर्थक तत्त्वो का समाधान।

भगवान् महावीर न श्रामणिक, लौकिक और वैदिक—तीनो परम्पराओ के उन आचारो और विचारो का प्रतिवाद किया जो अहिसा की शाश्वत प्रतिमा का विखडन कर रहे थे। इस आधार पर भगवान् तीनो परम्पराओ के सुधारक या उद्धारक बन गए।

कुछ विद्वान् मानते है कि भगवान् महावीर यज्ञो और कर्मकाण्डो मे सशोधन करने के लिए एक क्रान्तिकारी धर्मनेता के रूप मे सामने आए और उन्होने जैन धर्म का प्रवर्तन किया। किन्तु यह मत तथ्यो पर आधृत नही है। वास्तविकता यह है कि भगवान् श्रमण-परम्परा के क्षितिज मे उदित हुए। उनका प्रकाश परम्परा से मुक्त होकर फैला। उसने सभी परम्पराओ को प्रकाशित किया। भगवान् के सामने वेदो की प्रामाणिकता और ब्राह्मणो की प्रधानता को अस्वीकृत करने का प्रश्न ही नही था। वह श्रमण-परम्परा के द्वारा पहले से ही स्वीकृत नही थी। श्रमण और वैदिक—ये दोनो महान् भारतीय जाति की स्वतत्र शाखाए स्वतन्त्र रूप मे विकसित हुई थी। दोनो मे भगिनी का सम्बन्ध था, माता और पुत्री का नही।

भगवान् महावीर समन्वयवादी थे। वे क्षत्रियो और ब्राह्मणो के बीच चल रही दीर्घकालीन कटुता को समाप्त करना चाहते थे। उन्होने ब्राह्मणो को प्रधानता दी—एक जाति के रूप मे नही, किन्तु व्यक्ति के रूप मे। जातीय भेद-भाव उन्हे मान्य नही था।

---

१ चारित्रभक्ति (पूज्यपाद रचित), श्लोक ७

तिस्र सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदया,
पचेर्यादिसमाश्रया: समितय पचव्रतानीत्यपि।
चारित्रोपहित त्रयोदशतय पूर्वं न दृष्ट परै-
राचार परमेष्ठिनो जिनमतेर्वीरान् नमामो वयम्॥

२७

क्रान्ति का सिंहनाद

इस विश्व मे प्रकाश और तिमिर की भाति सत् और असत् अनादिकाल से है। कोई भी युग केवल प्रकाश का नही होता और कोई भी युग केवल अन्धकार का नही होता। आज भी प्रकाश है और महावीर के युग मे भी अन्धकार था। भगवान् ने मानवीय चेतना की सहस्र रश्मियो को दिग्-दिगत मे फैलने का अवसर दिया। मानस का कोना-कोना आलोक से भर उठा।

भगवान् महावीर ने अहिंसा को समता की भूमिका पर प्रतिष्ठित कर उस युग की चिन्तनधारा को सबसे बडी चुनौती दी। अहिंसा का सिद्धान्त श्रमण और वैदिक—दोनो को मान्य था। किन्तु वैदिको की अहिंसा शास्त्रो पर प्रतिष्ठित थी। उसके साथ विषमता भी चलती थी। उसके घटक तत्त्व भी चलते थे।

१. जातिवाद

विषमता का मुख्य घटक था जन्मना जाति का सिद्धान्त। ब्राह्मण जन्मना श्रेष्ठ माना जाता है और शूद्र जन्मना तुच्छ। इस जातिवाद के विरोध मे उन सब ने आवाज उठाई जो अध्यात्म-विद्या मे निष्णात थे।

बृहदारण्यक उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य कहते हैं—'ब्रह्मनिष्ठ साधु ही सच्चा ब्राह्मण है।' किन्तु इस प्रकार के स्वर इतने मद थे कि जातिवाद के कोलाहल मे जनता उन्हे सुन ही नही पाई। भगवान् महावीर ने उस स्वर को इतना बलवान् बनाया कि उसकी ध्वनि जन-जन के कानो से टकराने लगी। भगवान् ने कर्मणा जाति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

भगवान् के शासन मे दास, शूद्र और चाडाल जाति के व्यक्ति दीक्षित हुए और उन्हे ब्राह्मणो के समान उच्चता प्राप्त हुई। भगवान् ने अपनी साधु-सस्था को प्रयोगभूमि बनाया। उसमे जातिमद तथा गोत्रमद को निर्मूल करने के प्रयोग

किए। आज हमे अचरज हो सकता है कि साधु-सस्था मे इस प्रयोग का अर्थ क्या है ? किन्तु ढाई हज़ार वर्ष पुराने युग मे यह अचरज की बात नही थी। उस समय यह वास्तविकता थी। बहुत सारे साधु-सन्यासी जाति-गोत्र की उच्चता और नीचता के प्रतिपादन मे अपना श्रेय मानते थे। यह विषमता धर्म के मंच से ही पाली-पोसी जाती थी। इसका विरोध भी धर्म के मच से हो रहा था। भगवान् महावीर ने समता के मच का नेतृत्व सम्भाल लिया। उनके सशक्त नेतृत्व को पाकर समता का आन्दोलन प्राणवान् हो गया।

भगवान् के सघ मे सम्मिलित होने वाले व्यक्ति को सबसे पहले समता (सामायिक) का व्रत स्वीकारना होता, फिर भी कुछ मुनियो के जाति-सस्कार क्षीण नही होते।

१. एक बार कुछ निर्ग्रन्थ भगवान् के पास आकर बोले—'भते ! हम भगवान् के धर्म-शासन मे प्रव्रजित हुए है। भगवान् ने हमे समता-धर्म मे दीक्षित किया है। फिर भी भते ! हमारे कुछ साथी अपने गोत्र का मद करते हैं और अपने बडप्पन को बखानते हैं।'

भगवान् ने उस साधु-कुल को आमत्रित कर कहा—

'आर्यो ! तुम प्रव्रजित हो, इसकी तुम्हे स्मृति है ?'

'भते ! है।'

'आर्यो ! तुम कहा प्रव्रजित हो, इसकी तुम्हें स्मृति है ?'

'भते ! है। हम भगवान् के शासन मे प्रव्रजित हैं।'

'आर्यो ! तुम्हे इसका पता है, मैंने किस धर्म का प्रतिपादन किया है ?'

'भते ! हमे वह ज्ञात है। भगवान् ने समता-धर्म का प्रतिपादन किया है।'[1]

'आर्यो ! समता-धर्म मे जाति-मद के लिए कोई स्थान है ?'

'भते ! नही है। पर हमारे पुराने सस्कार अभी छूट नहीं रहे है।'

उस समय भगवान् ने उन्हे पथ-दर्शन दिया—

'जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र या लिच्छवि मेरे समता-धर्म मे दीक्षित होकर गोत्र का मद करता है, वह लौकिक आचार का सेवन करता है।'

'वह सोचे—क्या परदत्तभोजी श्रमण को गोत्र-मद करने का अधिकार है ?'

'वह सोचे— क्या उसे जाति और गोत्र त्राण दे सकते है या विद्या और चारित्र ?[2]

१ सूयगडो, १।२।६ . समताधम्म मुदाहरे मुणी।

२ सूयगडो, १।१३।१०, ११ :

जे माहणे खत्तिए जाइए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छवी वा।
जे पव्वइए परदत्तभोई, गोत्तेण जे थब्भति माणबद्धे॥
ण तस्स जाती व कुल व ताणं, णण्णत्थ विज्जाचरण सुचिण्ण।
णिक्खम्म से सेवईऽगारिकम्मं, ण से पारए होति विमोयणाए॥

२. एक निर्ग्रन्थ ने पूछा—'तो भंते ! हमारा कोई गोत्र नहीं है ?'

'सर्वथा नहीं।'

'भंते ! यह कैसे ?'

'तुम्हारा ध्येय क्या है ?'

'भंते ! मुक्ति।'

'वहां तुम्हारा कौन-सा गोत्र होगा ?'

'भंते ! वह अगोत्र है।'

'सगोत्र अगोत्र में प्रवेश नहीं पा सकता। इसलिए मैं कहता हूं—तुम अगोत्र हो, गोत्रातीत हो।'

भगवान् ने निर्ग्रन्थों को सम्बोधित कर कहा—'आर्यो ! निर्ग्रन्थ को प्रज्ञा, तप, गोत्र और आजीविका का मद नहीं करना चाहिए। जो इनका मद नहीं करता, वही सब गोत्रों से अतीत होकर अगोत्र-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।'[1]

३ भगवान् के संघ में सब गोत्रों के व्यक्ति थे। सब गोत्रों के व्यक्ति उनके सम्पर्क में आते थे। उस समय नाम और गोत्र से सम्बोधित करने की प्रथा थी। उच्च गोत्र से सम्बोधित होने वालों का अहं जागृत होता। नीच गोत्र से सम्बोधित व्यक्तियों में हीन भावना उत्पन्न होती। अहं और हीनता—ये दोनों विषमता के कीर्ति-स्तम्भ हैं। भगवान् को इनका अस्तित्व पसन्द नहीं था। भगवान् ने एक बार निर्ग्रन्थों को बुलाकर कहा—'आर्यो ! मेरी आज्ञा है कि कोई निर्ग्रन्थ किसी को गोत्र से सम्बोधित न करे।'[2]

४ जैसे-जैसे भगवान् का समता का आन्दोलन बल पकड़ता गया, वैसे-वैसे जातीयता के जहरीले दांत काटने को आकुल होते गए। विषमता के रंगमंच पर नए-नए अभिनय शुरू हुए। ईश्वरीय सत्ता की दुहाई से समता के स्वर को क्षीण करने का प्रयत्न होने लगा।

इधर मानवीय सत्ता के समर्थक सभी श्रमण सक्रिय हो गए। भगवान् बुद्ध का

---

१. सूयगडो, १।१३।१५,१६.
पण्णामदं चेव तवोमदं च, णिण्णामए गोयमदं च भिक्खू।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उत्तमपोग्गले से॥
एयाइं मदाइं विगिंच धीरा, णेताणि सेवंति सुधीरधम्मा।
ते सव्वगोत्तावगता महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयंति॥

२. सूयगडो, १।६।२७
गोयावायं च णो वए। सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० २२५ : यथा
किं भो ! ब्राह्मण क्षत्रिय काश्यपगोत्र इत्यादि।

स्वर भी पूरी शक्ति से गूजने लगा। श्रमणो का स्वर विषमता से व्यथित मानस को वर्षा की पहली फुहार जैसा लगा। इसका स्वागत उच्च गोत्रीय लोगो ने भी किया। क्षत्रिय इस आन्दोलन मे पहले से ही सम्मिलित थे। ब्राह्मण और वैश्य भी इसमे सम्मिलित होने लगे। यह धर्म का आन्दोलन एक अर्थ मे जन-आन्दोलन बन गया। इसे व्यापक स्तर पर चलाना भिक्षुओ का काम था। भगवान् बडी सतर्कता से उनके सस्कारो को माजते गए।

एक बार कुछ मुनियो मे यह चर्चा चली कि मुनि होने पर शरीर नही छूटता, तब गोत्र कैसे छूट सकता है ? यह बात भगवान् तक पहुची। तब भगवान् ने मुनि-कुल को बुलाकर कहा—'आर्यो ! तुमने सर्प की केंचुली को देखा है ?'

'हा, भते ! देखा है।'

'आर्यो ! तुम जानते हो, उससे क्या होता है ?'

'भते ! केंचुली आने पर सर्प अन्धा हो जाता है ?'

'आर्यो ! केंचुली के छूट जाने पर क्या होता है ?'

'भते ! वह देखने लग जाता है।'

'आर्यो ! यह गोत्र मनुष्य के शरीर पर केचुली है। इससे मनुष्य अन्धा हो जाता है। इसके छूटने पर ही वह देख सकता है। इसलिए मै कहता हू कि सर्प जैसे केचुली को छोड देता है, वैसे ही मुनि गोत्र को छोड दे। वह गोत्र का मद न करे। किसी का तिरस्कार न करे।'[1]

५ भगवान् के सघ मे अभिवादन की एक निश्चित व्यवस्था थी। उसके अनुसार दीक्षा-पर्याय मे छोटे मुनि को दीक्षा-ज्येष्ठ मुनि का अभिवादन करना होता था। एक मुनि के सामने यह व्यवस्था समस्या बन गई। वह राज्य को छोडकर मुनि बना था। उसका नौकर पहले ही मुनि बन चुका था। राजर्षि की आखो पर मद का आवरण आ गया। उसने उस नौकर मुनि का अभिवादन नही किया। यह बात भगवान् तक पहुची। भगवान् ने मुनि-परिषद् को आमत्रित कर कहा, 'सामाजिक व्यवस्था मे कोई सार्वभौम सम्राट् होता है, कोई नौकर और कोई नौकर का भी नौकर। किन्तु मेरे धर्म-सघ मे दीक्षित होने पर न कोई सम्राट् रहता है और न कोई नौकर। वे बाहरी उपाधियो से मुक्त होकर उस लोक मे पहुच जाते है, जहा सब सम हैं, कोई विषम नही है। फिर अपने दीक्षा-ज्येष्ठ का

---

१. सूयगडो, १।२।२३,२४ ·

तय स व जहाइ से रयं, इइ सखाय मुणी ण मज्जई।
गोयण्णतरेण माहणे, अहऽसेयकरी अण्णेसि इखिणी ॥
जो परिभवई पर जण, संसारे परिवत्तई मह।
अदु इखिणिया उ पाविया, इइ सखाय मुणी ण मज्जई ॥

अभिवादन करने में किसी को लज्जा का अनुभव नही होना चाहिए। सम्राट् और नौकर होने की विस्मृति होने पर ही आत्मा मे समता प्रतिष्ठित हो सकती है।"[1]

राजर्षि का अहं विलीन हो गया। उनका नौकर अब उनका सार्धमिक भाई बन गया।

भगवान् ने अपने सघ को एक समता-सूत्र दिया। वह हजारो-हजारों कठों से मुखरित होता रहा। उसने असख्य लोगो के 'अहं' का परिशोधन किया। वह सूत्र है—

'यह जीव अनेक बार उच्च या नीच गोत्र का अनुभव कर चुका है। अतः न कोई किसी से हीन है और न कोई अतिरिक्त। यह जीव अनेक बार उच्च या नीच गोत्र का अनुभव कर चुका है—यह जान लेने पर कौन गोत्रवादी होगा और कौन मानवादी।"[2]

भगवान् ने अपने सघ मे समता का बीज बोया, उसे सीचा, अकुरित किया, पल्लवित, पुष्पित और फलित किया।

भगवान् ने समता के प्रति प्रगाढ आस्था उत्पन्न की। अत· उसकी ध्वनि सब दिशाओ मे प्रतिध्वनित होने लगी।

जयघोष मुनि घूमते-घूमते वाराणसी मे पहुचे। उन्हे पता चला कि विजयघोष यज्ञ कर रहा है। वे विजयघोष की यज्ञशाला मे गए। यज्ञ और जातिवाद का अहिसक ढग से प्रतिवाद करना महावीर के शिष्यो का कार्यक्रम बन गया था। इस कार्यक्रम मे ब्राह्मण मुनि काफी रस ले रहे थे। जयघोष जाति से ब्राह्मण थे। विजयघोष भी ब्राह्मण था। एक यज्ञ का प्रतिकर्ता और दूसरा उसका कर्ता। एक जातिवाद का विघटक और दूसरा उसका समर्थक।

श्रमण और वैदिक—ये दो जातिया नही हैं। ये दोनो एक ही जाति-वृक्ष की दो विशाल शाखाए है। उनका भेद जातीय नही किन्तु सैद्धान्तिक है। श्रमण-धारा का नेतृत्व क्षत्रिय कर रहे थे और वैदिक धारा का नेतृत्व ब्राह्मण। फिर भी बहुत सारे ब्राह्मण श्रमण-धारा मे चल रहे थे और बहुत सारे क्षत्रिय ब्राह्मण-धारा मे। उस समय धर्म-परिवर्तन व्यक्तिगत प्रश्न था। उसका व्यापक प्रभाव नही

---

१ सूयगडो, १।२।२५.
जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसगे सिया।
इव मोणपय उवट्ठिए, णो लज्जे समय सया चरे॥

२ आयारो, २।४६, ५०
से असइ उच्चागोए, असइ णीयागोए।
णो हीणे णो अइरित्ते, णो पीहए।
इति सखाय के गोयावादी ? के माणावादी ?

होता था। यदि धर्म-परिवर्तन का अर्थ जाति-परिवर्तन होता तो समस्या बहुत गम्भीर बन जाती। किन्तु एक ही भारतीय जाति के लोग अनेक धर्मों का अनुगमन कर रहे थे, इसलिए उनके धर्म-परिवर्तन का प्रभाव केवल वैचारिक स्तर पर होता। जातीय स्तर पर उसका कोई प्रभाव नही होता।

विजयघोष के मन मे वैचारिक भेद उभर आया। उसने दर्प के साथ कहा—'मुने! इस यज्ञ-मडप मे तुम भिक्षा नही पा सकते। कही अन्यत्र चले जाओ। यह भोजन वेदविद् और धर्म के पारगामी ब्राह्मणो के लिए बना है।'

मुनि बोले—'विजयघोष! मुझे भिक्षा मिले या न मिले, इसकी मुझे कोई चिन्ता नही। मुझे इसकी चिन्ता है कि तुम ब्राह्मण का अर्थ नही जानते।'

विजयघोष—'इसका अर्थ जानने मे कौन-सी कठिनाई है? जो ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न ब्राह्मण के कुल मे जन्म लेता है, वह ब्राह्मण है।'

मुनि—'मैं तुम्हारे सिद्धान्त का प्रतिवाद करता हू। जाति जन्मना नही होती, वह कर्मणा होती है—

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय।
कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र।'[1]

विजयघोष—'ब्राह्मण का कर्म क्या है?'

मुनि—'ब्राह्मण का कर्म है—ब्रह्मचर्य। जो व्यक्ति ब्रह्म का आचरण करता है, वह ब्राह्मण होता है।[2] जैसे जल मे उत्पन्न कमल उसमे लिप्त नही होता, वैसे ही जो मनुष्य काम मे उत्पन्न होकर उसमे लिप्त नही होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[3] जो राग, द्वेष और भय से अतीत होने के कारण मृष्ट स्वर्ण की भाति प्रभास्वर होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'[4]

'जो अहिंसक, सत्यवादी और अकिंचन होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।'[5]

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २५।३१
कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।

२. उत्तरज्झयणाणि, २५।३०
बम्भचेरेण बम्भणो।

३ उत्तरज्झयणाणि, २५।२६:
जहा पोम जले जाय, नोवलिप्पइ वारिणा।
एव अलित्तो कामेहिं, त वय बूम माहण॥

४ उत्तरज्झयणाणि, २५।२१:
जायरूव जहामट्ठ, निद्धन्तमलपावग।
रागद्दोसभयाईय, त वय बूम माहणं॥

५ उत्तरज्झयणाणि २५।२२,२३,२७।

विजयघोष का विचार-परिवर्तन हो गया। उसने कर्मणा जाति का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया।

हरिकेश जाति से चांडाल थे। वे मुनि बन गए। वे वाराणसी मे विहार कर रहे थे। उस समय रुद्रदेव पुरोहित ने यज्ञ का विशाल आयोजन किया। हरिकेश उस यज्ञ-वाटिका मे गए। रुद्रदेव ने मुनि का तिरस्कार किया। वे उससे विचलित नही हुए। दोनों के बीच लम्बी चर्चा चली। चर्चा के मध्य रुद्रदेव ने कहा—'मुने ! जाति और विद्या से युक्त ब्राह्मण ही पुण्य-क्षेत्र हैं।'[1]

मुनि ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा—'जिनमे क्रोध, मान, हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रह है, वे ब्राह्मण जाति और विद्या से विहीन हैं। वे पुण्य-क्षेत्र नही हैं।'[2]

'तुम केवल वाणी का भार ढो रहे हो। वेदो को पढ़कर भी तुम उनका अर्थ नही जानते। जो साधक विषम स्थितियो मे समता का आचरण करते हैं, वे ही सही अर्थ मे ब्राह्मण और पुण्य-क्षेत्र हैं।'[3]

रुद्रदेव को यह बात बहुत अप्रिय लगी। उसने मुनि को ताडना देने का प्रयत्न किया। किन्तु मुनि की तपस्या का तेज बहुत प्रबल था। उससे रुद्रदेव के छात्र प्रताडित हो गए। उस समय सबको यह अनुभव हुआ—

तप का महत्त्व प्रत्यक्ष है,
जाति का कोई महत्त्व नही है।
जिसके तेज से रुद्रदेव के छात्र हतप्रभ हो गए,
वह हरिकेश मुनि चाडाल का पुत्र है।[4]

भगवान् महावीर का युग निश्चय ही जातिवाद या मदवाद के प्रभुत्व का युग था। उसका सामना करना कोई सरल बात नही थी। उसका प्रतिरोध करने वाले

---

1 उत्तरज्झयणाणि, १२।१३
जे माहणा जाइविज्जोववेया,
ताइ तु खेत्ताइ सुपेसलाइ ॥

2. उत्तरज्झयणाणि, १२।१४:
कोहो य माणो य वहो य जेसिं, मोस अदत्त च परिग्गह च।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा, ताइ तु खेत्ताइ सुपावयाइ ॥

3 उत्तरज्झयणाणि, १२।१५
तुब्भेत्थ भो ! भारधरा गिराण, अट्ठं न जाणाह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइ मुणिणो चरन्ति, ताइ तु खेत्ताइ सुपेसलाइं ॥

4. उत्तरज्झयणाणि, १२।३७ :
सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्ते हरिएससाहू, जस्सेरिसा इड्ढिमहाणुभागा ॥

को प्राण-समर्पण की तैयारी रखनी ही होती। भगवान् महावीर ने अभय और जीवन-मृत्यु मे ममत्व की सुदृढ अनुभूति वाले अनगिन मुनि तैयार कर दिए। वे जातिवाद के अभेद्य दुर्गों मे जाते और उद्देश्य मे सफल हो जाते।

२ साधुत्व : वेश और परिवेश

वह युग धर्म की प्रधानता का युग था। साधु बनने का बहुत महत्त्व था। श्रमण साधु बनने पर बहुत बल देते थे। इसका प्रभाव वैदिक परम्परा पर भी पडा। उसमे भी सन्यास को सर्वोपरि स्थान मिल गया।

अनेक परम्पराओ मे हजारो-हजारो साधु थे। समाज मे जिसका मूल्य होता है, वह आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। साधुत्व जनता के आकषण का केन्द्र-बिन्दु बन गया था। किन्तु साधुत्व कोई बाल-लीला नही है। वह इन्द्रिय, मन और वृत्तियो के विजय की यात्रा है। इस यात्रा मे वही सफल हो सकता है जो दृढ-सकल्प और आत्मलक्षी दृष्टि का धनी होता है।

भगवान् महावीर ने देखा बहुत सारे श्रमण और सन्यासी साधु के वेश मे गृहस्थ का जीवन जी रहे है। न उनमे ज्ञान की प्यास है, न सत्य-शोध की मनोवृत्ति, न आत्मोपलब्धि का प्रयत्न और न आन्तरिक अनुभूति की तडप। ये साधु कैसे हो सकते है? भगवान् साधु-सस्था की दुर्बलताओ पर टीका करने लगे। भगवान् ने कहा—

'सिर मुडा लेने से कोई श्रमण नही होता।
ओम् का जप करने से कोई ब्राह्मण नही होता।
अरण्यवास करने से कोई मुनि नही होता।
वल्कल चीवर पहनने से कोई तापस नही होता।
श्रमण होता है समता से।
ब्राह्मण होता है ब्रह्मचर्य से।
मुनि होता है ज्ञान से।
तापस होता है तपस्या से।'[1]

'जैसे पोली मुट्ठी और मुद्रा-शून्य खोटा सिक्का मूल्यहीन होता है, वैसे ही व्रतहीन साधु मूल्यहीन होता है। वैडूर्य मणि की भाति चमकने वाला काच जानकार

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २५।२९,३०·
न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो॥
समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो॥

के सामने मूल्य कैसे पा सकता है ?"[1]

एक व्यक्ति ने भगवान् से पूछा—'भंते ! साधुत्व और वेश में क्या कोई सम्बन्ध है ?'

भगवान् ने कहा—'कोई भी सम्बन्ध नहीं है, यह मैं कैसे कहूं ? वेश व्यक्ति की आन्तरिक भावना का प्रतिबिम्ब है। जिसके मन में निस्पृहता के साथ-साथ कष्ट-सहिष्णुता बढ़ती है, वह अचेल हो जाता है। यह अचेलता का वेश उसके अंतरंग का प्रतिबिम्ब है।'

'भंते ! कुछ लोग निस्पृहता और कष्ट-सहिष्णुता के बिना भी अनुकरण बुद्धि से अचेल हो जाते हैं। इसे मान्यता क्यों दी जाए ?'

भगवान्—'इसे मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। पर अनुकरण किसी मौलिक वस्तु का होता है। मूलतः वेश आंतरिक भावना की अभिव्यक्ति है। उसका अनुकरण भी होता है, इसलिए साधुत्व और वेश में सम्बन्ध है, यह भी मैं कैसे कहूं।'

मैं चार प्रकार के पुरुषों का प्रतिपादन करता हूं।

१ कुछ पुरुष वेश को नहीं छोड़ते, साधुत्व को छोड़ देते हैं।

२. कुछ पुरुष साधुत्व को नहीं छोड़ते, वेश को छोड़ देते हैं।

३ कुछ पुरुष साधुत्व और वेश—दोनों को नहीं छोड़ते।

४. कुछ पुरुष साधुत्व और वेश—दोनों को छोड़ देते हैं।[2]

गोष्ठी के दूसरे सदस्य ने पूछा—'भंते ! आज हमारे देश में बहुत लोग साधु के वेश में घूम रहे हैं। हमारे सामने बहुत बड़ी समस्या है, हम किसे साधु मानें और किसे असाधु ?'

भगवान् ने कहा—'तुम्हारी बात सच है। आज बहुत सारे असाधु साधु का वेश पहने घूम रहे हैं। वे भोली-भाली जनता में साधु कहलाते हैं। किन्तु जानकार मनुष्य उन्हें साधु नहीं कहते।'

'भंते ! वे साधु किसे कहते हैं ?'

भगवान् ने कहा—

'ज्ञान और दर्शन से संपन्न,
संयम और तप में रत।
जो इन गुणों से समायुक्त है,

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २०।४२ ·
पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे, अयन्तिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ य जाणएसु ॥

२. ठाणं ४।४१९।

जानकार मनुष्य उसे साधु कहते हैं।'[1]

वैदिक परम्परा ने गृहस्थाश्रम को महत्त्व दिया और श्रमण परम्परा ने सन्यास को। साधना का मूल्य गृहस्थ और साधु के वेश से प्रतिबद्ध नहीं है। वह संयम से प्रतिबद्ध है।

अभयकुमार ने भगवान् से पूछा—'भते ! भगवान् भिक्षु को श्रेष्ठ मानते हैं या गृहस्थ को ?'

भगवान् ने कहा—'मैं सयम को श्रेष्ठ मानता हू। संयमरत गृहस्थ और भिक्षु—दोनो श्रेष्ठ हैं। असयमरत गृहस्थ और भिक्षु—दोनो श्रेष्ठ नही हैं।'

'भते ! क्या श्रमण भी सयम से शून्य होते हैं ?'

भगवान्—'यह अन्तर् का आलोक न सब भिक्षुओ मे होता है,

और न सब गृहस्थो मे।

गृहस्थ हैं नाना शीलवाले।

सब भिक्षुओ का शील

समान नही होता।

'कुछ भिक्षुओ से

गृहस्थ का सयम अनुत्तर होता है।

सब गृहस्थो से

भिक्षु का सयम अनुत्तर होता है।'[2]

भगवान् ने सयम को इतनी प्रधानता दी कि उसके सामने वेश और परिवेश के प्रश्न गौण हो गए। साधुत्व की प्रतिमा बाहरी आकार-प्रकार से हटकर अन्तर के आलोक की वेदी पर प्रतिष्ठित हो गई।

३. धर्म और सम्प्रदाय

यदि पात्र के बिना प्रकाश, छिलके के बिना फल और भाषा के बिना ज्ञान

---

१ दसवेआलिय, ७।४८, ४९.

बहवे इमे असाहू, लोए वुच्चति साहुणो।
न लवे असाहु साहु त्ति, साहु साहु त्ति आलवे॥
नाण-दसण-सपन्न, सजमे य तवे रय।
एव गुणसमाउत्त, सजय साहुमालवे॥

२ उत्तरज्झयणाणि, ५।१९, २० :

न इम सव्वेसु भिक्खूसु, न इम सव्वेसुऽगारिसु।
नाणासीला अगारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो॥
संति एगेहि भिक्खूहि, गारत्था सजमुत्तरा।
गारत्थेहि य सव्वेहि, साहवो सजमुत्तरा॥

होता तो धर्म सम्प्रदाय से मुक्त हो जाता। पर इस दुनिया मे ऐसा नही होता। धर्म दीप की लौ है तो सम्प्रदाय उसका पात्र। धर्म फल का सार है तो सम्प्रदाय उसका छिलका। धर्म चैतन्य है तो सम्प्रदाय उसको व्यक्त करने वाली भाषा।

सम्प्रदाय जब आवरण बनकर धर्म पर छा जाता है, तब पात्र, छिलके और भाषा का मूल्य लौ, सार और ज्ञान से अधिक हो जाता है। भगवान् के युग मे कुछ ऐसा ही चल रहा था। सम्प्रदाय धर्म की आत्मा को कचोट रहे थे। धर्म की ज्योति सम्प्रदाय की राख से ढकी जा रही थी। उस समय भगवान् ने धर्म को सम्प्रदाय की प्रतिबद्धता से मुक्त कर उसके व्यापक रूप को मान्यता दी।

गौतम ने पूछा—'भते ! शाश्वत धर्म क्या है ?'

भगवान् ने कहा—'अहिंसा शाश्वत धर्म है।'[1]

अतीत मे जो ज्ञानी हुए हैं,
भविष्य मे जो होगे।
अहिंसा उन सबका आधार है,
प्राणियो के लिए जैसे पृथ्वी।'[2]

'भते ! कुछ दार्शनिक कहते है—हमारे सम्प्रदाय मे ही धर्म है, उससे बाहर नही है। क्या यह सही है ?'

'गौतम ! मेरे सम्प्रदाय मे आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नही होगी—यह सम्प्रदाय और मुक्ति का अनुबन्ध साम्प्रदायिक उन्माद है। इस उन्माद से उन्मत्त व्यक्ति दूसरो को उन्माद ही दे सकता है, धर्म नही दे सकता।'[3]

'भते ! कोई व्यक्ति श्रमण-धर्म का अनुयायी होकर ही धार्मिक हो सकता है, क्या यह मानना सही नही है ?'

'गौतम ! नाम और रूप के साथ धर्म की व्याप्ति नही है। उसकी व्याप्ति अध्यात्म के साथ है। इसलिए यह मानना सत्य की सीमा मे होगा कि कोई व्यक्ति अध्यात्म का अनुयायी होकर ही धार्मिक हो सकता है।'

---

१ आयारो, ४।१,२
सव्वे पाणा, सव्वे भूता, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता ण हतव्वा…एस धम्मे सुद्धे, णिइए, सासए…।

२ सूयगडो, १।११।३६ :
जे य बुद्धा अइक्कता, जे य बुद्धा अणागया।
सती तेसि पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा॥

३ सूयगडो, १।१।७३ :
सए सए उवट्ठाणं, सिद्धिमेव ण अण्णहा।
अधो वि होति वसवत्ती, सव्वकामसमप्पिए॥

'भते ! तो क्या धर्म का सम्प्रदाय के साथ अनुबन्ध नही है ?'

'गौतम ! यदि धर्म का सम्प्रदाय के साथ अनुबन्ध हो तो अश्रुत्वा केवली कैसे हो सकता है ?'

'यह कौन होता है, भते ?'

'गौतम ! जो व्यक्ति सम्प्रदाय से अतीत है और जिसने धर्म का पहला पाठ भी नही सुना, वह आध्यात्मिक पवित्रता को बढ़ाते-बढ़ाते केवली (सर्वज्ञ और सर्वदर्शी) हो जाता है।'

'भते ! ऐसा हो सकता है ?'

'गौतम ! होता है, तभी मैं कहता हूं कि धर्म और सम्प्रदाय मे कोई अनुबन्ध नही है। मैं अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से देखता हू—

१ कुछ व्यक्ति गृहस्थ के वेश मे मुक्त हो जाते है। मैं उन्हे गृहलिगसिद्ध कहता हू।

२ कुछ व्यक्ति हमारे वेश मे मुक्त होते हैं। मैं उन्हे स्वलिगसिद्ध कहता हू।

३ कुछ व्यक्ति अन्य-तीर्थिको के वेश मे मुक्त हो जाते हैं। मैं उन्हे अन्य-लिगसिद्ध कहता हू।

विभिन्न वेशो और विभिन्न चर्याओ के बीच रहे हुए व्यक्ति मुक्त हो जाते हैं, तब धर्म और सम्प्रदाय का अनुबध कैसे हो सकता है ?'

गौतम ने प्रश्न को मोड देते हुए कहा—'भते ! यदि सम्प्रदाय और धर्म का अनुबध नही है तो फिर सम्प्रदाय की परिधि मे कौन जाना चाहेगा ?'

भगवान् ने कहा—'यह जगत् विचित्रताओ से भरा है। इसमे विभिन्न रुचि के लोग है—

- कुछ लोग सम्प्रदाय को पसन्द करते है, धर्म को पसन्द नही करते।
- कुछ लोग धर्म को पसन्द करते है, सम्प्रदाय को पसन्द नही करते।
- कुछ लोग सम्प्रदाय और धर्म—दोनो को पसन्द करते हैं।
- कुछ लोग सम्प्रदाय और धर्म—दोनो को पसन्द नही करते।'[1]

हम जगत् की रुचि मे एकरूपता नही ला सकते। जनता का झुकाव सब दिशाओ मे होता है। धर्म-विहीन सम्प्रदाय की दिशा निश्चित ही भयाक्रांत होती है।

भगवान् महावीर अहिसा की गहराई मे पहुच चुके थे। इसलिए साम्प्रदायिक उन्माद उन पर आक्रमण नही कर सका। आत्मौपम्य की दृष्टि को हृदयगम किए बिना धर्म के मच पर आने वाले व्यक्ति के सामने धर्म गौण और सम्प्रदाय मुख्य होता है। आत्मौपम्य दृष्टि को प्राप्त कर धर्म के मच पर आने वाले व्यक्ति के

---

१ ठाण ४।४२०।

सामने सम्प्रदाय गौण और धर्म मुख्य होता है। भगवान् महावीर ने सम्प्रदाय को मान्यता दी, पर मुख्यता नही दी। जो धर्मनेता अपने सम्प्रदाय में आने वाले व्यक्ति के लिए ही मुक्ति का द्वार खोलते हैं और दूसरों के लिए उसे बन्द रखते हैं, वे महावीर की दृष्टि मे अहिंसक नही हैं, अपनी ही कल्पना के ताने-बाने मे उलझे हुए हैं।

० भगवान् 'अश्रुत्वा केवली' के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर असाम्प्रदायिक दृष्टि को चरम बिन्दु तक ले गये।

० किसी भी सम्प्रदाय मे प्रव्रजित व्यक्ति मुक्त हो सकता है—यह स्थापना इस तथ्य की घोषणा थी—कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन दे सकता है, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित हो। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन नही दे सकता, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित न हो।

० मोक्ष को सम्प्रदाय की सीमा से मुक्त कर भगवान् महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता के सिद्धान्त पर दोहरी मोहर लगा दी।

भगवान् महावीर मुनित्व के महान् प्रवर्तक थे। वे मोक्ष की साधना के लिए मुनि-जीवन बिताने को बहुत आवश्यक मानते थे। फिर भी उनकी प्रतिबद्धता का अन्तिम स्पर्श सचाई के साथ था, किसी नियम के साथ नही।

भगवान् ने 'गृहलिंगसिद्ध' को स्वीकृति दे क्या मोक्ष-सिद्धि के लिए मुनि-जीवन की एकछत्रता को चुनौती नही दी ? 'घरवासी गृहस्थ भी मुक्त हो सकता है'—इसका अर्थ है कि धर्म की आराधना अमुक प्रकार के वेश या अमुक प्रकार की जीवन-प्रणाली को स्वीकार किए बिना भी हो सकती है। 'जीवन-व्यापी सत्य जीवन को कभी और कही भी आलोकित कर सकता है'—इस सत्य को अनावृत कर भगवान् ने धर्म को आकाश की भाति व्यापक बना दिया।

'प्रत्येक बुद्ध' का सिद्धान्त भी साम्प्रदायिक दृष्टि के प्रति मुक्त विद्रोह था। वे किसी सम्प्रदाय या परम्परा से प्रतिबद्ध होकर प्रव्रजित नहीं होते। वे अपने ज्ञान से ही प्रबुद्ध होते हैं। भगवान् ने उनको उतनी ही मान्यता दी, जितनी अपने तीर्थ मे प्रव्रजित होने वालो को प्राप्त थी।

महावीर की ये चार स्थापनाए—(१) अश्रुत्वा केवली (२) अन्यलिंगसिद्ध (३) गृहलिंगसिद्ध (४) और प्रत्येक बुद्ध—'मेरे सम्प्रदाय मे आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नही होगी'—इस मिथ्या आश्वासन के सम्मुख खुली चुनौती के रूप मे प्रस्तुत हुई।

भगवान् महावीर के युग मे पचासो धर्म-सम्प्रदाय थे। उनमें कुछ शाश्वतवादी थे और कुछ अशाश्वतवादी। वे दोनों परस्पर प्रहार करते थे। इस साम्प्रदायिक अभिनिवेश के दो फलित सामने आ रहे थे—

१. अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदायो की निन्दा।

२ ऐकान्तिक आग्रह—दूसरो के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न न करना।

भगवान् ने इन दोनो के सामने स्याद्वाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसका अर्थ है—अनन्त-धर्मात्मक वस्तु को अनन्त दृष्टिकोणो से देखना।

गौतम ने पूछा—'भते ! ये धार्मिक व्यक्ति अपने सम्प्रदाय की प्रशसा और दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा क्यो करते है ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम। जिनका दृष्टिकोण एकान्तवादी होता है, वे अपने ज्ञात वस्तु-धर्म को पूर्ण मान लेते हैं। दूसरो द्वारा ज्ञात वस्तु-धर्म उन्हे असत्य दिखाई देता है। इसलिए वे अपने सम्प्रदाय की प्रशसा और दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा करते हैं।'

'भते ! क्या यह उचित है ?'

गौतम के इस प्रश्न पर भगवान् ने कहा—

'अपने अभ्युपगम की प्रशसा करने वाले,
दूसरो के अभ्युपगम की निन्दा करने वाले,
विद्वान् होने का दिखावा करते हैं,
वे बध जाते है, असत्य के नागपाश से।'[1]

'एकान्तग्राही तर्कों का प्रतिपादन करने वाले,
धर्म और अधर्म के कोविद नही होते।
वे दु ख से मुक्त नही हो पाते,
जैसे पजर मे बधा शकुनि
अपने को मुक्त नही कर पाता पजर से।'[2]

४ धर्म और वाममार्ग

धार्मिक जगत् मे वाममार्ग का इतिहास बहुत पुराना है। वाममार्गी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते थे। उनके सामने धर्म का भी कोई मूल्य नही था। पर समाज मे धर्म का मूल्य बहुत बढ चुका था। इसलिए उसे स्वीकारना सबके लिए अनिवार्य हो गया।

---

१ सूयगडो, १।१।५०
सय सय पससता, गरहता पर वय।
जे उ तत्थ विउस्सति, ससार ते विउस्सिया ॥

२ सूयगडो, १।१।४६
एव तक्काए साहेता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्ख ते णातिवट्टति, सउणी पजर जहा ॥

वाममार्गी धर्म के पवित्र पीठ पर विषयो को प्रस्थापित कर रहे थे। जनता का झुकाव उस ओर बढ रहा था। मनुष्य सहज ही विषयों से आकृष्ट होता है। उसे जब धर्म के आसन पर विषय मिल जाते हैं तब उसका आकर्षण और अधिक बढ जाता है। इन्द्रिय-सयम मे मनुष्य का नैसर्गिक आकर्षण नही है। वर्तमान की प्रियता भविष्य के लाभ को सदा से अभिभूत करती रही है।

कामरूप के सुदूर अचलो मे विहार करने वाले मुनियो ने भगवान् से प्रार्थना की—'भते! वाममार्ग के सामने हमारा सयम का स्वर प्रखर नही हो रहा है। हम क्या करे, भगवान् से मार्ग-दर्शन चाहते हैं।'

भगवान् ने कहा—'विषयो को धर्म के आसन से च्युत करके ही इस रोग की चिकित्सा की जा सकती है। जाओ, तुम जनता के सामने इस स्वर को प्रखर करो—

पिया हुआ कालकूट विष
अविधि से पकडा हुआ अस्त्र,
नियन्त्रण मे नही लाया हुआ वेताल
जैसे विनाशकारी होता है,
वैसे ही विनाशकारी होता है
विषय से जुडा हुआ धर्म।'[1]

५ साधना-पथ का समन्वय

सुख के प्रति सबका आकर्षण है। कष्ट कोई नही चाहता। पर सुख की उपलब्धि का मार्ग कष्टो से खाली नही है। कृषि की निष्पत्ति का सुख उसकी उत्पत्ति के कष्टो का परिणाम है। इस ससार का निसर्ग ही ऐसा है कि श्रम के बिना कुछ भी निष्पन्न नही होता।

क्या आत्मा की उपलब्धि श्रम के बिना सम्भव है? यदि होती तो वह पहले ही हो जाती। फिर इस प्रश्न और उत्तर की अपेक्षा ही नही रहती।

कुछ लोगो का मत है कि भगवान् महावीर ने साधना के कष्टपूर्ण मार्ग का प्रतिपादन किया। इसे मान लेने पर भी इतना शेष रह जाता है कि भगवान् की साधना मे कष्ट साध्य भी नही है और साधन भी नही है। उनकी साधना अथ से इति तक अहिंसा का अभियान है। हिंसा पर विजय पाना कोई सरल काम नही है। अनादिकाल से मनुष्य पर उसका प्रभुत्व है। उसे निरस्त करने मे क्या कष्टो

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २०।४४
विस तु पीय जह कालकूड, हणाइ सत्थ जह कुग्गहीय।
एसे व धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥

का आना सम्भव नही है ?

महावीर ने कब कहा कि तुम कष्टो को निमत्रण दो । उन्होंने कहा—'तुम्हारे अभियान मे जो कष्ट आए, उनका दृढतापूर्वक सामना करो ।'[१]

भगवान् ने स्वय तप तपा, शरीर को कष्ट देने के लिए नहीं किन्तु सचित सस्कारो को क्षीण करने के लिए। भगवान् अनेकान्त के प्रवक्ता थे। वे कैसे कहते कि सस्कार-विलय का तप ही एकमात्र विकल्प है। उन्होंने ध्यान को तप से अधिक महत्त्व दिया। उनकी परम्परा का प्रसिद्ध सूत्र है—दो दिन का उपवास दो मिनट के ध्यान की तुलना नही कर सकता।

उनकी साधना मे तप बहिरग साधन है, ध्यान अतरंग साधन। उनका साधनापथ न केवल तपस्या से निर्मित होता है और न केवल ध्यान से। वह दोनो के सामजस्य से निर्मित होता है। तपस्या के स्थान पर तपस्या और ध्यान के स्थान पर ध्यान। दोनो का अपना-अपना उपयोग।

उस समय कुछ तपस्वी अज्ञानपूर्ण तप करते थे। वे लोहे के काटो पर सो जाते। उनका शरीर रक्त-रजित हो जाता।[२] कुछ तपस्वी जेठ की गर्मी मे पचाग्नि-तप तपते और कुछ सर्दी के दिनो मे नदी के गहरे पानी मे खडे रहते। भगवान् ने इनको बाल-तपस्वी और वर्तमान जीवन का शत्रु घोषित किया।

यदि कष्ट सहना ही धर्म होता तो लोहे के काटो पर सोने वाला तपस्वी वर्तमान जीवन का शत्रु कैसे होता ?

एक बार गौतम ने पूछा—'भते ! क्या शरीर को कष्ट देना धर्म है ?'

'नही कह सकता कि वह धर्म है।'

'भते ! तो क्या वह अधर्म है ?'

'नही कह सकता कि वह अधर्म है।'

'तो क्या है, भते ?'

'रोगी कडवी दवा पी रहा है। क्या मैं कहू कि वह अनिष्ट कर रहा है ? ज्वर से पीडित मनुष्य स्निग्ध-मधुर भोजन खा रहा है। क्या मैं कहू कि वह इष्ट कर रहा है ?'

'दवा रोग की चिकित्सा है। मीठी दवा लेने से रोग मिटे तो कड़वी दवा लेना आवश्यक नही है। उससे न मिटे तो कडवी दवा भी लेनी होती है।'

'स्निग्ध भोजन शरीर को पुष्ट करता है, पर ज्वर मे वह शरीर को क्षीण करता है।'

'मैं शरीर को कष्ट देने को धर्म नही कहता हू। मैं सस्कारो की शुद्धि को धर्म

१. दसवेआलिय, ८।२७ देहे दुक्ख महाफल ।
२. दसवेआलिय, ९।३।६ ।

कहता हूं।'

गौतम ने फिर पूछा—'भंते ! क्या ऐसा हो सकता है?—

१. कष्ट महान् और शुद्धि भी महान्,

२. कष्ट महान् और शुद्धि अल्प,

३. कष्ट अल्प और शुद्धि महान्,

४. कष्ट अल्प और शुद्धि भी अल्प ।

भगवान् ने कहा—'हो सकता है।'

गौतम ने पूछा—'कैसे हो सकता है, भंते ?'

भगवान् ने कहा—

१. उच्च भूमिका का तपस्वी महान् कष्ट को सहता है और उसकी शुद्धि भी महान् होती है।

२ नारकीय जीव महान् कष्ट को सहता है, पर उसके शुद्धि अल्प होती है।

३. उच्च भूमिका का ध्यानी अल्प कष्ट को सहता है, पर उसके शुद्धि महान् होती है।

४. सर्वोच्च देव अल्प कष्ट को सहता है और उसके शुद्धि भी अल्प होती है।'[1]

भगवान् ने कष्ट-सहन और शुद्धि के अनुबंध का प्रतिपादन नही किया। भगवान् ने गौतम के एक प्रश्न के उत्तर मे कहा था—कष्ट के अधिक या अल्प होने का मेरी दृष्टि मे कोई मूल्य नही है। मेरी दृष्टि मे मूल्य है प्रशस्त शुद्धि का।[2]

गौतम ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने का अनुरोध किया। तब भगवान् ने कहा—

'गौतम ! दो वस्त्र है—एक कर्दमराग से रक्त और दूसरा खंजनराग से रक्त। इनमे से कौन-सा वस्त्र कठिनाई से साफ किया जा सकता है और कौन-सा सरलता से ?'

'भंते ! कर्दमराग से रक्त वस्त्र कठिनाई से साफ होता है।'

'गौतम ! नारकीय जीव के बन्धन बहुत प्रगाढ होते है, इसलिए महान् कष्ट सहने पर भी उनके शुद्धि अल्प होती है।'

'भंते ! खंजनराग से रक्त वस्त्र सरलता से साफ होता है।'

'गौतम ! तपस्वी मुनि के बंधन शिथिल होते हैं, इसलिए उनके यत्किंचित् कष्ट सहने से ही महान् शुद्धि हो जाती है।'

'यह कैसे होती है, भंते ?'

---

१. भगवई, ६।१५, १६।

२. भगवई, ६।१ . से सेए जे पसत्थनिज्जराए।

'गौतम ! सूखी घास का पूला अग्नि मे डालने पर क्या होता है ?'

'भते ! वह शीघ्र ही भस्म हो जाता है।'

'गौतम ! गर्म तवे पर जल-बिन्दु गिरने से क्या होता है ?'

'भते ! वह शीघ्र ही विध्वस्त हो जाता है।'

'गौतम ! इसी प्रकार तपस्वी मुनि के बधन-ततु शीघ्र ही दग्ध और ध्वस्त हो जाते हैं।'[१]

भगवान् ने श्रमणो की साधना पद्धति को विकसित किया और साथ-साथ अन्य तपस्वियो के साधना-पथ को परिष्कृत रूप मे अपनाया। उनके परिष्कार का सूत्र था—अहिसा। हिंसापूर्ण कष्ट सहने की परम्परा चल रही थी। भगवान् ने कष्ट सहने को सर्वथा अस्वीकार नही किया, किन्तु उसमे हिंसा के जो अश थे, उन सबको अस्वीकार कर दिया।

भगवान् ने कायाक्लेश को तप के रूप मे स्वीकार किया। पर उसका अर्थ शरीर को सताना नही है, अनशन करना नही है। उसका अर्थ है—आसन-प्रयोग से शरीर और मन की शक्तियो का विकास करना।

शरीर को सताना और सुख देना—इन दोनो से परे था भगवान् महावीर का मार्ग। उस समय कुछ दार्शनिक कहते थे—जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। दु ख का बीज सुख का और सुख का बीज दु ख का पौधा उत्पन्न नही कर सकता। शरीर को दु ख देने से सुख कैसे उत्पन्न होगा ?

कुछ दार्शनिको का मत इसके विपरीत था। वे कहते थे—वर्तमान मे शरीर को दु ख देगे तो अगले जन्म मे सुख मिलेगा। सुख के लिए पहले कष्ट सहना होता है। जवानी मे कष्ट सहकर पैसा कमाने वाला बुढापे मे सुख से खाता है।

महावीर ने इन दोनो मतो को स्वीकार नही किया और अस्वीकार भी नही किया। वे किसी मत को एकागी दृष्टि से स्वीकार या अस्वीकार नही करते थे। उन्होने सुख और दु ख का समन्वय साध लिया।

भगवान् ने बताया—'मैं कार्य-कारण के सिद्धान्त को स्वीकार करता हू। सुख का कारण सुख होना चाहिए। प्रश्न है—सुख क्या है ? उत्तर होगा— जो अच्छा लगे, वह सुख और जो बुरा लगे, वह दु ख।'

महावीर ने कहा—

१. जो लोग इसलिए भूखे रहते हैं कि अगले जीवन मे भरपेट भोजन मिलेगा,
२. जो लोग इसलिए घर को छोडते हैं कि अगले जीवन मे भरा-पूरा परिवार मिलेगा
३. जो लोग इसलिए धन को छोडते है कि अगले जीवन मे राजसी वैभव

---

१ भगवई, ६।४।

मिलेगा,

४. जो लोग इसलिए ब्रह्मचारी बनते हैं कि अगले जीवन में अप्सराए मिलेंगी,

५ जो लोग इसलिए सब कुछ छोडते है कि अगले जीवन में यह सब कुछ हजार गुना बढिया और लाख गुना अधिक मिलेगा,

—वे सब लोग शरीर, इन्द्रिय और मन को सताने की दोहरी मूर्खता कर रहे हैं। यह सताप है, साधना नही है।[1]

जो लोग इन सबको इसलिए छोडते है कि जो अपना नही है, उसे छोडना ही सुख है। यह साधना है, सताप नही है। वस्तुओ को छोडना उसे अच्छा लगता है, इसलिए वह सुख है। उन्हे छोडने पर कष्ट झेलना अच्छा लगता है, इसलिए वह भी सुख है। इसे आप मान सकते है कि सुख से सुख उत्पन्न होता है या दु ख से सुख उत्पन्न होता है।

६ जनता की भाषा जनता के लिए

लता का प्राण पुष्प और पुष्प का प्राण परिमल है। परिमल की अभिव्यजना से पुष्प और लता— दोनो जगत् के साथ तदात्म हो जाते है।

मनुष्य की तदात्मता भी ऐसी ही है। उसके चिन्तन-पुष्प मे भाषा की अभिव्यजना नही होती तो जगत् तदात्म से शून्य होकर सम्पर्क से शून्य हो जाता।

भाषा सम्पर्क का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। मन को मन से पकडने वाले लोग बहुत कम होते है। सकेत की शक्ति सीमित है। मनुष्य बोलकर अपनी बात दूसरो तक पहुचाता है। भाषा का प्रयोजन ही है अपने भीतर के जगत् को दूसरे के भीतरी जगत् से मिला देना। भाषा एक उपयोगिता है। अपने शैशव मे उपयोगिता केवल उपयोगिता होती है। यौवन की देहलीज पर पैर रखते ही वह अलकार बन जाती है। प्राण-शक्ति प्रखर होती है, सौन्दर्य सहज होता है, तब अलकार की अपेक्षा नही होती। प्राण की ज्योति मन्द होने लगती है तब अलकार की आकाक्षा प्रबल होना चाहती है। युग ऐसा आया कि भाषा भी अलकार बन गई। जो सम्पर्क-सूत्र थी, वह बडप्पन का मानदड बन गई। पडित लोग उस सस्कृत मे बोलते और लिखते थे जो जनता की भाषा नही थी, जनता के लिए अगम्य थी। परिणाम यह हुआ कि दो वर्ग बन गए— एक पडित की भाषा बोलने वालो का और दूसरा जनता की भाषा बोलने वालो का। पडितो की भाषा असाधारण हो गई और जनता की भाषा साधारण मानी जाने लगी।

महावीर का लक्ष्य था—सबको जगाना। सबको जगाने के लिए जरूरी था

---

१ भगवई, ८।२६६।

सबके साथ सपर्क साधना। पंडिताई की भाषा मे ऐसा होना सम्भव नही था। इसलिए भगवान् ने जन-भाषा को सम्पर्क का माध्यम बनाया।

प्राकृत का अर्थ है— प्रकृति की भाषा, जनता की भाषा। भगवान् जनता की भाषा मे बोले और जनता के लिए बोले इसलिए वे जनता के हो गए। उनका सदेश बालको, स्त्रियो, मदमतियो और मूर्खों तक पहुचा। उन सबको उससे आलोक मिला।

महावीर ईश्वरीय सदेश लेकर नही आए थे। उनका सदेश अपनी साधना से प्राप्त अनुभवो का संदेश था। इसलिए उसे जनता की भाषा मे रखने मे उन्हे कोई कठिनाई नही थी। उस समय कुछ पडित जनता को ईश्वरीय सदेश देने की घोषणा कर रहे थे। ईश्वरीय सदेश भला जनता की भाषा में कैसे हो सकता है ? वह उस भाषा मे होना चाहिए जिसे जनता न समझ सके। यदि उसे जनता समझ ले तो वह एक वर्ग की धरोहर कैसे बन जाए ? महावीर ने उस एकाधिकार को भग कर दिया। दर्शन के महान् सत्य जनता की भाषा मे प्रस्तुत हुए। धर्म सर्व-सुलभ हो गया। स्त्री और शूद्र नही पढ सकते—इस आदेश द्वारा स्त्री और शूद्रो को धर्म-ग्रन्थ पढने से वचित किया जा रहा था। महावीर के उदार दृष्टिकोण से उन्हे धर्मग्रन्थ पढने का पुन. अधिकार मिल गया।

'भाषा का आग्रह हमे कठिनाई से नही उबार सकता'[१]—महावीर का यह स्वर आज भी भाषावाद के लिए महान् चुनौती है।

७. करुणा और शाकाहार

श्रमण आर्द्रकुमार एकदण्डी परिव्राजक के प्रश्नो का उत्तर दे महावीर की दिशा मे आगे बढा। इतने मे हस्ती-तापस ने उसे रोककर कहा --'आर्द्रकुमार ! तुमने इन परिव्राजको को निरुत्तर कर बहुत अच्छा काम किया। ये लोग कद, मूल और फल का भोजन करते हैं। जीवन-निर्वाह के लिए असख्य जीवो की हत्या करते हैं। हम ऐसा नही करते।'

'फिर आप जीवन-निर्वाह कैसे करते हैं ?'

'हम बाण से एक हाथी को मार लेते है। उससे लम्बे समय तक जीवन-निर्वाह हो जाता है।'

'कन्द-मूल के भोजन से इसे अच्छा मानने का आधार क्या है ?'

'इसकी अच्छाई का आधार अल्प-बहुत्व की मीमासा है। एकदण्डी परिव्राजक असख्य जीवो को मारकर एक दिन का भोजन करते हैं, जब कि हम एक जीव को मारकर बहुत दिनो तक भोजन कर लेते हैं। वे बहुत हिंसा करते हैं। हम कम

१. उत्तरज्झयणाणि, ६।१० न चित्ता तायए भासा।

हिंसा करते हैं।'

मांसाहार के समर्थन मे दिए जाने वाले इस तर्क की आयु ढाई हजार वर्ष पुरानी तो अवश्य ही है। इस तर्क की शरण गृहस्थ ही नही, मासाहारी सन्यासी भी लेते थे। महावीर ने इस तर्क को अस्वीकार कर मांसाहार का प्रबल विरोध किया।[1]

उस विरोध के पीछे कोई वाद नही, किन्तु करुणा का अजस्र प्रवाह था। उनके अन्त.करण मे प्राणि-मात्र के प्रति करुणा प्रवाहित हो रही थी। पशु ,पक्षी और वनस्पति आदि सूक्ष्म जीवो के साथ उनका उतना ही प्रेम था, जितना कि मनुष्य के साथ। उनके प्रेम मे किसी भी प्राणी के वध का समर्थन करने का कोई अवकाश नही था। उन्हे प्रिय थी अहिंसा और केवल अहिंसा। किन्तु मानव का जगत् उनकी भावना को कैसे स्वीकार कर लेता ? आखिर यह जीवन का प्रश्न था। जीना है तो खाना है। खाए बिना जीवन चल नही सकता। 'अन्न वै प्राणा'—अन्न ही प्राण है, यह धारणा समाजमान्य हो चुकी थी। भगवान् ने भोजन की समस्या पर दो दृष्टिकोणो से विचार किया। एक दृष्टिकोण अनिवार्यता का था और दूसरा सकल्प का। भगवान् ने असम्भव तत्त्व का प्रतिपादन नही किया।

वनस्पति जीवन की न्यूनतम अनिवार्यता है। मांसाहारी लोग वनस्पति खाते हैं पर शाकाहारी मास नही खाते। मासाहार वनस्पति की भाति न्यूनतम अनिवार्यता नही है। उसके पीछे सकल्प की प्रेरणा है। भगवान् की अहिंसा का पहला सूत्र है—अनिवार्य हिंसा को नही छोड सको तो सकल्पी हिंसा को अवश्य छोडो। इसी सूत्र के आधार पर मासाहार के प्रतिषेध का स्वर अर्थवान् हो गया।

आज विश्व भर मे जो शाकाहार का आदोलन चल रहा है, उसका मूल जैन परम्परा मे ढूढा जा सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी जातियो मे मासाहार प्रचलित था। वैदिक धर्म मे मासाहार निषिद्ध नही था। बौद्ध धर्म के अनुयायी श्रमण-परम्परा मे होकर भी मासाहार करते थे। मास न खाने का आन्दोलन केवल जैन परम्परा ने चला रखा था। उसका नेतृत्व महावीर कर रहे थे।

महावीर ने निर्ग्रन्थो के लिए मासाहार का निषेध किया। व्रती श्रावक भी मास नही खाते थे। भगवान् ने नरक मे जाने के चार कारण बताए। उनमे एक कारण है मासाहार। मासाहार के प्रति महावीर की भावना का यह मूर्त प्रतिबिम्ब है।

महावीर का मासाहार-विरोधी आन्दोलन धीरे-धीरे बल पकडता गया। उससे अनेक धर्म-सम्प्रदाय और अनेक जातियां प्रभावित हुई और उन्होने मांसाहार छोड़ दिया।

---

१. सूयगडो, २।६।५२ ५५

मासाहार के निषेध का सबसे प्राचीन प्रमाण जैन साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य साहित्य मे है, ऐसा अभी मुझे ज्ञात नही है।

आहार जीवन का साध्य नही है, किन्तु उसकी उपेक्षा की जा सके वैसा साधन भी नही है। यह मान्यता की जरूरत नहीं, किन्तु जरूरत की माग है।

शरीर-शास्त्र की दृष्टि से इस पर सोचा गया है पर इसके दूसरे पहलू बहुत कम छुए गए हैं। यह केवल शरीर पर ही प्रभाव नही डालता, उसका प्रभाव मन पर भी होता है। मन अपवित्र रह तो शरीर की स्थूलता कुछ नही करती, केवल पाशविक शक्ति का प्रयोग कर सकती है। उससे सब घबराते है।

मन शान्त और पवित्र रहे, उत्तेजनाए कम हो—यह अनिवार्य अपेक्षा है। इसके लिए आहार का विवेक होना बहुत जरूरी है। अपने स्वार्थ के लिए बिलखते मूक प्राणियो की निर्मम हत्या करना क्रूर कर्म है। मासाहार इसका बहुत बडा निमित्त है।

महावीर ने आहार के समय, मात्रा और योग्य वस्तुओ के विषय मे बहुत गहरा विचार किया। रात्रि-भोजन का निषेध उनकी महान् देन है।

भगवान् ने मिताशन पर बहुत बल दिया। मद्य, मास, मादक पदार्थ और विकृति का वर्जन उनकी साधना के अनिवार्य अग है।

८. यज्ञ . समर्थन या रूपान्तरण

हमारे इतिहासकार कहते है—महावीर ने यज्ञ का प्रतिवाद किया। मैं इससे सहमत नही हू। मेरा मत है—महावीर ने यज्ञ का समर्थन या रूपान्तरण किया था। अहिंसक यज्ञ का विधान वैदिक साहित्य मे भी मिलता है। यदि आप उसे महावीर से पहले का मान लें तो मैं कहूगा कि महावीर ने उस यज्ञ का समर्थन किया। और यदि आप उसे महावीर के बाद का माने तो मे कहूगा कि महावीर ने यज्ञ का रूपान्तरण किया—हिंसक यज्ञ के स्थान पर अहिंसक यज्ञ की प्रतिष्ठा की।

महावीर का दृष्टिकोण सर्वग्राही था। उन्होने सत्य को अनन्त दृष्टियो से देखा। उनके अनेकान्त-कोष मे दूसरो की धर्म-पद्धति का आक्षेप करने वाला एक भी शब्द नही है। फिर वे यज्ञ का प्रतिवाद कैसे करते ?

उनके सामने प्रतिवाद करने योग्य एक ही वस्तु थी। वह थी हिंसा। हिंसा का उन्होने सर्वत्र प्रतिवाद किया, भले फिर वह श्रमणो मे प्रचलित थी या वैदिको मे। उनकी दृष्टि मे श्रमण या वैदिक होने का विशेष अर्थ नही था। विशेष अर्थ था अहिंसक या हिंसक होने का। उनके क्षात्र हृदय पर अहिंसा का एकछत्र साम्राज्य था।

उस समय भगवान् के शिष्य अहिंसक यज्ञ का सदेश जनता तक पहुचा रहे

थे। हरिकेश मुनि ने यज्ञवाट मे कहा—'ब्राह्मणो ! आपका यज्ञ श्रेष्ठ यज्ञ नही है।'

'मुने ! आपने यह कैसे कहा कि हमारा यज्ञ श्रेष्ठ नही है ?'

'जिसमे हिंसा होती है, वह श्रेष्ठ यज्ञ नहीं होता।'

'श्रेष्ठ यज्ञ कैसे हो सकता है, आप बतलाए, हम जानना चाहते हैं।'

'जिसमे इन्द्रिय और मन का सयम, अहिंसा का आचरण और देह का विसर्जन होता है, वह श्रेष्ठ यज्ञ है।'

'क्या आप भी यज्ञ करते है ?'

'प्रतिदिन करता हू।'

मुनि की बात सुन रुद्रदेव विस्मय मे पड गया। उसे इसकी कल्पना नही थी। उसने आश्चर्य के साथ पूछा—'मुने ! तुम्हारी ज्योति कौन-सी है ? ज्योतिस्थान कौन-सा है ? घी डालने की करछिया कौन-सी हैं ? अग्नि को जलाने के कडे कौन-से हैं ? ईंधन और शान्ति-पाठ कौन-से हैं और किस होम से तुम ज्योति को हुत करते हो ?'

इसके उत्तर मे मुनि हरिकेश ने अहिंसक यज्ञ की व्याख्या की। वह व्याख्या महावीर से उन्हे प्राप्त थी।

मुनि ने कहा—'रुद्रदेव ! मेरे यज्ञ मे तप ज्योति है, चैतन्य ज्योतिस्थान है। मन, वाणी और काया की सत्प्रवृत्ति घी डालने की करछिया हैं। शरीर अग्नि जलाने के कडे है। कर्म ईंधन है। सयम शान्तिपाठ है। इस प्रकार मैं अहिंसक यज्ञ करता हू।'[1]

इस सवाद मे यज्ञ का प्रतिवाद नही किन्तु रूपान्तरण है। इस रूपान्तरण से पशु-बलि का आधार हिल गया। महावीर के शिष्य बडे मार्मिक ढग से उसका प्रतिवाद करने मे लग गए।

एक बकरा बलि के लिए ले जाया जा रहा था। मुनि ने उसे देखा। वे उसके सामने जाकर खडे हो गए। बकरा जैसे ही निकट आया, वैसे ही मुनि नीचे झुके और अपने कान बकरे के मुह के पास कर दिए। देखते-देखते लोग एकत्र हो गए। कुछ देर बाद मुनि अपनी मूल मुद्रा मे खडे हुए। लोगो ने पूछा—'महाराज ! आप क्या कर रहे थे ?'

मुनि बोले—'बकरे से कुछ बातें कर रहा था।'

'हम आपका वार्तालाप सुनना चाहते हैं'—लोगों ने कहा।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, १२।४३, ४४।

के ते जोइ के व ते जोइठाणे, का ते सुया किं व कारिसगं ?॥
एहा य ते कयरा सन्ति भिक्खू ! कयरेण होमेण हुणासि जोइं ?॥
तवो जोई जीवो जोइठाण, जोगा सुया सरीर कारिसग।
कम्म एहा सजमजोगसन्ती, होम हुणामी इसिणं पसत्थ॥

मुनि बोले—'मैंने बकरे से पूछा—मौत के मुंह मे जाने से पहले तुम कुछ कहना चाहते हो ?' उसने कहा—'यदि मेरी बात जनता के कानो तक पहुचे तो मैं अवश्य कहना चाहूंगा।' मैंने उसकी भावना को पूरा करने का आश्वासन दिया। तब उसने कहा—'मेरी बलि इसलिए हो रही है कि मैं स्वर्ग चला जाऊ। तुम इस 'होता' से कहो कि मुझे स्वर्ग मे जाने की आकाक्षा नही है। मैं घास-फूस खाकर इस धरती पर सतुष्ट हू, फिर यह मुझे क्यो असतोष की ओर ढकेलना चाहता है ? यदि यह मुझे स्वर्ग मे भेजना चाहता है तो अपने प्रियजनो को क्यो नही भेजता ? उनकी बलि क्यो नही चढाता ?' यह कहकर बकरा मौन हो गया। उपस्थितजनो! उसका आत्म-निवेदन मैंने आप लोगो तक पहुचा दिया।'

मुनि स्वय मौन हो गए। उनका स्वर महावीर की दिशा से आने वाले हजारो-हजारों स्वरो के साथ मिलकर इतना मुखर हो गया कि युग-युग तक उसकी गूज कानो से टकराती रही। बलि की वेदी अहिंसा की छत्रछाया मे अपने अस्तित्व की लिपि पढने लगी।

९. युद्ध और अनाक्रमण

यह आकाश एक ओर अखण्ड है, फिर भी अनादिकाल से मनुष्य घर बनाता आ रहा है और उसकी अखण्डता को खडित कर सुविधा का अनुभव करता चला आ रहा है। इस विखडन का प्रयोजन सुविधा है। अखण्ड आकाश मे मनुष्य उस सुविधा का अनुभव नही करता जिसका विखडित आकाश मे करता है। मनुष्य जाति की एकता मे मनुष्य को अहतृप्ति का वह अनुभव नही होता जो उसकी अनेकता मे होता है। अहवादी मनुष्य अपने अह की तृप्ति के लिए मनुष्य जगत् को अनेक टुकडो मे बाटता रहा है।

इस विभाजन का एक रूप राष्ट्र है। एक सविधान और एक शासन के अधीन रहने वाला भूखण्ड एक राष्ट्र बन जाता है। दूसरे राष्ट्र से उसकी सीमा अलग हो जाती है। वह सीमा-रेखा भूखण्ड को विभक्त करने के साथ मनुष्य जाति को भी विभक्त कर देती है। वह विभाजन विरोधी हितो की कल्पना को उभारकर युद्ध को जन्म देता है, मनुष्य को मनुष्य से लडने के लिए प्रेरित करता है।

भगवान् महावीर ने युद्ध का इस आधार पर विरोध किया कि मानवीय हित परस्पर-विरोधी नही हैं। उनमे सामजस्य है और पूर्ण सामजस्य। अह और आकाक्षा ने विरोधी हितो की सृष्टि की है। पर वह वास्तविक नही है। उस समय की राजनीति मे युद्ध को बहुत प्रोत्साहन मिल रहा था। उसकी प्रशस्तिया गाई जाती थी। एक सस्कृत श्लोक उनका प्रबल प्रतिनिधित्व करता है—

जिते च लभ्यते लक्ष्मी', मृते चापि सुरांगना।
क्षणभगुरको देह', का चिन्ता मरणे रणे॥

—विजय होने पर लक्ष्मी मिलती है, मर जाने पर देवांगना। यह शरीर क्षणभंगुर है, फिर समरांगण में मौत की क्या चिन्ता ?

ऐसी प्रशस्तियों से युद्ध को लौकिक और अलौकिक—दोनों प्रतिष्ठाएं प्राप्त हो रही थीं। कुछ धर्म-संस्थाएं भी उसका समर्थन कर रही थीं। उसके विरोध मे आवाज उठाने का अर्थ था—अपनी लोकप्रियता को चुनौती देना। उस परिस्थिति मे महावीर ने उसका तीव्र विरोध किया। वह विरोध भौतिक हितों के सदर्भ में हो रहे युद्ध के समर्थन का विरोध था। वह विरोध समग्र मानवता के हितों के सदर्भ मे होने वाला विरोध था। वह विरोध शस्त्र से संरक्षित भीरुता का विरोध था। वह विरोध दूसरे राष्ट्र के नागरिकों की चिताओ पर खडी की जाने वाली अट्टालिकाओं का विरोध था। वह विरोध कायरता को सरक्षण देने वाला विरोध नही था। सच तो यह है कि भगवान् के विरोध की दिशा युद्ध नही, अनाक्रमण था। भगवान् जनता को और राष्ट्र को अनाक्रमण का सकल्प दे रहे थे। अनाक्रमण का अर्थ है—युद्ध का न होना। एक आक्रमण करे और दूसरा उसे चुपचाप सहे, वह या तो साधु हो सकता है या कायर। भगवान् जानते थे कि समूचा समाज साधुत्व की दीक्षा से दीक्षित नही हो सकता और भगवान् नही देना चाहते थे समाज को कायरता और कर्तव्य-विमुखता का अनुदान। आक्रमण होने पर प्रत्याक्रमण करने का वर्जन कैसे किया जा सकता था ? किया जा सकता था आक्रमण के अहिंसक प्रतिरोध का विधान। उस युग मे इस मनोभूमिका का निर्माण नही हो पाया था।

भगवान् व्यवहार की भूमिका के औचित्य को समझते थे। इसलिए उन्होने जनता को प्रत्याक्रमण का निषेध नही दिया और नही दिया कर्तव्य के अतिक्रमण का सन्देश। भगवान् प्रत्याक्रमण मे भी अहिंसा का दृष्टिकोण बनाए रखने का सकल्प देते थे। हिंसा की अनिवार्यता आ जाने पर भी करुणा की स्मृति का सकल्प देते थे।

वरुण भगवान् महावीर का उपासक था। उसने अनाक्रमण का सकल्प स्वीकार किया था।[1]

सम्राट् कोणिक ने वैशाली पर आक्रमण किया। वरुण को रणभूमि मे जाने का आदेश हुआ। वह गणतत्र के सेनानी का आदेश पाकर रणभूमि मे गया। चम्पा का एक सैनिक उसके सामने आकर बोला—'ओ वैशाली के योद्धा ! क्या देखते हो ? प्रहार करो न !' वरुण ने कहा—'प्रहार न करने वाले पर मैं प्रहार नहीं कर सकता और एक दिन मे एक बार से अधिक प्रहार नही कर सकता।' चम्पा का सैनिक उसकी बात सुन तमतमा उठा। उसने पूरी शक्ति लगाकर बाण फेंका। वरुण का शरीर आहत हो गया।

१. भगवई, ७।१९७।

वरुण कुशल धनुर्धर था। उसका निशाना अचूक था। उसने धनुष को कानों तक खीचकर बाण चलाया। चम्पा का सैनिक एक ही प्रहार से मौत के मुह मे चला गया।[१]

महाराज चेटक भी प्रहार न करने वाले पर प्रहार और एक दिन मे एक बार से अधिक प्रहार नही करते थे।[२] यह था प्रत्याक्रमण मे अहिंसा का विवेक। यह थी हिंसा की अनिवार्यता और अहिंसा की स्मृति।

महाराज चेटक अहिंसा के व्रती थे। अनाक्रमण का सिद्धान्त उन्हे मान्य था। उनकी साम्राज्य-विस्तार की भावना मानवीय कल्याण की धारा मे समाप्त हो चुकी थी। फिर भी वे अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सजग थे। एक बार महारानी पद्मावती ने कोणिक से कहा—'राज्य का आनन्द तो वेहल्लकुमार लूट रहा है। आप तो नाम भर के राजा हैं।' कोणिक ने इसका हेतु जानना चाहा। महारानी ने कहा—'वेहल्लकुमार के पास सचेतक गधहस्ती और अठारहसरा हार है। राज्य के दोनो उत्कृष्ट रत्न हमारे अधिकार मे नही है, फिर राजा होने का क्या अर्थ?'

महारानी का तर्कबाण अमोघ था। कोणिक का हृदय विंध गया। उसने वेहल्लकुमार मे हार और हाथी की माग की। वेहल्लकुमार ने कहा—'स्वामिन्! सम्राट श्रेणिक ने अपने जीवनकाल मे हार और हाथी मुझे दिए थे, इसलिए ये मेरी निजी सम्पदा के अभिन्न अग हैं। आप मुझे आधा राज्य दें तो मै आपको हार और हाथी दे सकता हू।' कोणिक ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

कोणिक मेरे हार और हाथी पर बलात् अधिकार कर लेगा, इस आशका से अभिभूत वेहल्लकुमार ने महाराज चेटक के पास चले जाने की गुप्त योजना बनाई। अवसर पाकर अपनी सारी सम्पदा के साथ वह वैशाली चला गया।

कोणिक को इस बात का पता चला। उसने महाराज चेटक के पास दूत भेजकर हार, हाथी और वेहल्लकुमार को लौटाने की माग की। चेटक ने वह ठुकरा दी। उसने दूत के साथ कोणिक को सन्देश भेजा—'तुम और वेहल्लकुमार दोनो श्रेणिक के पुत्र और चेल्लणा के आत्मज हो, मेरे धेवते हो। व्यक्तिगत रूप मे तुम दोनो मेरे लिए समान हो। किन्तु वर्तमान परिस्थिति मे वेहल्लकुमार मेरे शरणागत है। मैंने वैशाली-गणतत्व के प्रमुख के नाते उसे शरण दी है, इसलिए मैं हार, हाथी और वेहल्लकुमार को नही लौटा सकता। यदि तुम उसे आधा राज्य दो तो मैं उन तीनो को तुम्हे सौंप सकता हू।'

कोणिक ने दूसरी बार फिर दूत भेजकर वही माग की। चेटक ने फिर उसे

---

१ भगवई, ७।१९४-२०२।

२. आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १७३ वेडएण एक्कस्स सरस्स आगारो कओ।

ठुकरा दिया। कोणिक ने तीसरी बार दूत भेजकर युद्ध की चुनौती दी। चेटक ने उसे स्वीकार कर लिया।

चेटक ने मल्ल और लिच्छवि—अठारह गणराजों को आमंत्रित कर सारी स्थिति बताई। उन्होंने भी चेटक के निर्णय का समर्थन किया। उन्होंने कहा—'शरणागत वेहल्लकुमार को कोणिक के हाथो मे नही सौंपा जा सकता। हम युद्ध नहीं चाहते। किन्तु कोणिक ने यदि हम पर आक्रमण किया तो हम अपनी पूरी शक्ति से गणतन्त्र की रक्षा करेंगे।'

कोणिक की सेना वैशाली गणतन्त्र की सीमा पर पहुच गई। घमासान युद्ध चालू हो गया। चेटक ने दस दिनो मे कोणिक के दस भाई मार डाले। कोणिक भयभीत हो उठा।[1]

इस घटना ने निम्न तथ्य स्पष्ट कर दिए—

१ अहिंसा कायरता के आवरण मे पलने वाला क्लैब्य नही है। वह प्राण-विसर्जन की तैयारी मे सतत जागरूक पौरुष है।

२ भगवान् महावीर से अनाक्रमण का सकल्प लेने वाले अहिंसाव्रती आक्रमण की क्षमता से शून्य नही थे, किन्तु वे अपनी शक्ति का मानवीय हितो के विरुद्ध प्रयोग नही करते थे।

३. मानवीय हितो के विरुद्ध अभियान करने वाले जब युद्ध की अनिवार्यता ला देते हैं तब वे अपने दायित्व का पालन करने में पीछे नही रहते।

यह आश्चर्य की बात है कि इस महायुद्ध मे भगवान् महावीर ने कोई हस्तक्षेप नही किया। दोनो भगवान् के उपासक और अनुगामी थे। वे भगवान् की वाणी पर श्रद्धा करते थे। पर प्रश्न इतना उलझ गया था कि उन्होने उसे आवेश की भूमिका पर ही सुलझाना चाहा, भगवान् का सहयोग नही चाहा। और एक भयकर घटना घटित हो गई।

ऐसी ही एक घटना कौशाबी के आस-पास घटित हो रही थी। महारानी मृगावती ने उसमे भगवान् का सहयोग चाहा। भगवान् वहा पहुचे। समस्या सुलझ गई।

उज्जयिनी का राजा चण्डप्रद्योत बहुत शक्तिशाली था। वह उस युग का प्रसिद्ध कामुक था। महारानी मृगावती का चित्र-फलक देख वह मुग्ध हो गया। उसने दूत भेजकर शतानीक से मृगावती की माग की। शतानीक ने कड़ी भर्त्सना के साथ उसे ठुकरा दिया। चण्डप्रद्योत क्रुद्ध होकर वत्स देश की ओर चल पड़ा। शतानीक घबरा गया। उसके हृदय पर आघात लगा। उसे अतिसार की बीमारी हो गई और वह इस ससार से चल बसा।

---

१. निरयावलियाओ, १।

महारानी ने कौशांबी की सुरक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ कर ली। वत्स की जनता अपने देश और महारानी की सुरक्षा के लिए कटिबद्ध हो गई। चण्डप्रद्योत की विशाल सेना ने नगरी को घेर लिया। चारों ओर युद्ध का आतंक छा गया।

मृगावती को भगवान् महावीर की स्मृति हुई। उसे अन्धकार में प्रकाश की रेखा का अनुभव हुआ। समस्या का समाधान दीखने लगा। भगवान् महावीर कौशांबी के उद्यान मे आ गए। भगवान् के आगमन का सम्वाद पाकर मृगावती ने कौशांबी के द्वार खुलवा दिए। भय का वातावरण अभय मे बदल गया। रणभूमि जनभूमि हो गई। जन-जन पुलकित हो उठा।

मृगावती महावीर के समवसरण में आई। चण्डप्रद्योत भी आया। भगवान् ने न किसी की प्रशसा की और न किसी के प्रति आक्रोश प्रकट किया। वे मानवीय दुर्बलताओं से भली भांति परिचित थे। उन्होंने मध्यस्थभाव से अहिंसा की चर्चा की। उससे सबके मन मे निर्मलता की धार बहने लगी। चण्डप्रद्योत का आक्रोश शान्त हो गया।

उचित अवसर देख मृगावती बोली—'भंते! मैं आपकी वाणी से बहुत प्रभावित हुई हू। महाराज चण्डप्रद्योत मुझे स्वीकृति दें और वत्स के राजकुमार उदयन की सुरक्षा का दायित्व अपने कधो पर लें तो मैं साध्वी होना चाहती हू।'

चण्डप्रद्योत का सिर नत और मन प्रणत हो गया। अहिंसा के आलोक मे वासना का अधतमस् विलीन हो गया। उसने उदयन का भाग्यसूत्र अपने हाथ मे लेना स्वीकार कर लिया, आक्रामक सरक्षक बन गया। मृगावती को साध्वी बनने की स्वीकृति मिल गई। कौशाबी की जनता हर्ष से झूम उठी। युद्ध के बादल फट गए। मृगावती का शील सुरक्षित रह गया। उज्जयिनी और वत्स—दोनो मैत्री के सघन सूत्र मे बध गए।[1]

भगवान् मैत्री के महान् प्रवर्तक थे। उन्होने जन-जन को मैत्री का पवित्र पाठ पढाया। उनका मैत्री-सूत्र है—

'मैं सबकी भूलो को सह लेता हूं,
वे सब मेरी भूलो को सह लें।
सबके साथ मेरी मैत्री है,
किसी के साथ मेरा वैर नही है।'

इस सूत्र ने हजारो-हजारो मनुष्यो की आक्रामक वृत्ति को प्रेम मे बदला और शक्ति के दीवट पर क्षमा के दीप जलाए।

सामाजिक जीवन मे भिन्न-भिन्न रुचि, विचार और सस्कार के लोग होते हैं। भिन्नता के प्रति कटुता उत्पन्न हो जाती है। द्वेष की ग्रन्थि घुलने लगती है।

---

१ आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग, पृ० ९१।

वही समय पर आक्रामक बन जाती है।

भगवान् ने इस ग्रन्थिमोक्ष के तीन पर्व निश्चित किए—

१. पाक्षिक आत्मालोचन।

२. चातुर्मासिक आत्मालोचन।

३. सावंत्सरिक आत्मालोचन।

किसी व्यक्ति के प्रति मन में वैर का भाव निर्मित हो तो उसे तत्काल धो डाले, जिससे वह ग्रन्थि का रूप न ले। भगवान् ने साधुओं को निर्देश दिया— 'परस्पर कोई कटुता उत्पन्न हो तो भोजन करने से पहले-पहले उसे समाप्त कर दो।' एक बार एक मुनि भगवान् के पास आकर बोला—'भते ! आज एक मुनि से मेरा कलह हो गया। मुझे उसका अनुताप है। अब मैं क्या करू ?'

भगवान्—'परस्पर क्षमा-याचना कर लो।'

मुनि—'भते ! मेरा अनुमान है कि वह मुझे क्षमा नही करेगा।'

भगवान्—'वह तुम्हे क्षमा करे या न करे, आदर दे या न दे, तुम्हारे जाने पर उठे या न उठे, वदना करे या न करे, साथ मे खाए या न खाए, साथ मे रहे या न रहे, कलह को शान्त करे या न करे, फिर भी तुम उसे क्षमा करो।'

मुनि—'भते ! मुझे अकेले को ही ऐसा क्यों करना चाहिए ?'

भगवान्—'श्रमण होने का अर्थ है शान्ति। श्रमण होने का अर्थ है मैत्री। तुम श्रमण होने का अनुभव कर रहे हो, इसलिए मैं कहता हूं कि तुम अपनी मैत्री को जगाओ। जो मैत्री को जागृत करता है, वह श्रमण होता है। जो मैत्री को जागृत नही करता, वह श्रमण नही होता।'

इस जगत् में सब लोग श्रमण नही होते। श्रमण भी सब समान वृत्ति के नही होते। इस वस्तु-स्थिति को ध्यान मे रखकर भगवान् ने कहा—'यदि तत्काल मैत्री की अनुभूति न कर सको तो पक्ष के अतिम दिन मे अवश्य उसका अनुभव करो। पाक्षिक दिन मे भी उसकी अनुभूति न हो सके तो चातुर्मासिक दिन तक अवश्य उसे विकसित करो। यदि उस दिन भी उसका अनुभव न हो तो सांवत्सरिक दिन तक अवश्य ही उसका विकास करो। यदि उस दिन भी द्वेष की ग्रन्थि नही खुलती है, सबके प्रति मैत्री-भावना जागृत नही होती है तो समझो कि तुम सम्यग्दृष्टि नही हो, धार्मिक नही हो।'

धर्म की पहली सीढ़ी है—सम्यग्दृष्टि का निर्माण और सम्यग्दृष्टि की पहली पहचान है— शान्ति और मैत्री के मानस का निर्माण। जिसके मन मे प्राणीमात्र के प्रति मैत्री की अनुभूति नहीं है, वह महावीर की दृष्टि मे धार्मिक नही है। चण्डप्रद्योत ने महावीर के इस सूत्र का उपयोग कर अपने को बदीगृह से मुक्त करवाया था।

चण्डप्रद्योत सिन्धु-सौवीर के अधिपति उद्रायण की रूपसी दासी का अपहरण कर उसे उज्जयिनी ले आया। पता चलने पर उद्रायण ने उज्जयिनी पर आक्रमण

कर दिया। चण्डप्रद्योत पराजित हो गया। उद्रायण ने उसे बंदी बना सिन्धु-सौवीर की ओर प्रस्थान कर दिया। मार्ग मे भारी वर्षा हुई। उद्रायण ने दसपुर में पड़ाव किया। वहा सावत्सरिक पर्व आया। उद्रायण ने वार्षिक सिंहावलोकन कर चण्डप्रद्योत से कहा—'इस महान् पर्व के अवसर पर मैं आपको क्षमा करता हूं। आप मुझे क्षमा करें।' चण्डप्रद्योत ने कहा—'क्षमा करना और बदी बनाए रखना—ये दोनो एक साथ कैसे हो सकते हैं ? आप बदी से क्षमा करने की आशा कैसे करते हैं ? भगवान् महावीर ने मैत्री के मुक्त क्षेत्र का निरूपण किया है। उसमे न बंदी बनने का अवकाश है और न बदी बनाने का। फिर महाराज ! आप किस भाव से मुझे क्षमा करते है और मुझसे क्षमा चाहते हैं ?'

उद्रायण को अपने प्रमाद का अनुभव हुआ। उसने चण्डप्रद्योत को मुक्त कर मैत्री के बधन से बाध लिया। दोनो परम मित्र बन गए।[1]

भगवान् ने अनाक्रमण के दो आयाम प्रस्तुत किए—आन्तरिक और बाहर। उसका आन्तरिक आयाम था—मैत्री का विकास और बाहरी आयाम था—नि शस्त्रीकरण।

नि शस्त्रीकरण की आधार-भित्तिया तीन थी—

१. शस्त्रो का अव्यापार।

२ शस्त्रों का अवितरण।

३ शस्त्रो का अल्पीकरण।

आक्रमण के पीछे आकाक्षा या आवेश के भाव होते है। वे मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बनाते है। शत्रुता का भाव जैसे ही हृदय पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है, वैसे ही भीतर बह रहा प्रेम का स्रोत सूख जाता है। मन सिकुड जाता है। बुद्धि रूखी-रूखी-सी हो जाती है। मनुष्य क्रूर और दमनकारी बन जाता है। यह हमारी दुनिया की बहुत पुरानी बीमारी है। इसकी चिकित्सा का एकमात्र विकल्प है—समत्व की अनुभूति का विकास, मैत्री की भावना का विकास। इस चिकित्सा के महान् प्रयोक्ता थे भगवान् महावीर। उनका अनाक्रमण का सिद्धान्त आज भी मानव की मृदु और सयत भावनाओ का प्रतिनिधित्व कर रहा है।

१० असग्रह का आन्दोलन

शरीर और भूख—दोनो एक साथ चलते हैं। इसलिए प्रत्येक शरीरधारी जीव भूख को शान्त करने के लिए कुछ न कुछ ग्रहण करता है। बहुत सारे अल्प-विकसित जीव भूख लगने पर भोजन की खोज मे निकलते हैं और कुछ मिल जाने पर खा-पी सतुष्ट हो जाते हैं। वे सग्रह नही करते। कुछ जीव थोडा-बहुत सग्रह

---

१ उत्तराध्ययन, सुखबोधा, पत्र २५४।

करते हैं। मनुष्य सर्वाधिक विकसित जीव है। उसमें अतीत की स्मृति और भविष्य की स्पष्ट कल्पना है। इसलिए वह सबसे अधिक सग्रह करता है।

मनुष्य जब अरण्यवासी था तब केवल खाने के लिए सीमित सग्रह करता था। जब वह समाजवासी हो गया तब सग्रह के दो आयाम खुल गए—एक आवश्यकता और दूसरा बड़प्पन।

आवश्यकता को पूरा करना सबके लिए जरूरी है। उसमे किसी को कैसे आपत्ति हो सकती है? बडप्पन मे बहुतो को आपत्ति होती है और वह विभिन्न युगो मे विभिन्न रूपो मे होती रही है।

महावीर के युग मे लोग भूखे नही थे और आर्थिक समानता का दृष्टिकोण भी निर्मित नही हुआ था। लोग भूखे नही थे और भाग्यवाद की पकड़ बहुत मजबूत थी, इसलिए अर्थ-सग्रह करने वालो के प्रति आक्रोशपूर्ण मानस का निर्माण नहीं हुआ था।

राज्य-व्यवस्था द्वारा भी सग्रह प्रतिबधित नही था। हर व्यक्ति को सग्रह करने की मुक्त छूट थी। इसे समझने मे मम्मण की घटना बहुत सहायक होगी।

आषाढ की पहली रात। बादलो से घिरा हुआ आकाश। घोर अधकार। तूफानी हवा। उफनती नदी का कलकल नाद। इस वातावरण मे हर आदमी मकान की शरण ले रहा था।

सम्राट् श्रेणिक महारानी चेल्लणा के साथ प्रासाद के वातायन मे बैठे थे। बिजली कौंधी। महारानी ने उसके प्रकाश मे देखा, एक मनुष्य नदी के तट पर खडा है और उसमे बहकर आए हुए काष्ठ-खण्डो को खीच-खीचकर सजो रहा है। महारानी का मन करुणा से भर गया। उसने श्रेणिक से कहा—'आपके राज्य मे लोग बहुत गरीब है। आपका प्रशासन उनकी गरीबी को मिटाने का प्रयत्न क्यो नही करता? मुझे लगता है कि आप भी नदी की भाति भरे हुए समुद्र को भरते हैं। खाली को कोई नही भरता।'

'मेरे राज्य मे कोई भी आदमी गरीब नही है। रोटी, कपड़ा और मकान सबको सुलभ हैं। फिर तुमने यह आरोप कैसे लगाया?'

'मैं आरोप नही लगा रही हू, आखो-देखी घटना बता रही हू।'

'उसका प्रमाण है तुम्हारे पास?'

'प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता है? मै आपसे एक प्रश्न पूछती हूं कि इस कालरात्रि मे यदि कोई आदमी जगल मे काम करे तो क्या आप नहीं मानेंगे कि वह गरीब नही है, भूखा नहीं है?'

'अवश्य मानूगा। पर इस समय किसी मनुष्य के जगल मे होने की संभावना नहीं है।'

'महाराज! बिजली कौधते ही आप इस दिशा में देखिए कि नदी के तट पर

क्या हो रहा है ?'

सम्राट् ने कुछ ही क्षणों मे उस मनुष्य को देखा और वे स्तब्ध रह गए। उनका सिर लज्जा से झुक गया। उन्हे अपने शासन की विफलता पर महान् वेदना का अनुभव हुआ। महारानी का आक्रोश उनकी आखो के सामने घूमने लगा। सम्राट् ने राजपुरुष को भेजकर उस आदमी को बुला लिया। वह सम्राट् को प्रणाम कर खडा हो गया। सम्राट् ने पूछा—'भद्र ! तुम कौन हो ?'

'मेरा नाम मम्मण है।'

'तुम कहा रहते हो ?'

'मै यही राजगृह मे रहता हू।'

'भद्र ! इस तूफानी रात्रि मे कोपीन पहने तुम नदी के तट पर खड़े थे। क्या तुम्हे रोटी सुलभ नही है ?'

'रोटी बहुत सुलभ है, महाराज।'

'फिर यह असामयिक प्रयत्न क्यो ?'

'मुझे एक बैल की जरूरत है, इसलिए मै नदी मे प्रवाहित काष्ठ-खण्डो को सजो रहा था।'

'एक बैल के लिए इतना कष्ट क्यो ? तुम मेरी गोशाला मे जाओ और तुम्हे जो अच्छा लगे, वह बैल ले लो।'

'महाराज ! मेरे बैल की जोडी का बैल आपकी गोशाला मे नही है, फिर मैं वहा जाकर क्या करूंगा ?'

'तुम्हारा बैल क्या किसी स्वर्ग से आया है ?'

'कल प्रातःकाल आप मेरे घर चलने की कृपा करे, फिर जो आपका निर्देश होगा, वही करूगा।'

सूर्योदय होते ही सम्राट् मम्मण के घर जाने को तैयार हो गए। मम्मण राज-प्रासाद मे आया और सम्राट् को अपने घर ले गया। उसका घर देख सम्राट् आश्चर्य मे डूब गये। वह सम्राट् को बैल-कक्ष मे ले गया। वहा पहुच सम्राट् ने देखा—एक स्वर्णमय रत्नजटित बैल पूर्ण आकार मे खडा है, और दूसरा अभी अधूरा है। 'इसे पूर्ण करना है, महाराज !' मम्मण ने अगुली-निर्देश करते हुए कहा। सम्राट् दो क्षण मौन रहकर बोले—'तुम सच कह रहे थे, मम्मण ! तुम्हारी जोडी का बैल मेरी गोशाला मे नही है और तुम्हारे बैल की पूर्ति करने की मेरे राज्यकोष की क्षमता भी नही है। मेरी शुभ कामना है—तुम अपने लक्ष्य मे सफल होओ। मैं तुम्हारी धुन पर आश्चर्य-चकित हू।'[1]

सम्राट् ने राजप्रासाद में आ उस धनी-गरीब की सारी रामकहानी महारानी

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३७१, ३७२।

को सुना दी। दोनों की आंखों में बारी-बारी से दो चित्र घूमने लगे—एक उस कालरात्रि मे नदी-तट पर काम कर रहे मम्मण का और दूसरा स्वर्णमय रत्नजटित वृषभयुगल के निर्माता मम्मण का।

इस घटना के आलोक में हम महावीर के असंग्रह व्रत का मूल्यांकन कर सकते हैं। हम इस तथ्य को न भुलाए कि महावीर ने असंग्रह का विधान आर्थिक समीकरण के लिए नहीं किया था। उनके सामने गरीबी और अमीरी की समस्या नही थी। उनके सामने समस्या थी मानसिक शान्ति की, संयम की लौ को प्रज्वलित रखने की और आत्मा को पाने की। अर्थ का सग्रह इन तीनों में बाधक था। इसीलिए महावीर ने असग्रह को महाव्रत के रूप में प्रस्तुत किया। भगवान् का निश्चित अभिमत था कि जो व्यक्ति अपरिग्रह को नहीं समझता वह धर्म को नही समझ सकता, जो व्यक्ति अपरिग्रह का आचरण नहीं करता, वह धर्म का आचरण नही कर सकता।

परिग्रह की लौकिक भाषा है—अर्थ और वस्तुओं का संग्रह। भगवान् की भाषा इससे भिन्न है। यह शरीर परिग्रह है। संचित कर्म परिग्रह है। अर्थ और वस्तु परिग्रह है। चैतन्य से भिन्न जो कुछ है, वह सब परिग्रह है, यदि उसके प्रति मूर्च्छा है। यदि उसके प्रति मूर्च्छा नहीं है तो कोई भी वस्तु परिग्रह नही है। मूर्च्छा अपने आप परिग्रह है। वस्तु अपने आप परिग्रह नहीं है। वह मूर्च्छा से जुडकर परिग्रह बनती है। फलित की भाषा मे मूर्च्छा और वस्तु उसका निमित्त हो सकती है। जिसका मन मूर्च्छा से शून्य है, उसके लिए वस्तु केवल वस्तु है, उपयोगिता का साधन है, किन्तु परिग्रह नही है। जिसका मन मूर्च्छा से पूर्ण है, उसके लिए वस्तु परिग्रह का निमित्त है। इस भाषा में परिग्रह के दो रूप बन जाते हैं—

१ अतरग परिग्रह—मूर्च्छा।

२ बाह्य परिग्रह—वस्तु।

एक बार भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य गौतम एक रंक की ओर सकेत कर बोले—'भते ! यह कितना अपरिग्रही है ? इसके पास कुछ भी नही है।'

'क्या इसके मन मे भी कुछ नही है ?'

'मन में तो है।'

'फिर अपरिग्रही कैसे ?'

१. जिसके मन में मूर्च्छा है और पास मे कुछ नही है, वह परिग्रह-प्रिय दरिद्र है।

२. जिसके पास मे जीवन-निर्वाह के साधन-मात्र हैं और मन मे मूर्च्छा नहीं है, वह सयमी है।

३. जिसके मन में मूर्च्छा भी नही है और पास में भी कुछ नहीं है, वह

अपरिग्रही है।

४. जिसके मन मे मूर्च्छा भी है और पास मे सग्रह भी है, वह परिग्रही है।

भगवान् ने सामाजिक मनुष्य को अपरिग्रह की दिशा मे ले जाने के लिए परिग्रह-सयम का सूत्र दिया। उसका भीतरी आकार था इच्छा-परिमाण और बाहरी आकार था वस्तु-परिमाण। इच्छा-परिमाण मानसिक स्वामित्व की मर्यादा है। इसे भाषा मे बाधा नही जा सकता। वस्तु-परिमाण व्यक्तिगत स्वामित्व की मर्यादा है। यह भाषा की पकड मे आ सकती है। इसीलिए भगवान् ने इच्छा-परिमाण को वस्तु-परिमाण के साथ निरूपित किया।

वस्तु-परिमाण इच्छा-परिमाण का फलित है। वस्तु का अपरिमित सग्रह वही व्यक्ति करता है जिसकी इच्छा अपरिमित है। वस्तु के आधार पर परिग्रह की दो दिशाए बनती हैं—

१. महा परिग्रह—असीम व्यक्तिगत स्वामित्व।

२. अल्प परिग्रह—सीमित व्यक्तिगत स्वामित्व।

भगवान् महावीर ने अल्प-परिग्रही समाज-रचना की नीव डाली। इसमे लाखो स्त्री-पुरुष सम्मिलित हुए। उन्होने अपनी आवश्यक सम्पत्ति से अधिक सग्रह नही करने का सकल्प किया। भगवान् ने सग्रह की गाणितिक सीमा का प्रतिपादन नही किया। उन्होने सग्रह-नियत्रण की दो दिशाए प्रस्तुत की। पहली—अर्थार्जन मे साधन-शुद्धि का विवेक और दूसरी—व्यक्तिगत जीवन मे सयम का अभ्यास। अल्प-परिग्रही व्यक्तियो के लिए निम्न आचरण वर्जित थे—

१. मिलावट।

२. झूठा तोल-माप।

३ असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु देना।

४ पशुओ पर अधिक भार लादना।

५ दूसरो की आजीविका का विच्छेद करना।

भगवान् ने अनुभव किया कि बहुत सारे लोग सुदूर प्रदेशो मे जाते है और वे उस प्रदेश की जनता के हितो का अपहरण करते है। इस प्रवृत्ति से आक्रमण और सग्रह—दोनो को प्रोत्साहन मिलता है। भगवान् ने इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए 'दिग्व्रत' का प्रतिपादन किया। उनके अल्प-परिग्रही अनुयायियो ने अपने प्रदेश से बाहर जाकर अर्थार्जन करना त्याग दिया। अप्राप्त भोग और सुख को प्राप्त करने के लिए दूसरे प्रदेशो मे जाना उनके लिए निषिद्ध आचरण हो गया।

भगवान् ने जन-जन मे अपरिग्रह की निष्ठा का निर्माण किया। 'पूनिया' उस निष्ठा का ज्वलन्त प्रतीक था। सम्राट् श्रेणिक ने उससे कहा—'तुम एक सामायिक (समता की साधना का व्रत) मुझे दे दो। उसके बदले मे मैं तुम्हें आधा राज्य दे दूगा।'

पूनिया ने विनम्रता के साथ सम्राट् का प्रस्ताव लौटा दिया। अपनी आत्मिक साधना का सौदा उसे मान्य नही हुआ।

'पूनिया' कोई धनपति नहीं था। वह रूई की पूनिया बनाकर अपनी जीविका चलाता था। पर वह समत्व का धनी था। परिग्रह के केन्द्रीकरण में उसका विश्वास नही था। वह भगवान् महावीर के अल्प-सग्रह के आन्दोलन का प्रमुख अनुयायी था।

भगवान् महावीर का असग्रह-आन्दोलन उनके अहिंसा-आन्दोलन का ही एक अग था। उनका अनुभव था कि अहिंसा की प्रतिष्ठा हुए बिना असग्रह की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। सग्रह मे आसक्त मनुष्य वैर की अभिवृद्धि करता है। अहिंसा का स्वरूप अवैर है। वैर की वृद्धि करने वाला अहिंसा को विकसित नही कर सकता। जिसे मानवीय एकता की अनुभूति नही है, दूसरो के हितो के अपहरण मे अपने हितो के अपहरण की अनुभूति नही है। वह असग्रह का आचरण नही कर सकता। व्यवस्था की बाध्यता से व्यक्ति व्यक्तिगत स्वामित्व को छोड देता है। यह अद्भुत सामाजिक परिवर्तन विगत कुछ शताब्दियो मे घटित हुआ सामाजिक परिवर्तन है। किन्तु सुदूर अतीत मे व्यक्तिगत स्वामित्व के समीकरण की दिशा का उद्घाटन महावीर के असग्रह आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण घटना है।

२८

विरोधाभास का वातायन

जीवन मे विरोधो की अनगिन यवनिकाए हैं। कोई भी मनुष्य जीवन के प्रभात से जीवन की सन्ध्या तक एकरूप नही रहता। एकरूपता का आग्रह रखने वाले इस अनेकरूपता को विरोधाभास मानते है। भगवान् महावीर का जीवन इन विरोधाभासों से शून्य नही था।

भगवान् परिषद् के बीच मे बैठे थे। एक आजीवक उपासक आकर बोला—'भते! आप पहले अकेले रहते थे और अब परिषद् के बीच में रहते हैं। क्या यह विरोधाभास नही है ?'

'एकागी दृष्टि से देखते हो तो है, अनेकान्त दृष्टि से देखो तो नही है।'

'यह कैसे ?'

'मैं साधना-काल मे बाहर मे अकेला था और भीतर मे भरा हुआ। सस्कारो की पूरी परिषद् मेरे साथ थी। अब बाहर से मैं परिषद् के बीच हू और भीतर मे अकेला, सस्कारो से पूर्ण शून्य।'

आजीवक सघ के आचार्य गोशालक ने भी भगवान् के जीवन को विरोधाभासो से परिपूर्ण निरूपित किया। मुनि आर्द्रकुमार वसतपुर से प्रस्थान कर भगवान् के पास जा रहे थे। उन दिनों भगवान् राजगृह के गुणशीलक चैत्य मे निवास कर रहे थे। बीच मे आर्द्रकुमार की गोशालक से भेट हो गई। गोशालक ने परिचय प्राप्त कर कहा—

'आर्द्रकुमार! तुम महावीर के पास जा रहे हो, यह आश्चर्य है। तुम्हारे जैसा समझदार राजकुमार कैसे बहक गया ?'

'मैं बहका नही हू। मैंने महावीर को जाना है, समझा है।'

'मैं उन्हे तुमसे पहले जानता हू, वर्षों तक उनके साथ रहा हू।'

'महावीर के बारे मे आपका क्या विचार है ?'

'मेरा विचार तुम इस बात से समझ लो कि अब मैं उनके साथ नहीं हू।'

'साथ नहीं रहने के अनेक कारण हो सकते हैं। मैं जानना चाहता हूं कि आपने किस कारण से उनका साथ छोड़ा ?'

'महावीर अस्थिर विचार वाले हैं। वे कभी कुछ कहते हैं और कभी कुछ। एक बिन्दु पर स्थिर नही रहते—

- पहले वे अकेले रहते थे, अब परिषद् से घिरे हुए रहते हैं।
- पहले वे मौन रहते थे, अब उपदेश देने की धुन मे लगे हुए हैं।
- पहले वे शिष्य नही बनाते थे, अब शिष्यों की भरमार है।
- पहले वे तपस्या करते थे, अब प्रतिदिन भोजन करते हैं।
- पहले वे रूखा-सूखा भोजन करते थे, अब सरस भोजन करते हैं।

तुम्हारे महावीर का जीवन विरोधाभासों से भरा पड़ा है। इसीलिए मैंने उनका साथ छोड दिया।'

गोशालक ने फिर अपने वक्तव्य की पुष्टि करने का प्रयत्न किया। वे बोले—'आर्द्रकुमार! तुम्ही बताओ, उनके अतीत और वर्तमान के आचरण मे संगति कहां है ?सधान कहा है ? उनका अतीत का आचरण यदि सत्य था तो वर्तमान का आचरण असत्य है और यदि वर्तमान का आचरण सत्य है तो अतीत का आचरण असत्य था। दोनो मे से एक अवश्य ही त्रुटिपूर्ण है। दोनो सही नही हो सकते।'

'मेरी दृष्टि मे दोनो सही हैं।'

'यह कैसे ?'

'मैं सही कह रहा हू, आजीवक प्रवर! भगवान् पहले भी अकेले थे, आज भी अकेले हैं और अनागत मे भी अकेले होगे। भगवान् जब भीतर की यात्रा कर रहे थे, तब बाहर मे अकेले थे। उनकी वह यात्रा पूर्ण हो चुकी है। अब वे बाहर की यात्रा कर रहे हैं इसलिए भीतर मे अकेले हैं। आचार्य! आप जानते ही है कि खाली मनुष्य एकान्त मे जाता है और भरा मनुष्य भीड़ मे बांटने आता है। ये दोनो भिन्न परिस्थितियो के भिन्न परिणाम हैं। इनमे कोई विसगति नही है।

'भगवान् सत्य के साक्षात्कार की साधना कर रहे थे, तब उनकी वाणी मौन थी। उन्हे सत्य का साक्षात् हो चुका है। अब सत्य उनकी वाणी मे आकार ले रहा है।

'भगवान् साधना-काल मे अपूर्णता से पूर्णता की ओर प्रयाण कर रहे थे। उस समय कोई उनका शिष्य कैसे बनता ? अब वे पूर्णता मे उपस्थित हैं। अपूर्ण पूर्ण का अनुगमन करता है, इसमे अनुचित क्या है ?

'भगवान् संस्कारों का प्रक्षालन कर रहे थे, तब तपस्या की गंगा बह रही थी। अब उनके सस्कार धुल चुके हैं। तपस्या की गगा कृतार्थ हो चुकी है। तपस्या तपस्या के लिए नही है। आप ही कहिए—नदी के पार पहुंचने पर नौका की क्या

उपयोगिता है ?

'आजीवक प्रवर ! मैं फिर आपसे कहना चाहता हू कि भगवान् के आचरण प्रयोजन के अनुरूप होते हैं। उनमे कोई विसगति नही है।'

गोशालक ने आर्द्रकुमार के समाधान पर आवरण डालते हुए कहा—'आर्द्रकुमार ! क्या तुम नही मानोगे कि महावीर बहुत भीरु है ?'

'यह मानने का मेरे सामने कोई हेतु नही है।'

'नही मानने का क्या हेतु है ?'

'मैं पूछ सकता हू, मानने का क्या हेतु है ?'

'जिन अतिथि-गृहो और आराम-गृहो मे बडे-बडे विद्वान् परिव्राजक ठहरते हैं, वहा महावीर नही ठहरते। विद्वान् परिव्राजक कोई प्रश्न न पूछ लें, इस डर से वे सार्वजनिक आवास-गृहो से दूर रहते हैं। क्या उन्हे भीरु मानने के लिए यह हेतु पर्याप्त नही है ?'

'भगवान् अर्थशून्य और बचकाना प्रवृत्ति नही करते। वे प्रयोजन की निष्पत्ति देखते है, वहा ठहरते हैं, अन्यत्र नही ठहरते। प्रयोजन की निष्पत्ति देखते है, तब प्रश्न का उत्तर देते हैं, अन्यथा नही देते। इसका हेतु भय नही, प्रवृत्ति की सार्थकता है।'[1]

आजीवक आचार्य महावीर को निरपेक्षदृष्टि से देख रहे थे। फलत· उनकी दृष्टि मे महावीर का चित्र विरोधाभास की रेखाओ से बना हुआ था। आर्द्रकुमार महावीर को महावीर की दृष्टि (सापेक्षदृष्टि) से देख रहा था। फलत उसकी दृष्टि मे प्रतिबिम्बित हो रहा था महावीर का वह चित्र जो निर्मित हो रहा था सामजस्य की रेखाओ से।

देश, काल और परिस्थिति के वातायन की खिडकी को बन्द कर देखनेवाला जीवन मे विरोधाभास देखता है। यथार्थ वही देख पाता है, जिसके सामने सापेक्षता की खिडकी खुली होती है।

---

१ देखें—सूयगडो, २।६।

२९

सह-अस्तित्व और सापेक्षता

भगवान् महावीर अहिंसा के मन्त्रदाता थे। भगवान् ने सत्य का पहला स्पर्श किया तब उनके हाथ लगी अहिंसा और सत्य का अतिम स्पर्श किया तब भी उनके हाथ लगी अहिंसा। चेतना-विकास के आदि-बिन्दु से चरम-बिन्दु तक अहिंसा का ही विस्तार है। वह सत्य की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है।

जीव-जगत् के सम्पर्क मे अहिंसा की रेखाए मैत्री का और तत्त्व-जगत् के सम्पर्क मे वे अनेकान्त का चित्र निर्मित करती हैं। भगवान् के मानस से मैत्री की सघन रश्मिया निकलती थी। वे सिंह को प्रेममय और बकरी को अभय बना देती। भगवान् की सन्निधि मे दोनो आस-पास बैठ जाते।

सह-अस्तित्व मे एक छद, एक लय और एक स्वर है। उसमे पूर्ण सतुलन और सगति है, कही भी विसगति नही है।

विसगति का निर्माण बुद्धि ने किया है। भिन्नता के विरोध का आकार बुद्धि ने किया है। तत्त्व-युगलो का धारावाही वर्तुल है। उसमे सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सदृश-विसदृश, वाच्य-अवाच्य जैसे अनन्त युगल हैं। इन युगलो का सह-अस्तित्व ही तत्त्व है।

भगवान् ने प्रतिपादित किया—कोई भी वस्तु केवल सत् या केवल असत् नही है। वह सत् और असत्—इन दोनो धर्मों का सह-अस्तित्व है। कोई भी तत्त्व केवल नित्य या केवल अनित्य नही है। वह नित्य और अनित्य—इन दोनो धर्मों का सह-अस्तित्व है।

गौतम भगवान् से बहुत प्रश्न पूछा करते थे। कभी-कभी वे भगवान् के जीवन के बारे में भी पूछ लेते थे। एक बार उन्होने पूछा—

'भते ! आप अस्ति हैं या नास्ति ?'

'मैं अस्ति भी हू और नास्ति भी हू।'

'भंते ! या कहे मैं अस्ति हू या कहे मैं नास्ति हूं। दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं ?'

'यदि दोनो एक साथ न हों तो मैं अस्ति भी नही हो सकता और नास्ति भी नहीं हो सकता।'

'भते ! यह कैसे ?'

'यदि मेरा अस्तित्व मेरे चैतन्य से ही नही है, दूसरो के चैतन्य से भी है तो मैं अस्ति नही हो सकता। अस्ति हो सकता है समुदाय। और जब मैं अस्ति नहीं हो सकता तब नास्ति भी नही हो सकता।'

'तो क्या यह निश्चित है कि आप अपने ही चैतन्य से अस्ति है ?'

'हा, यह निश्चित है और एकान्तत निश्चित है कि मैं अपने चैतन्य से ही अस्ति हू।'

'भते ! यह भी निश्चित है कि आप दूसरो के चैतन्य से अस्ति नही हैं ?'

'हा, यह भी एकान्तत निश्चित है कि मैं दूसरो के चैतन्य से अस्ति नही हू। मैं दूसरो के चैतन्य से अस्ति नही हू इसीलिए अपने चैतन्य से अस्ति हू। इसीलिए मैं कहता हू कि मैं अस्ति भी हू और नास्ति भी हू। अस्तित्व और नास्तित्व दोनो एक साथ रहते हैं। अस्तित्व-विहीन नास्तित्व और नास्तित्व-विहीन अस्तित्व कही भी प्राप्त नही होता।'

'भते ! आपका अस्तित्व जैसे अस्तित्व मे परिणत होता है, वैसे ही क्या नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है ?'

'तुम ठीक कहते हो। मेरे अस्तित्व की धारा अस्तित्व की दिशा मे और नास्तित्व की धारा नास्तित्व की दिशा मे प्रवाहित होती रहती है।'

'भते ! क्या अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर-विरोधी नही है ?'

'नही है। दोनो सहभावी हैं। दोनो साथ मे रहकर ही वस्तु को वास्तविकता प्रदान करते है।'[1]

वस्तु के अनन्त पर्याय हैं, अनन्त कोण हैं। वस्तु के धरातल पर अनन्त कोणों का होना ही परम सत्य है। अनन्त कोणो का होना विरोध नही है। उनका हमारी बुद्धि की पकड मे न आना विरोध प्रतीत होता है। तरगित समुद्र का दर्शन निस्तरग समुद्र के दर्शन से भिन्न होता है। निस्तरंग होना और तरगित होना पर्याय है। इन दोनो पर्यायो के नीचे जो अस्तित्व है, वह पहले और पीछे—दोनो क्षणो मे होता है—निस्तरग पर्याय मे भी होता है और तरगित पर्याय मे भी होता है।

दूध दही हो गया। दही का पर्याय उत्पन्न हुआ। दूध का पर्याय नष्ट हो

१ भगवती, १।१३३-१३८।

गया। इन दोनों पर्यायों के नीचे जो अस्तित्व है, वह पहले और पीछे—दोनों क्षणों में होता है—दूध-पर्याय में भी होता है और दही-पर्याय में भी होता है।

नैयायिक मानते हैं कि आकाश नित्य है और दीपशिखा अनित्य है। बौद्ध मानते हैं कि दीपशिखा भी अनित्य है और आकाश भी अनित्य है।

दीपशिखा का नित्य होना और आकाश का अनित्य होना नैयायिक की दृष्टि मे विरोध है। दीपशिखा का अनित्य और नित्य—दोनो होना बौद्ध की दृष्टि में विरोध है।

महावीर ने सत्य को इन दोनो से भिन्न दृष्टि से देखा है। उन्होंने कहा—दीपशिखा को अनित्य कहा जाता है, वह नित्य भी है और आकाश को नित्य कहा जाता है, वह अनित्य भी है। नित्य और अनित्य परस्पर-विरोधी नही हैं। एक ही तने की दो अनिवार्य शाखाए हैं। दीपशिखा प्रतिक्षण क्षीण होती जाती है, इसलिए नैयायिक और बौद्ध का उसे अनित्य मानना अनुचित नही है। आकाश कभी भी समाप्त नही होता, इसलिए नैयायिक का उसे नित्य मानना भी अनुचित नहीं है। महावीर ने यह नही कहा कि दीपशिखा को अनित्य मानना अनुचित है। उसका अनित्य होना प्रत्यक्ष है, इसलिए उसे अनुचित कैसे कहा जा सकता है? उन्होंने कहा—दीपशिखा को अनित्य ही मानना या नित्य न मानना अनुचित है। दीपशिखा एक पर्याय है। परमाणुओ का तैजस रूप मे होना दीपशिखा है। उसके समाप्त होने का अर्थ है—परमाणुओ के तैजस पर्याय की समाप्ति। तैजस पर्याय का समाप्त होना परमाणुओ का समाप्त होना नही है। परमाणु शाश्वत हैं। वे तैजस पर्याय के होने पर भी होते हैं और उनके न होने पर भी होते हैं।

गौतम ने पूछा—'भते! जीव शाश्वत है या अशाश्वत?'

भगवान् ने कहा—'गौतम! जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।'

'भते! दोनो कैसे?'

'पर्याय की ऊर्मियो के तल में जो चेतना का स्थिर शान्त सागर है, वह शाश्वत है। उस सागर में ऊर्मियां उन्मज्जित और निमज्जित होती रहती हैं, वे अशाश्वत हैं। ऊर्मियो का अस्तित्व सागर से भिन्न नहीं है और सागर का अस्तित्व ऊर्मियों से भिन्न नही है। ऊर्मि-रहित सागर और सागर-रहित ऊर्मि का अस्तित्व उपलब्ध नही होता। इसीलिए मैं कहता हू कि जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। पर्यायो के तल मे तिरोहित चेतना के अस्तित्व को देखें तब हम कह सकते हैं कि जीव शाश्वत है। चेतना के अस्तित्व पर उफनते पर्यायो को देखें तब हम कह सकते हैं कि जीव अशाश्वत है।

'मूल तत्त्व जितने थे, उतने ही हैं और उतने ही होगे। उनमें जो है, वह कभी नष्ट नही होता और जो नही है, वह कभी उत्पन्न नहीं होता। वे अवस्थित हैं, उत्पाद और विनाश के चक्र से मुक्त हैं। वे दो हैं—चेतन और अचेतन। ये दोनों

स्वतन्त्र अस्तित्व हैं। इनमे अत्यन्ताभाव है। यहा अरस्तू का तर्क महावीर के नय से अभिन्न हो जाता है। अरस्तू का तर्क है कि 'अ' 'अ' है और 'अ' कभी 'क' नही हो सकता। 'क' 'क' है और 'क' कभी 'अ' नही हो सकता। महावीर का नय है कि चेतन चेतन है, चेतन कभी अचेतन नहीं हो सकता। अचेतन अचेतन है, अचेतन कभी चेतन नही हो सकता।

हम मूल तत्त्वो को पर्यायो के माध्यम मे ही जान पाते हैं। पर्यायों का जगत् बहुत बडा है। यह उत्पन्न होता है और विलीन होता है। पल-पल बदलता रहता है। यहा अरस्तू का तर्क महावीर के नय से भिन्न हो जाता है। पर्याय-जगत् के बारे मे महावीर का नय है कि 'अ' 'अ' भी है और 'अ' 'क' भी है। 'क' 'क' भी है और 'क' 'अ' भी है। 'अ' 'क' हो सकता है और 'क' 'अ' हो सकता है।

भ्रमर काला है, पर वह काला ही नही है। वह पीला भी है, नीला भी है, लाल भी है और सफेद भी है।

चीनी मीठी है, पर वह मीठी ही नही है। वह कडवी भी है, खट्टी भी है, कषैली भी है और तीखी भी है।

गुलाब का फूल सुगधित है पर वह सुगन्धित ही नही है। वह दुर्गन्धित भी है।

अग्नि उष्ण है, पर वह उष्ण ही नही है, वह शीत भी है।
हिम शीत है, पर वह शीत ही नही है, वह उष्ण भी है।
तेल चिकना है, पर वह चिकना ही नही है, वह रूखा भी है।
राख रूखी है, पर वह रूखी ही नही है, वह चिकनी भी है।
मक्खन मृदु है, पर वह मृदु ही नही है, वह कठोर भी है।
लोह कठोर है, पर वह कठोर ही नही है, वह मृदु भी है।
रुई हल्की है, पर वह हल्की ही नही है, वह भारी भी है।
पत्थर भारी है, पर वह भारी ही नही है, वह हल्का भी है।

व्यक्त पर्यायो को देखकर हम कहते हैं कि भ्रमर काला है, चीनी मीठी है, गुलाब का फूल सुगन्धित है, अग्नि उष्ण है, हिम शीत है, तेल चिकना है, राख रूखी है, मक्खन मृदु है, लोह कठोर है, रुई हल्की है और पत्थर भारी है। यदि व्यक्त पर्याय अव्यक्त और अव्यक्त पर्याय व्यक्त हो जाए या किया जाए तो भ्रमर सफेद, चीनी कडवी, गुलाब का फूल दुर्गन्धित, अग्नि शीत, हिम उष्ण, तेल रूखा, राख चिकनी, मक्खन कठोर, लोह मृदु, रुई भारी और पत्थर हल्का हो सकता है।

काला या सफेद होना, मीठा या कडवा होना, सुगंध या दुर्गन्ध होना, उष्ण या शीत होना, चिकना या रूखा होना, मृदु या कठोर होना, हल्का या भारी होना

पर्याय हैं। इसलिए वे अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं। इनके तल में परमाणु हैं। वे नित्य हैं, शाश्वत हैं। ये सब पर्याय उन्ही में घटित होते हैं। इनके होने पर भी परमाणु का परमाणुत्व विघटित नही होता।

ये विरोधी प्रतीत होने वाले पर्याय एक ही आधार मे घटित होते हैं, इसलिए वस्तु जगत् मे सबका सह-अस्तित्व होता है, विरोध नहीं होता। विश्व व्यवस्था के नियमों में कही भी विरोध नही है। उसकी प्रतीति हमारी बुद्धि मे होती है। इस समस्या को भगवान् ने सापेक्ष-दृष्टिकोण और वचन-भगी द्वारा सुलझाया।

वस्तु मे अनन्त युगल-धर्म हैं। उनका समग्र दर्शन अनन्त दृष्टिकोणों से ही हो सकता है। उनका प्रतिपादन भी अनन्त वचन-भगियों से हो सकता है। वस्तु के समग्र धर्मों को जाना जा सकता है पर कहा नही जा सकता। एक क्षण मे एक शब्द द्वारा एक ही धर्म कहा जा सकता है। एक धर्म का प्रतिपादन समग्र का प्रतिपादन नही हो सकता और समग्र को एक साथ कह सकें, वैसा कोई शब्द नहीं है। इस समस्या को निरस्त करने के लिए भगवान् ने सापेक्ष-दृष्टिकोण के प्रतीक शब्द 'स्यात्' का चुनाव किया।

'जीवन है'—इस वचनभगी मे जीवन के अस्तित्व का प्रतिपादन है। जीवन केवल अस्तित्व ही नहीं है, वह और भी बहुत है। 'जीवन नही है'—इसमे जीवन के नास्तित्व का प्रतिपादन है। जीवन केवल नास्तित्व ही नही है, वह और भी बहुत है। इसलिए 'जीवन है' और 'जीवन नही है'—यह कहना सत्य नही है। सत्य यह है कि 'स्यात् जीवन है', 'स्यात् जीवन नही है।'

अस्तित्व को अस्वीकार नही किया जा सकता, इस कोण से वह है। नास्तित्व को स्वीकार किए बिना उसका अस्तित्व सिद्ध नही होता, इस कोण से वह नही है। उसके होने और नही होने के क्षण दो नही हैं। वह जिस क्षण मे है, उसी क्षण मे नही है और जिस क्षण मे नही है, उसी क्षण मे है। ये दोनो बातें एक साथ कही नही जा सकती। इस कोण से जीवन अवक्तव्य है।

वेदान्त का मानना है कि ब्रह्म अनिर्वचनीय है। भगवान् बुद्ध की दृष्टि मे कुछ तत्त्व अव्याकृत हैं। भगवान् महावीर की दृष्टि मे अणु और आत्मा, सूक्ष्म और स्थूल—सभी वस्तुएं अवक्तव्य हैं। किन्तु अवक्तव्य ही नही हैं, वे अखण्डरूप मे अवक्तव्य हैं। खण्ड के कोण से वक्तव्य हैं। हम कहते हैं आम मीठा है। इसमें आम के मिठास गुण का निर्वचन है। केवल मिठास ही आम नही है। उसमें मिठास जैसे अनन्त गुण और पर्याय हैं। कुछ गुण बहुत स्पष्ट हैं। वह पीला है, सुगन्धित है, मृदु है। 'आम मीठा है'—इसमे आम के रस का निर्वचन है किन्तु वर्ण, गन्ध और स्पर्श का निर्वचन नही है। हम अखण्ड को खण्ड के कोण से जानते हैं और कहते हैं। उसमे एक गुण मुख्य और शेष सब तिरोहित हो जाते हैं। इस आविर्भाव और तिरोभाव के क्रम मे वस्तु के अनन्त खण्ड हो जाते हैं और उनके तल में वह

अखण्ड रहती है। अखण्ड का बोध और वचन सत्य होता ही है। खण्ड का बोध और वचन भी सत्य होता है, यदि उसके साथ 'स्यात्' (अपेक्षा) शब्द का भाव जुड़ा हुआ हो।

एक स्त्री बिलौना कर रही है। एक हाथ आगे आता है, दूसरा पीछे चला जाता है। फिर पीछे वाला आगे आता है और आगे वाला पीछे चला जाता है। इस आगे-पीछे के क्रम मे नवनीत निकल जाता है। सत्य के नवनीत को पाने का भी यही क्रम है। वस्तु का वर्तमान पर्याय तल पर आता है और शेष पर्याय अतल मे चले जाते हैं। फिर दूसरा पर्याय सामने आता है और पहला पर्याय विलीन हो जाता है। इस प्रकार वस्तु का समुद्र पर्याय की ऊर्मियो मे स्पदित होता रहता है। अनेकान्त का आशय है, वस्तु की अखण्ड सत्ता का आकलन—ऊर्मियो और उनके नीचे स्थित समुद्र का बोध। स्याद्वाद का आशय है—एक खण्ड के माध्यम से अखण्ड वस्तु का निर्वचन।

सापेक्षता के सिद्धान्त की स्थापना कर भगवान् ने बौद्धिक अहिंसा का नया आयाम प्रस्तुत किया। उस समय अनेक दार्शनिक तत्त्व के निर्वाचन मे बौद्धिक व्यायाम कर रहे थे। अपने सिद्धान्त की स्थापना और दूसरो के सिद्धान्त की उत्थापना का प्रबल उपक्रम चल रहा था। उस वातावरण मे महावीर ने दार्शनिको से कहा—'तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या नही है। पर तुम अपेक्षा के धागे को तोडकर उसका प्रतिपादन कर रहे हो, खण्ड को अखण्ड बता रहे हो, इस कोण से तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या है। अपेक्षा के धागे को जोडकर उसका प्रतिपादन करो, मिथ्या सत्य हो जाएगा और खण्ड अखण्ड का प्रतीक।' इस भावधारा मे निमज्जन कर एक जैन मनीषी ने महावीर के दर्शन को मिथ्यादृष्टियो के समूह की सज्ञा दी। जितनी एकागी दृष्टिया हैं, वे सब निरपेक्ष होने के कारण मिथ्या हैं। वे सब मिल जाती है, सापेक्षता के सूत्र मे शृखलित होकर एक हो जाती है तब महावीर का दर्शन बन जाता है।

सिद्धसेन दिवाकर ने यही बात काव्य की भाषा मे कही है—'भगवन्! सिन्धु मे जैसे सरिताए मिलती हैं, वैसे ही आपकी अनेकान्त दृष्टि मे सारी दृष्टिया आकर मिल जाती हैं। उन दृष्टियो मे आप नही मिलते, जैसे सरिताओ मे सिन्धु नही होता।'

सत्य के विषय मे चल रहा विवाद एकागी दृष्टि का विवाद है। पाच अन्धे यात्रा पर जा रहे थे। एक गांव में पहुंचे। हाथी का नाम सुना। उसे देखने गए। उनका देखना आखो का देखना नही था। उन्होंने छूकर हाथी को देखा। पांचो ने हाथी को देख लिया और चित्र कल्पना में उतार लिया। अब परस्पर चर्चा करने लगे। पहले ने कहा—'हाथी खभे जैसा है।' दूसरा बोला—'तुम गलत कहते हो, हाथी खभे जैसा नहीं है, वह केले के तने जैसा है।' तीसरा दोनों को झुठलाते हुए

बोला—'हाथी मूसल जैसा है ।' चौथा बोला—'तुम भी सही नहीं हो, हाथी सूप जैसा है ।' पांचवां बोला—'तुम सब झूठे हो, हाथी मोटी रस्सी जैसा है ।' उन सबने अपने-अपने अनुभव के चित्र कल्पना के ढाचे में मढ़ लिए । अब एक रेखा भर भी इधर-उधर सरकने को अवकाश नही रहा । वे अपने-अपने चित्र को परम सत्य और दूसरो के चित्र को मिथ्या बतलाने लगे । विवाद का कही अन्त नहीं हुआ ।

एक आदमी आया । उसके आंखें थी । उसने पूरा हाथी देखा था । वह कुछ क्षण अंधो के विवाद को सुनता रहा । फिर बोला—'भाई ! तुम लडते क्यों हो ?' उन्होने अपनी सारी कहानी सुनाई और उससे अपने-अपने पक्ष का समर्थन चाहा । आगंतुक आदमी बोला—'तुम सब झूठे हो ।' पाचो चिल्लाए—'यह कैसे हो सकता है ? हमने हाथी को छूकर देखा है ।' आगंतुक बोला—'तुमने हाथी को नहीं छुआ, उसके एक-एक अंग को छुआ । चलो, तुम्हारा विवाद हाथी के पास चलकर समाप्त करता हूं ।' वह उन पांचो को हाथी के पास ले आया । एक-एक अग को छुआकर बोला—

'तुम सच हो कि हाथी खभे जैसा है, पर तुमने हाथी का पैर पकडा, पूरा हाथी नही पकडा ।

'तुम भी सच हो कि हाथी केले के तने जैसा है, पर तुमने हाथी की सूड पकडी, पूरा हाथी नही पकडा ।

'तुम भी सच हो कि हाथी मूसल जैसा है, पर तुमने हाथी का दात पकडा, पूरा हाथी नही पकडा ।

'तुम भी सच हो कि हाथी सूप जैसा है, पर तुमने हाथी का कान पकडा, पूरा हाथी नही पकडा ।

'तुम भी सच हो कि हाथी मोटी रस्सी जैसा है, पर तुमने हाथी की पूछ पकडी, पूरा हाथी नही पकडा ।'

'तुम अपनी-अपनी पकड को सत्य और दूसरो की पकड को मिथ्या बतलाते हो, इसलिए तुम सब झूठे हो । तुम अवयव को अवयवी मे मिला दो, खण्ड को अखण्ड की धारा मे बहा दो, फिर तुम सब सत्य हो ।'

विश्व का प्रत्येक मूल तत्त्व अखण्ड है । परमाणु भी अखण्ड है और आत्मा भी अखण्ड है । किन्तु कोई भी अखण्ड तत्त्व खण्ड से वियुक्त नहीं है । महावीर ने सापेक्षता के सूत्र से अखण्ड और खण्ड की एकता को साधा । उन्होंने रहस्य का अनावरण इन शब्दो मे किया—'जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है । सबको जानने वाला ही एक को जान सकता है ।'[1]

आग्रही मनुष्य अपनी मान्यता के अंचल मे युक्ति खोजता है और अनाग्रही

१. आयारो, ३।७४ ।

मनुष्य युक्ति के अंचल में मनन का प्रयोग करता है।

आग्रही मनुष्य आंख पर आग्रह का उपनेत्र चढ़ाकर सत्य को देखता है और अनाग्रही मनुष्य अनन्त चक्षु होकर सत्य को देखता है।

भगवान् महावीर का युग तत्त्व-जिज्ञासा का युग था। असख्य जिज्ञासु व्यक्ति अपनी जिज्ञासा का शमन करने के लिए बड़े-बड़े आचार्यों के पास जाते थे। अपने-अपने आचार्यों के पास जाते ही थे पर यदा-कदा दूसरे आचार्यों के पास भी जाते थे। इन जिज्ञासुओ में स्त्रियां भी होती थी। भगवान् महावीर ने अपने जीवन-काल मे हजारो-हजारो जिज्ञासाओ का समाधान किया। उनके सामने सबसे बड़े जिज्ञासाकार थे, उनके ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम। महावीर की वाणी का बहुत बड़ा भाग उनकी जिज्ञासाओ का समाधान है।

१ एक बार गौतम ने पूछा—'भंते! कुछ साधक कहते हैं कि साधना अरण्य मे ही हो सकती है। इस विषय में आपका क्या मत है?'

'गौतम! मैं यह प्रतिपादन करता हू कि साधना गाव मे भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है, गाव मे भी नही होती और अरण्य मे भी नही होती।'

'भंते! यह कैसे?'

'गौतम! जो आत्मा और शरीर के भेद को जानता है, वह गाव मे भी साधना कर सकता है और अरण्य में भी कर सकता है। जो आत्मा और शरीर के भेद को नही जानता वह गाव मे भी साधना नही कर सकता और अरण्य मे भी नही कर सकता।'

जो साधक आत्मा को नही देखता, उसकी दृष्टि मे ग्राम और अरण्य का प्रश्न मुख्य होता है। जो आत्मा को देखता है, उसका निवास आत्मा मे ही होता है। इसलिए उसके सामने ग्राम और अरण्य का प्रश्न उपस्थित नही होता। यह तर्क उचित है कि यदि तुम आत्मा को देखते हो तो अरण्य मे जाकर क्या करोगे? यदि तुम आत्मा को नही देखते हो तो अरण्य मे जाकर क्या करोगे?[1]

२. सोमिल जाति से ब्राह्मण था, वैदिक धर्म का अनुयायी और वेदो का पारगामी विद्वान्। वह वाणिज्यग्राम मे रहता था। भगवान् वाणिज्यग्राम मे आए। द्विपलाश चैत्य मे ठहरे। सोमिल भगवान् के पास आया। उसने अभिवादन कर पूछा—'भंते! आप एक हैं या दो?'

'मैं एक भी हू और दो भी हू।'

'भंते! यह कैसे हो सकता है?'

'मैं चेतन द्रव्य की अपेक्षा से एक हूं तथा ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से दो हूं।'

---

१. आयारो ८।१४।

'भते ! आप शाश्वत हैं या गतिशील ?'

'कालातीत चेतना की अपेक्षा मैं शाश्वत हूं और त्रिकाल-चेतना की अपेक्षा मैं गतिशील हूं—जो भूत मे था, वह वर्तमान में नही हूं और जो वर्तमान मे हू, वह भविष्य मे नहीं होऊंगा ।'[1]

३. भगवान् कौशाम्बी के चन्द्रावतरण चैत्य मे विहार कर रहे थे ।[2] महाराज शतानीक की बहन जयन्ती वहा आई । उसने वंदना कर पूछा—

'भंते ! सोना अच्छा है या जागना अच्छा है ?'

'कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवो का जागना अच्छा है ।'

'भते ! ये दोनो कैसे ?'

'अधार्मिक मनुष्य का सोना अच्छा है । वह जागकर दूसरो को सुला देता है, इसलिए उसका सोना अच्छा है ।

'धार्मिक मनुष्य का जागना अच्छा है । वह जागकर दूसरो को जगा देता है, इसलिए उसका जागना अच्छा है ।'

'भते ! जीवो का दुर्बल होना अच्छा है या सबल होना ?'

'कुछ जीवो का दुर्बल होना अच्छा है और कुछ जीवो का सबल होना अच्छा है ।'

'भते ! ये दोनो कैसे ?'

'अधार्मिक मनुष्य का दुर्बल होना अच्छा है । वह अधर्म से आजीविका कर दूसरो के दु ख का हेतु होता है, इसलिए उसका दुर्बल होना अच्छा है ।

'धार्मिक मनुष्य का सबल होना अच्छा है । वह धर्म से आजीविका कर दूसरो के दु ख का हेतु नही होता, इसलिए उसका सबल होना अच्छा है ।'

'भते ! जीवो का आलसी होना अच्छा है या क्रियाशील ?'

'कुछ जीवो का आलसी होना अच्छा है और कुछ जीवों का क्रियाशील होना अच्छा है ।'

'भते ! ये दोनो कैसे ?'

'असयमी का आलसी होना अच्छा है, जिससे वह दूसरो का अहित न कर सके ।

'सयमी का क्रियाशील होना अच्छा है, जिससे वह दूसरों का हित साध सके ।'[3]

४ स्कदक परिव्राजक श्रावस्ती मे रहता था । भगवान् कयजला मे पधारे ।[4] वह भगवान् के पास आया । भगवान् ने कहा—'स्कदक ! तुम्हारे मन

१ भगवई, १८।२१९, २२० ।

२ तीर्थंकर काल का तीसरा वर्ष ।

३. भगवई, १२।५३-५८ ।

४, तीर्थंकर काल का ग्यारहवां वर्ष ।

मे जिज्ञासा है कि लोक सान्त है या अनन्त ?'

'भंते ! है । मैं इसका व्याकरण चाहता हू ।'

'मैं इसका सापेक्ष दृष्टि से व्याकरण करता हू । उसके अनुसार लोक सान्त भी है और अनन्त भी है ।'

'भते ! यह कैसे ?'

'लोक एक है, इसलिए सख्या की दृष्टि से वह सान्त है । लोक असख्य आकाश मे फैला हुआ है, इसलिए क्षेत्र की दृष्टि से वह सान्त है । लोक था, है और होगा, इसलिए काल की दृष्टि से वह अनन्त है । लोक अनन्त वर्ण, गध, रस और स्पर्श के पर्यायो से युक्त है, इसलिए पर्याय की दृष्टि से वह अनन्त है ।''[1]

अविरोध मे विरोध देखने वाला एक चक्षु होता है और विरोध मे अविरोध देखने वाला अनन्त चक्षु । भगवान् महावीर ने अनन्त चक्षु होकर सत्य को देखा और उसे रूपायित किया ।

---

१. भगवई, २।४५ ।

३०

सतत जागरण

अनुरक्ति की आख से गुण दिखता है। विरक्ति की आख से दोष दिखता है। मध्यस्थता की आख से गुण और दोष—दोनो दिखते हैं। भगवान् महावीर की साधना अनुराग और विराग के अचलो से अतीत थी। वे जागृति के उस बिन्दु पर पहुच गए थे कि जहा पहुचने पर कोई व्यक्ति प्रिय या अप्रिय नही रहता। वहा वाछनीय होता है व्यक्ति का जागृत होना और अवाछनीय होता है व्यक्ति का मूच्छित होना। भगवान् का सयम है जागरण। भगवान् की साधना है जागरण। भगवान् का ध्यान है जागरण।

भगवान् ईश्वर नही थे। वे वैसे ही शरीरधारी मनुष्य थे जैसे उस युग के दूसरे मनुष्य थे। वे किसी के भाग्य-निर्माता नही थे। न उनमे सृष्टि के सर्जन और प्रलय की शक्ति थी। वे करने, नही करने और अन्यथा करने मे समर्थ ईश्वर नहीं थे। वे किसी ईश्वरीय सत्ता के प्रति नत-मस्तक नही थे, जो मनुष्य के भाग्य की डोर अपने हाथ मे थामे हुए हो। उनका ईश्वर मनुष्य से भिन्न नही था। उनका ईश्वर आत्मा से भिन्न नही था। हर आत्मा उनका परमात्मा है। हर आत्मा उनका ईश्वर है।

आत्मा की विस्मृति होना प्रमाद है, निद्रा है। आत्मा की स्मृति होना अप्रमाद है, जागरण है। आत्मा की सतत स्मृति होना परमात्मा होना है, ईश्वर होना है।

भगवान् महावीर ने आत्मा को परमात्मा होने की दिशा दी, ईश्वर होने के रहस्य का उद्घाटन किया। यह उनकी बहुत बड़ी देन है। भगवान् स्वय सतत जागरूक रहे, दूसरो की जागृति का समर्थन और मूर्च्छा का विखंडन करते रहे। उनकी यह प्रक्रिया सब पर समान रूप से चलती रही।

गौतम भगवान् के प्रथम शिष्य थे। भगवान् की अनेकान्त-दृष्टि के महान् प्रवक्ता और महान् भाष्यकार। एक दिन उन्हें पता चला कि उपासक आनन्द

समाधि-मरण की आराधना कर रहा है। वे आनन्द के उपासना-गृह मे गए। आनन्द ने उनका अभिवादन किया। धर्मचर्चा के प्रसग मे आनन्द ने कहा—'भंते ! भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अप्रमाद की साधना से मुझे विशाल अवधिज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) प्राप्त हुआ है।'

गौतम बोले—'आनन्द ! गृहस्थ को प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है पर इतना विशाल नही हो सकता। तुम कहते हो कि इतना विशाल प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है, इसके लिए तुम प्रायश्चित्त करो।'

'भते ! क्या भगवान् ने सत्य बात कहने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है ?'

'नही, सर्वथा नही।'

'भते ! यदि भगवान् ने सत्य बात कहने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान नही किया है तो आप ही प्रायश्चित्त करे।'

आनन्द की यह बात सुन गौतम के मन मे सन्देह उत्पन्न हो गया। वे वहा से प्रस्थान कर भगवान् महावीर के पास गए। सारी घटना भगवान् के सामने रखकर पूछा—'भते ! प्रायश्चित्त आनन्द को करना होगा या मुझे ?'

भगवान् ने कहा—'आनन्द ने जो कहा है, वह जागरण के क्षण मे कहा है। वह सही है। उसे प्रायश्चित्त करने की कोई आवश्यकता नही है। प्रमाद तुमने किया है। तुमने जो कहा, वह सही नही है, इसलिए तुम ही प्रायश्चित्त करो। आनन्द के पास जाओ, उसकी सत्यता को समर्थन दो और क्षमायाचना करो।'

गौतम तत्काल आनन्द के उपासना-गृह मे पहुचे। भगवान् के प्रधान शिष्य का आनन्द के पास जाना, उसके ज्ञान का समर्थन करना, अपने प्रमाद का प्रायश्चित्त करना और क्षमा मागना—व्यक्ति-निर्माण की दिशा मे कितना अद्भुत प्रयोग है।'[1]

भगवान् जानते थे कि असत्य के समर्थन से गौतम की प्रतिष्ठा सुरक्षित नही रह सकती। सत्यवादी आनन्द को झुठलाकर यदि गौतम की प्रतिष्ठा को बचाने का यत्न किया जाता तो गौतम का अह अमर हो जाता, उनकी आत्मा मर जाती। आत्मा का हनन भगवान् को क्षण भर के लिए भी इष्ट नही था। फिर वे क्या करते—गौतम की आत्मा को बचाते या उनके अह को ?

महावीर के धर्म का पहला पाठ है—जागरण और अंतिम पाठ है—जागरण। बीच का कोई भी पाठ जागरण की भाषा से शून्य नही है। जहा मूर्च्छा आई वहा महावीर का धर्म बिदा हो गया। मूर्च्छा और उनका धर्म—दोनो एक साथ नही चल सकते।

---

१ उवासगदसाओ, १।७९-८२।

महाशतक उपासना-गृह मे धर्म की अराधना कर रहा था। उसकी पत्नी रेवती बहुत निर्मम और निर्दय थी। उसने महाशतक को विचलित करने का प्रयत्न किया। उसकी ध्यान-धारा विच्छिन्न नही हुई। उसका साधना-क्रम अविचल रहा। कुछ दिन बाद रेवती ने फिर वैसा प्रयत्न किया। इस बार महाशतक क्रुद्ध हो गया। उसने रेवती की भर्त्सना की। क्रोध के आवेश मे कहा—'रेवती ! तुम इसी सप्ताह विशूचिका से पीड़ित होकर मर जाओगी। मृत्यु के पश्चात् तुम नरक मे जन्म लोगी।'

रेवती भयभीत हो गई। वह रोग, मृत्यु और नरक का नाम सुन घबरा गई। शब्द-ससार मे ये तीनो शब्द सर्वाधिक अप्रिय हैं। महाशतक ने एक साथ इन तीनो का प्रयोग कर दिया। वह सप्ताह पूरा होते-होते मर गई।

भगवान् महावीर राजगृह आए।[1] भगवान् ने गौतम से कहा—'उपासक महाशतक ने अपनी पत्नी के लिए अप्रिय शब्दो का प्रयोग किया है। तुम जाओ और उससे कहो—समत्व की साधना मे तन्मय उपासक के लिए अप्रिय शब्दो का प्रयोग करना उचित नही है। इसलिए तुम उसका प्रायश्चित्त करो।'

गौतम महाशतक के पास गए। भगवान् का सदेश उसे बताया। उसे अपने प्रमाद का अनुभव हुआ। उसने प्रायश्चित्त किया। अप्रमाद की ज्योति फिर प्रज्वलित हो गई।[2]

आत्मा की विस्मृति के क्षण दुर्घटना के क्षण होते है। मानवीय जीवन मे जितनी दुर्घटनाए घटित होती है, वे सब इन्ही क्षणो मे होती है।

एक बार सम्राट् श्रेणिक का अन्त पुर अविश्वास की आग से धधक उठा। सम्राट् को महारानी चेलना के चरित्र पर सन्देह हो गया। उसने क्रोध मे अभिभूत होकर अभयकुमार को अन्त पुर जलाने का आदेश दे दिया। सम्राट् निर्मम आदेश देकर भगवान् महावीर के समवसरण मे चला गया।

भगवान् ने उसके प्रमाद को देखा। भगवान् ने परिषद् के बीच कहा—'सदेह बहुत बडा आवर्त्त है। उसमे फसने वाली कोई भी नौका सुरक्षित नही रह पाती। आज श्रेणिक की नौका सन्देह के आवर्त्त मे फस गई है। उसे चेलना के सतीत्व पर सदेह हो गया है। मैं देखता हू कि कितना निर्मल, कितना अवदात और कितना उज्ज्वल चरित्र है चेलना का ! फिर भी सन्देह का राहु उसे ग्रसने का प्रयास कर रहा है।'

सम्राट् का निद्रा-भग हो गया। आखे खुल गईं। उसे अपने प्रमाद पर अनुताप हुआ। वह तत्काल राज-प्रासाद पहुचा। अन्तःपुर का वैश्वानर अप्रमाद के जल से

---

१ तीर्थंकर काल का दसवां वर्ष।

२ उवासगदसाओ, ८।४१-५०।

शान्त हो गया। सम्राट् धन्य हो गया।

आत्मा की स्मृति के क्षण जीवन की सार्थकता के क्षण होते हैं। मानवीय जीवन मे जितनी सार्थकताए निष्पन्न होती हैं, वे सब इन्ही क्षणों मे होती हैं।

भगवान् ने ध्यान के क्षणो मे अनुभव किया कि आत्मा सूर्य की भाति प्रकाशमय है, चैतन्यमय है। उसमे न जीवन है और न मृत्यु। न जीवन की आकाक्षा है और न मृत्यु का भय। देह और प्राण का योग मिलता है, आत्मा देही के रूप मे प्रकट हो जाती है, जीवित हो जाती है। देह और प्राण का सम्बन्ध टूटता है, आत्मा देह से छूट जाती है, मर जाती है।

आत्मा देह के होने पर भी रहती है और उसके छूट जाने पर भी रहती है। फिर जीवन की आकाक्षा और मृत्यु का भय क्यो होता है ? भगवान् ने इस रहस्य को देखा और बताया कि आत्मा मे आकाक्षा नही है। उसकी विस्मृति ही आकाक्षा है। आत्मा मे भय नही है। उसकी विस्मृति ही भय है। भगवान् की वह ध्वनि आज भी प्रतिध्वनित हो रही है—'सव्वओ पमत्तस्स भय'—'प्रमत्त को सब ओर से भय है।' 'सव्वओ अपमत्तस्स णत्थि भय'—'अप्रमत्त को कही से भी भय नही है।'[1]

एक बार भगवान् ने 'आर्यो ! आओ, कहकर गौतम और श्रमणो को आमन्त्रित किया। सभी श्रमण भगवान् के पास आए। भगवान् ने उनसे पूछा—'आयुष्यमान् श्रमणो ! जीव किससे डरते है ?' गौतम बोले—'भगवन् ! हम नही समझ पाए इस प्रश्न का आशय। भगवान् को कष्ट न हो तो आप ही इसका आशय हमे समझाए। हम सब जानने को उत्सुक हैं।'

'आर्यो ! जीव दु:ख से डरते है।'

'भते ! दु ख का कर्ता कौन है ?'

'जीव।'

'भते ! दु ख का हेतु क्या है ?'

'प्रमाद।

'भते ! दु ख का अन्त कौन करता है ?'

'जीव।'

'भते ! दु ख के अन्त का हेतु क्या है ?'

'अप्रमाद।'[2]

इस प्रसग मे भगवान् ने एक गम्भीर सत्य का उद्घाटन किया। भगवान् कह रहे हैं कि भय और दु.ख शाश्वत नही है। वे मनुष्य द्वारा कृत हैं। प्रमाद का क्षण ही भय की अनुभूति का क्षण है और प्रमाद का क्षण ही दु ख की अनुभूति का क्षण

१ आयारो, ३।७५।
२ ठाण ३।३३६।

है। अप्रमत्त मनुष्य को न भय की अनुभूति होती है और न दु ख की।

कामदेव अपने उपासना-गृह मे शील और ध्यान की आराधना कर रहा था। पूर्वरात्रि का समय था। उसके सामने अकस्मात् पिशाच की डरावनी आकृति उपस्थित हो गई। वह कर्कश ध्वनि मे बोली—'कामदेव! इस शील और ध्यान के पाखण्ड को छोड़ दो। यदि नही छोडोगे तो तलवार से तुम्हारे सिर के टुकड़े-टुकड़े कर डालूगा।' कामदेव अप्रमाद के क्षण का अनुभव कर रहा था। उसके मन मे न भय आया, न कम्पन और न दु:ख।

पिशाच को अपने प्रयत्न की व्यर्थता का अनुभव हुआ। वह खिसिया गया। उसने विशाल हाथी का रूप बना कामदेव को फिर विचलित करने की चेष्टा की। उसे गेंद की भाति आकाश मे उछाला। नीचे गिरने पर पैरो से रौंदा। पर उसका ध्यान भग नही कर सका।

पिशाच अब पूरा सठिया गया। उसने भयकर सर्प का रूप धारण किया। कामदेव के शरीर को डक मार-मारकर बीध डाला। पर उसे भयभीत नही कर सका। आखिर वह अपने मौलिक देवरूप मे उपस्थित हो वहा से चला गया। प्रमाद अप्रमाद से पराजित हो गया।[1]

भगवान् महावीर चपा मे आए।[2] कामदेव भगवान् के पास आया। भगवान् ने कहा—'कामदेव! विगत रात्रि मे तुमने धर्म-जागरिका की?'

'भते! की।'

'तुम्हे विचलित करने का प्रयत्न हुआ?'

'भते! हुआ।'

'बहुत अच्छा हुआ, तुम कसौटी पर खरे उतरे।'

'भते! यह आपकी धर्म-जागरिका का ही प्रभाव है।'

भगवान् ने श्रमण-श्रमणियो को आमत्रित कर कहा—'आर्यो! कामदेव गृहवासी है, फिर भी इसने अपूर्व जागरूकता का परिचय दिया है, दैविक उपसर्गों को अपूर्व समता से सहा है। इसका जीवन धन्य हो गया है। तुम मुनि हो। इसलिए तुम्हारी धर्म-जागरिका, समता, सहिष्णुता और ध्यान की अप्रकम्पता इससे अनुत्तर होनी चाहिए।'[3]

अप्रमाद शाश्वत-प्रकाशी दीप है। उससे हजार-हजारो दीप जल उठते हैं। हर व्यक्ति अपने भीतर मे दीप है। उस पर प्रमाद का ढक्कन पडा है। जिसने उसे हटाने का उपाय जान लिया, वह जगमगा उठा। वह आलोक से भर गया। आलोक

---

१ उवासगदसाओ, २।१८-४०।

२ तीर्थंकर काल का अठारहवां वर्ष।

३ उवासगदसाओ २।४५,४६।

बाहर से नही आता। वह भीतर में है। बाहर से कुछ भी नही लेना है। हम भीतर से पूर्ण हैं। हमारी अपूर्णता बाहर मे ही प्रकट हो रही है। प्रमाद का ढक्कन हट जाए, फिर भीतर और बाहर—दोनो आलोकित हो उठते है।

गौतम पृष्ठचपा से विहार कर भगवान् के पास आ रहे थे। पृष्ठचपा के राजर्षि शाल और गागलि उनके साथ थे। भगवान् के समवसरण मे बैठने की व्यवस्था होती है। सब श्रोता अपनी-अपनी परिषद् में बैठते है। शाल और गागलि केवली-परिषद् की ओर जाने लगे। गौतम ने उन्हे उधर जाने से रोका। भगवान् ने कहा—'गौतम ! इन्हें मत रोको। ये केवली हो चुके हैं।'[1]

गौतम आश्चर्यचकित रह गए—'मेरे नव-दीक्षित शिष्य केवली और मैं अकेवली। यह क्या ?' गौतम उदास हो गए। प्रमोद की तमिस्रा सघन हो गई।

कुछ दिनो बाद गौतम अष्टापद की यात्रा पर गए। कोडिन्न, दिन्न और शैवाल—तीनो तापस अपने शिष्यो के साथ उस पर चढ़ रहे थे। वे गौतम से प्रभावित होकर उनके शिष्य हो गए। गौतम उन्हे साथ लेकर भगवान् के पास आए। वे केवली-परिषद् मे जाने लगे। गौतम ने उन्हे उधर जाने से रोका। भगवान् ने कहा—'गौतम ! इन्हे मत रोको। ये केवली हो चुके हैं।'[2]

गौतम का धैर्य विचलित हो गया। वे इस घटना का रहस्य समझ नही सके। बोधिदाता अकेवली और बोधि प्राप्त करने वाले केवली। चिरदीक्षित अकेवली और नवदीक्षित केवली। यह कैसी व्यवस्था ? यह कैसा क्रम ? गौतम का मानस-सिन्धु विकल्प की ऊर्मियो से आलोडित हो गया। उनका विकल्प बोल उठा—'मैं किसे दोष दू ? मेरे भगवान् ने ईश्वर को नियता माना नही, फिर मैं उस पर पक्षपात का आरोप कैसे लगाऊ ? मेरे भगवान् भी मेरे आतरिक परिवर्तन के नियता नही हैं। इस प्रकार वे भी पक्षपात के आरोप से बच जाते है। अपने भाग्य का नियता स्वय मै हू। अपने प्रतिपक्ष या प्रति पक्ष का प्रश्न ही नही उठता। मेरे भगवान् ने व्यक्ति को असीम स्वतत्रता क्या दी है, एक अबूझ पहेली उसके सामने रख दी है। उसे सुलझाने मे वह इतना उलझ जाता है कि न किसी दूसरे पर पक्षपात का आरोप लगा पाता है और न किसी से कोई याचना कर पाता है। यह मेरा अयाचक व्यक्तित्व आज मेरे लिए समस्या बन रहा है।'

'मेरे देव ! हम सब एक ही साधना-पथ पर चल रहे हैं। फिर मेरे शिष्यो का मार्ग इतना छोटा और मेरा मार्ग न जाने कितना लम्बा है ?'

महावीर ने गौतम के मर्माहत अन्तस्तल को देखा और देखा कि उसकी मनोव्यथा पिघल-पिघलकर बाहर आ रही है। भगवान् ने गौतम को सम्बोधित

---

१. उत्तराध्ययन, सुखबोधा वृत्ति, पत्र १५४।
२. उत्तराध्ययन, सुखबोधा वृत्ति, पत्र १५५।

कर कहा—'क्या कर रहे हो ?'

'भंते ! आत्म-विश्लेषण कर रहा हूं ।'

'मेरे दर्शन मे दोष देख रहे हो या अपनी गति मे ?'

'भंते ! दूसरे में दोष देखने की आपकी अनुमति नही है, इसलिए अपनी गति का ही विश्लेषण कर रहा हूं ।'

'तुम जानते हो हर व्यक्ति अज्ञान और मोह के महासागर के इस तट पर खड़ा है ?'

'भते ! जानता हू ।'

'तुमने उस तट पर जाने का सकल्प किया है, यह स्मृति मे है न ?'

'भंते ! है ।'

'फिर उलझन क्या है ?

'भते ! उलझन यही है कि उस तट पर पहुच नही पा रहा हू ।'

भगवान् ने गौतम के पराक्रम को प्रदीप्त करते हुए कहा—

'तुम उस महासागर को बहुत पार कर चुके हो । अब तट पर आकर तुम्हारे पैर क्यो अलसा रहे हैं ? त्वरा करो पार पहुचने के लिए गौतम ! पल भर भी प्रमाद मत करो ।'[1]

भगवान् आश्वासन की भाषा मे बोले—'गौतम ! तुम अधीर क्यो हो रहे हो ? तुम चिरकाल से मेरे साथ स्नेह-सूत्र से बधे हुए हो । चिरकाल से मेरे प्रशसक हो । चिरकाल से परिचित हो । चिरकाल से प्रेम करते रहे हो । चिरकाल से अनुगमन करते रहे हो । चिरकाल से अनुकूल बर्तते रहे हो ।'

'इससे पहले जन्म मे मैं देव था, उस समय तुम मेरे साथ थे । मनुष्य जन्म मे भी तुम मेरे साथ हो । मेरा और तुम्हारा सम्बन्ध चिरपुराण है । भविष्य मे इस देह-मुक्ति के बाद हम दोनो तुल्य होगे । मेरा और तुम्हारा अर्थ भिन्न नही होगा, प्रयोजन भिन्न नही होगा, क्षेत्र भिन्न नही होगा । हम दोनों मे पूर्ण साम्य होगा, कोई भी नानात्व नही होगा । यह सब स्वल्प काल मे ही घटित होने वाला है । फिर तुम खिन्न क्यो होते हो ? तुम जागरूक रहो, पल भर भी प्रमाद मत करो ।'[2]

भगवान् के आश्वासन से गौतम मे नव-चेतना का सचार हो गया । वे चिन्ता से मुक्त हो पुन. अप्रमाद के क्षण मे आ गए । फिर भी उनके अतल मे उभरती जिज्ञासा समाहित नही हुई । चेतना के विकास का पथ छोटा और लम्बा क्यो

---

१ उत्तरज्झयणाणि १०।३४ :

तिण्णो हु सि अण्णव मह, कि पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।

अभितुर पार गमित्तए, समय गोयम ! मा पमायए ।।

२. भगवई १४।७७ ।

होता है—इस प्रश्न मे उनका मन अब भी उलझ रहा था। उन्होंने अपनी उलझन भगवान् के सामने रखी। भगवान् ने उसका समाधान दिया। वह समाधान महान् आत्मा द्वारा दिया हुआ आत्मा के उदय का महान् सदेश है। उसका छोटा-सा चित्र इन रेखाओं मे आलेखित होता है—

अचेतन जगत् को नियम की शृंखला मे बाधा जा सकता है, एक साचे मे ढाला जा सकता है। चेतन जगत् नियमन करने वाला है। उसमे चेतना की स्वतत्रता है। उसके चैतन्य-विकास के अनन्त स्तर हैं। उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की असख्य धाराए हैं। फिर अचेतन की भाति उसे कैसे किया जा सकता है नियमबद्ध और कैसे दिया जा सकता है उसे ढलने के लिए एक साचा ? जहा आन्तरिक परिवर्तन की स्वतत्रता है, पूर्ण स्वतन्त्रता है, दिशा और गति की स्वतत्रता है, किसी का हस्तक्षेप नही है, वहा मार्ग छोटा और लम्बा होगा ही। यदि ऐसा न हो तो स्वतन्त्रता का अर्थ ही क्या ? सबके लिए एक ही गति से चलना अनिवार्य हो तो फिर स्वतन्त्रता और परतत्रता के बीच भेदरेखा कहा खीची जाए ?

भगवान् ने रहस्य को अनावृत करते हुए कहा—'गौतम ! इन नव-दीक्षित श्रमणो का साधना-पथ छोटा नही है। ये द्रुतगति से चले। इन्होने स्नेह-सूत्र को तत्परता से छिन्न कर डाला। इसलिए ये अपने लक्ष्य पर जल्दी पहुच गए।

'तुम अभी स्नेह-सूत्र को छिन्न नही कर पाए हो। तुम्हारी आसक्ति का धागा मेरे शरीर मे उलझ रहा है। तुम जानते हो कि स्नेह का बधन कितना सूक्ष्म और कितना जटिल होता है। काठ को भेद देने वाला मधुकर कमल-कोश मे बन्दी बन जाता है। तुम इस बधन को देखो और देखते रहो। एक क्षण आएगा कि तुम देखोगे अपने मे प्रकाश ही प्रकाश। सब कुछ आलोकित हो उठेगा। कितना अद्भुत होगा वह क्षण !'

भगवान् की निर्मल वाणी का सिचन पा गौतम का मन प्रफुल्ल हो उठा। उनके तप पूत मुख पर प्रसन्नता की लहर दौड गई। आखो मे ज्योति भर गई। वे सर्वात्मना स्वस्थ हो गए। उन्हे स्वप्न के बाद फिर जागृति का अनुभव होने लगा। उन्होने सोचा—भगवान् ने जो कहा—'गौतम ! पलभर भी प्रमाद मत करो'—इसका रहस्य क्या है ? इसका दर्शन क्या है ? क्या पलभर का प्रमाद इतना भयानक होता है, जिसके लिए भगवान् को मुझे चेतावनी देनी पडे ? क्या पल-भर का प्रमाद सारे अप्रमाद को लील जाता है ? मुझे इस जिज्ञासा का समाधान पाना ही होगा।

गौतम ने अपनी जिज्ञासा भगवान् के सामने रख दी। भगवान् ने पूछा—'तुमने दीप को देखा है ?'

'भते ! देखा है।'

'दीप जलता है, तब क्या होता है ?'

'भंते ! अधकार के परमाणु तैजस मे बदल जाते हैं। कमरा प्रकाशमय बन जाता है।'

'वह कब तक प्रकाशमय रहता है ?'

'भते ! जब तक दीप जलता रहे।'

'एक पल के लिए भी दीप बुझ जाए तब क्या होता है ?'

'भते ! तैजस के परमाणु अधकार मे बदल जाते हैं। कमरा अधकारमय हो जाता है।'

'क्या यह एक पल मे ही घटित हो जाता है ?'

भते ! दीप का बुझना और अधकार का होना एक ही घटना है। इसमें अतराल नही है।'

'गौतम ! मैं यही कहता हू कि जागरण का दीप जिस क्षण बुझता है, उसी क्षण चित्तभूमि मे अधकार छा जाता है।'

'भते ! जागरण के क्षण मे क्या होता है ?'

'अधकार प्रकाश मे बदल जाता है।'

'भते ! क्या मनुष्य का कृत बदलता है ?'

'मनुष्य जागरण के क्षण मे होता है तब चित्त आलोकित हो उठता है। साथ-साथ पुण्य के सस्कार प्रबल होकर पाप के परमाणुओ को पुण्य मे बदल डालते हैं। यह है पाप का पुण्य मे सक्रमण। यह है कृत का परिवर्तन।'

'भते ! प्रमाद के क्षण मे क्या होता है ?'

'प्रमाद के क्षण मे मनुष्य का चित्त अन्धकार से आच्छन्न हो जाता है। साथ-साथ पाप के सस्कार प्रबल होकर पुण्य के परमाणुओ को पाप मे बदल डालते है। यह है पुण्य का पाप मे सक्रमण। यह है कृत का परिवर्तन।'

'भते ! यह बहुत ही आश्चर्यकारी घटना है। यह कैसे सम्भव हो सकती है ?'

'यह सम्भव है। इसी मे हमारे पराक्रम की सार्थकता है। यह हमारे पुरुषार्थ की नियति है। इसे कोई टाल नही सकता। इसीलिए मैं कहता हू—अप्रमाद की ज्योति को अखण्ड रहने दो। ध्यान रखो, यह पलभर के लिए भी बुझ न पाए।'

३१

चक्षुदान

भगवान् ज्योतिपुज थे। उनके सम्पर्क मे आ नए-नए दीप प्रज्वलित हो रहे थे और बुझते दीप फिर ज्योति प्राप्त कर रहे थे।

दीप का जलना और बुझना सामान्य प्रकृति है। भगवान् इसे पसन्द नही करते थे। उनकी भावना थी कि चेतना का दीप जले, फिर बुझे नही। वह सतत जलता रहे और जलते-जलते उस बिन्दु पर पहुच जाए, जहा बुझने की भाषा ही नही है।

मेघकुमार सम्राट् श्रेणिक का पुत्र था। वह भगवान् की सन्निधि मे गया। उसकी सुप्त चेतना जाग उठी। उसकी चेतना का प्रवाह ऊर्ध्वमुखी हो गया। ढक्कन से ढका हुआ दीप हजारो-हजारो विवरो से ज्योति विकीर्ण करने लगा। वह सतत प्रज्वलित रहने की दिशा मे प्रस्तुत हुआ। हमारी भाषा मे मुनि बन गया।

दिन जागृति मे बीता। रात नीद मे। आंखो मे नीद नही आई। वह चेतना के दीप पर छा गई। चक्षु-दीप पर छाने वाली नीद सूर्योदय के साथ टूट जाती है। पर चेतना के दीप पर छा जाने वाली नीद नही टूटती है—हजारो-हजारो दिन आने पर भी और हजारो-हजारो सूर्योदय हो जाने पर भी। नीद के क्षणो मे मेघकुमार की चेतना का प्रवाह अधोमुखी हो गया। वह भगवान् के पास आया। भगवान् ने देखा, उसका चेतना-दीप बुझ रहा है। भगवान् बोले—'मेघ ! तुम अपनी जागृत चेतना को लौटाने मेरे पास आए हो। क्यो, यह सही है न ?'

'भंते ! कुछ ऐसा ही है।'

'मेघ ! तुम्हारी स्मृति खो रही है। तुम हाथी के जन्म मे जागृति की दिशा में बढे थे और अब मनुष्य होकर, मगध सम्राट् के पुत्र होकर, सुषुप्ति की दिशा मे जाना चाहते हो, क्या यह तुम्हारे लिए उचित होगा ?'

भगवान् की बात सुन मेघकुमार का मानस आन्दोलित हो गया। वह चित्त की गहराइयो मे खो गया। उसे कुछ विलक्षण-सा अनुभव होने लगा। ऐसा होना जरूरी था। उसके मानस को आश्चर्य मे डाले बिना, आन्दोलित किए बिना, उसे मोड देना सम्भव नही था। चेतना-जागरण के रहस्यो को जानने वाले ऐसा कर व्यक्ति को खोज की यात्रा मे प्रस्थित कर देते हैं। मेघकुमार प्रस्तुत को भूल गया। जो बात भगवान को कहने आया था, वह उसके हाथ से छूट गई। उसके मन में जिज्ञासा के नए अकुर फूट पड़े। उसकी भीतरी खोज प्रारम्भ हो गई। उसके मानवीय पर्याय पर हाथी का पर्याय आरोहण कर गया।

'भते ! मैं पिछले जन्म मे हाथी था ?' मेघ ने जिज्ञासा की।

भगवान् ने बताया—'मेघ, तुम अतीत की दिशा में प्रयाण करो और देखो। इससे तीसरे जन्म मे तुम हाथी थे—विशाल और सुन्दर। तुम वैताढ्य पर्वत की उपत्यका के वन मे रहते थे। ग्रीष्म ऋतु का समय था। वृक्षो के सघर्षण से आग उठी। तेज हवा का सहारा पा वह प्रदीप्त हो गयी। देखते-देखते पोले पेड गिरने लगे। वनात प्रज्वलित हो उठा। दिशाए धूमिल हो गईं। चारो ओर अरण्य पशु दौडने लगे। उस समय तुम भी अपने यूथ के साथ दौडे। तुम्हारा यूथ आगे निकल गया। तुम बूढे थे, इसलिए पिछड गए। दिशामूढ हो दूसरी दिशा मे चले गए। तुमने एक सरोवर देखा। तुम पानी पीने के लिए उसमे उतरे। उसमे पानी कम था, पक अधिक। तुम तीर से आगे चले गए, पानी तक पहुंचे नही, बीच मे ही पक मे फस गए। तुमने पानी पीने के लिए सूड को फैलाया। वह पानी तक नही पहुच सकी। तुमने पक से निकलने का तीव्र प्रयत्न किया। तुम निकले नही, और अधिक फस गए। उस समय एक युवा हाथी वहां आया। वह तुम्हारे ही यूथ का था। तुम ने उसे दत-प्रहार से व्यथित कर यूथ से निकाला था। तुम्हे देखते ही उसमे क्रोध का उफान आ गया। वह तुम्हे दत-प्रहार से घायल कर चला गया। तुम एक सप्ताह तक कष्ट से कराहते रहे। वहा से मरकर तुमने गगा नदी के दक्षिणी कूल पर विन्ध्य पर्वत की तलहटी मे फिर हाथी का जन्म लिया। वनचरो ने तुम्हारा नाम रखा मेरुप्रभ।

'एक बार वन मे अकस्मात् दावानल भडक उठा। तुम अपने यूथ के साथ वन से भाग गए। दावानल ने तुम्हारे मन में विचित्र-सा कम्पन पैदा कर दिया। तुम उस गहरे आघात की स्थिति मे स्मृति की गहराई मे उतर गए। तुम्हें वह दावानल अनुभव किया हुआ-सा लगा। तुम अनुभव की यात्रा पर निकल गए। आखिर पहुच गए। पूर्वजन्म की स्मृति हो गई। वैताढ्य के वन का दावानल आंखों के सामने साकार हो गया।

'तुमने अतीत की स्मृति का लाभ उठा एक मंडल बनाया। उसे सर्वथा वनस्पति-विहीन कर दिया। एक बार फिर दावाग्नि से वन जल उठा। पशु पलायन कर उस

मडल मे एकत्र होने लगे। तुम भी अपने यूथ के साथ उस मंडल मे आ गए। देखते-देखते वह मडल पशुओं से भर गया। अग्नि के भय से सत्रस्त होकर वे सब वैर-विरोध को भूल गए। समूचा मंडल मैत्री-शिविर जैसा हो गया। उसमे सिंह, हिरन, लोमड़ी और खरगोश—सब एक साथ थे। उसमे पैर रखने को भी स्थान खाली नहीं रहा।

'तुमने खुजलाने को पैर ऊचा उठाया। उसे नीचे रखते समय पैर के स्थान पर खरगोश को बैठे देखा। तुम्हारे मन मे अनुकम्पा की लहर उठी। तुमने अपना पैर बीच मे ही रोक लिया। उस अनुकम्पा से तुमने मनुष्य होने की योग्यता अर्जित कर ली।

'दो दिन-रात पूरे बीत गए। तीसरे दिन दावानल शान्त हुआ। पशु उस मंडल से बाहर निकल जगल मे जाने लगे। वह खरगोश भी चला गया। तुम्हारा पैर अभी अतराल मे लटक रहा था। तुमने उसे धरती पर रखना चाहा। तुम तीन दिन से भूखे और प्यासे थे। बूढे भी हो चले थे। पैर अकड गया था। जैसे ही पैर को नीचे रखने का प्रयत्न किया, तुम लुढक कर गिर पडे, मानो बिजली के आघात से रजत-गिरि का शिखर लुढक पडा हो। तीन दिन-रात तुम घोर वेदना को झेलते रहे। वहा से मरकर तुम श्रेणिक के पुत्र और धारिणी देवी के आत्मज बने।

'मेघ! जब तुम तिर्यञ्च योनि मे थे, सम्यग्दर्शन तुम्हे प्राप्त नही था, तब तुमने खरगोश की अनुकम्पा के लिए ढाई दिन तक पैर को अतराल मे उठाए रखा। उस कष्ट को कष्ट नही माना। तुम्हारा कष्ट अहिंसा के प्रवाह मे बह गया। अब तुम मनुष्य हो, सम्यग्दर्शन तुम्हे प्राप्त है, ज्योति-शिखा तुम्हारे हाथ मे है, फिर अमा की अधियारी ने कैसे तुम्हारी आखो पर अधिकार कर लिया? कैसे तुम थोडे से कष्ट से अधीर हो गए? श्रमणो का चरण-स्पर्श कैसे तुम्हे असह्य हो गया? उनकी किंचित् उपेक्षा कैसे तुम्हारे लिए सिरशूल बन गई?'

मेघकुमार की स्मृति पर भगवान् ने इतना गहरा आघात किया कि उसकी स्मृति का द्वार खुल गया। अतीत के गहरे मे उतरकर उसने पंक मे खडे हाथी को देखा और दर्शन की शृखला मे यह भी देखा कि श्वेतहस्ती पैर को अधर मे लटकाए खडा है। वह स्तब्ध रह गया। उसका मानस-तत्र मौन, वाणी-तंत्र अवाक् और शरीर-तत्र निश्चेष्ट हो गया। वह प्रस्तर-प्रतिमा की भाति स्थिर-शान्त खडा रहा। दो क्षण तक सारा वातावरण नीरवता से भर गया। सब दिशाए मौन के अतल मे डूब गईं। सब कुछ शान्त, प्रशान्त और उपशान्त।

भगवान् ने मौन-भग करते हुए कहा—'बोलो मेघ! क्या चाहते हो?'

'भते! आपकी शरण चाहता हूं, और कुछ नही चाहता।'

'मूर्च्छा मे तो नही कह रहे हो?'

'भते! प्रत्यक्ष दर्शन के बाद मूर्च्छा कहां?'

'तो अटल है तुम्हारा निश्चय ?'

'भंते ! अब टलने को अवकाश ही कहां है ? आपने बाहर जाने का दरवाजा ही बंद कर दिया।'

भगवान् ने मेघ को अर्थभरी दृष्टि से देखा। वह धन्य हो गया। उसकी चेतना अपने अस्तित्व में लौट आई।[1] उसका हृदय-कोश शाश्वत ज्योति से जगमगा उठा। वह मन ही मन गुनगुनाने लगा—

'बहुत लोग नहीं जानते—
मैं पूरब से आया हूं कि पश्चिम से ?
दक्षिण से आया हूं या उत्तर से ?
दिशा से आया हूं या विदिशा से ?
ऊपर से आया हूं या नीचे से ?
भगवान् ने मुझे ढकेला अतीत के गहरे में,
मैं देख आया हूं, मेरा पहला पड़ाव।
भंते ! वह द्वार भी खोल दो,
मैं देख आऊं मेरा अगला पड़ाव।'[2]

१. णायाधम्मकहाओ, १।१५२-१५४।
२ आयारो, १।१-३।

३२

समता के तीन आयाम

हमारे जगत् का मूल एक है या अनेक ? एकता मौलिक है या अनेकता ? दृश्य जगत् बिम्ब है या प्रतिबिम्ब ? ये प्रश्न हजारो-हजारो वर्षों से चर्चित होते रहे है। इनमे से दो प्रतिप्रत्तिया मुख्य है—एक अद्वैत की और दूसरी द्वैत की। वेदान्त की प्रतिपत्ति यह है कि जगत् का मूल एक है। वह चेतन, सर्वज्ञ और सर्वेश्वर है। उसकी सज्ञा ब्रह्म है। एकता मौलिक है, अनेकता उसका विस्तार है। हमारा जगत् प्रतिबिम्ब है। बिम्ब एक ब्रह्म ही है। एक सूर्य हजारो जलाशयो मे प्रतिबिम्बित होकर हजार बन जाता है। प्रातःकाल सूर्य की रश्मिया दूर-दूर फैलती है, साझ के समय वे सूर्य की ओर लौट आती हैं। यह जगत् ब्रह्म की रश्मियो का फैलाव है। यह लौटकर उसी मे विलीन हो जाता है।

साख्य की प्रतिपत्ति यह है कि जगत् के मूल मे दो तत्त्व है—प्रकृति और पुरुष (आत्मा)। प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन। पुरुष अनेक है, इसीलिए एकता मौलिक नही है। चेतन और अचेतन मे बिम्ब और प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध नही है।

महावीर की प्रतिपत्ति इन दोनो प्रतिपत्तियो से भिन्न है। उनका दर्शन है कि विश्व का कोई भी तत्त्व या विचार दूसरो से सर्वथा भिन्न नही है। इस अर्थ मे उनकी प्रतिपत्ति दोनो से अभिन्न भी है। महावीर ने बताया कि अस्तित्व एक है। उसमें चेतन और अचेतन का विभाजन नही है। उसमे केवल होना ही है। वहा होने के साथ कोई विशेषण नही जुडता। जहा केवल होना है, कोरा अस्तित्व है, वहा पूर्ण अद्वैत है। अस्तित्व की एकता के बिन्दु पर महावीर ने अद्वैत का प्रतिपादन किया। विश्व मे केवल अस्तित्व की क्रिया होती तो यह जगत् होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। पर उसमे अनेक क्रियाए और उनकी पृष्ठभूमि मे रहे हुए अनेक गुण हैं। एक तत्त्व मे चैतन्यगुण और उसकी क्रिया मिलती है। दूसरे तत्त्व में वह

गुण और उसकी क्रिया नहीं मिलती। गुण और क्रिया की विलक्षणता के बिन्दु पर महावीर ने द्वैत का प्रतिपादन किया। महावीर न द्वैतवादी हैं और न अद्वैतवादी। वे द्वैतवादी भी हैं और अद्वैतवादी भी हैं। उनके दर्शन में विश्व का मूल एक भी है और अनेक भी है। अस्तित्व जैसे व्यापक गुण की दृष्टि से देखें तो एकता मौलिक है। चैतन्य जैसे विलक्षण गुण की दृष्टि से देखें तो अनेकता मौलिक है। निष्कर्ष की भाषा मे कहे तो एकता भी मौलिक है और अनेकता भी मौलिक है।

महावीर के दर्शन मे अनन्त परमाणु है और अनन्त आत्माए। प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा बिम्ब है। हर बिम्ब का अपना-अपना प्रतिबिम्ब है। गुण का स्थायीभाव बिम्ब है और उसकी गतिशीलता प्रतिबिम्ब है।

महावीर ने इस दर्शन की भूमि मे साधना का बीज बोया। अचेतन के सामने साधना का कोई प्रश्न नही है। उसका होना और गतिशील होना—दोनो प्राकृतिक नियमों से होते हैं। ज्ञानपूर्वक कुछ नही होता। चेतन का होना प्राकृतिक नियम से जुडा हुआ है किन्तु उसकी गतिशीलता प्राकृतिक नियम से सचालित नही होती। वह ज्ञानपूर्वक बदलता है—जो होना चाहता है उस दिशा मे प्रयाण करता है। यही है उसकी साधना। मनुष्य का ज्ञान विकसित होता है इसलिए वह विकास के चरम-बिन्दु पर पहुचना चाहता है। उसके सामने चेतना की दो भूमिकाए हैं—एक द्वन्द्व की और दूसरी द्वन्द्वातीत। जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख, मान और अपमान, हर्ष और विषाद जैसे असख्य द्वन्द्व हैं। ये मन पर आघात करते रहते हैं। उसमें मन का सतुलन बिगड जाता है। वह विषम हो जाता है।

द्वन्द्व के आघात से बचने के लिए महावीर ने समता की साधना प्रस्तुत की। उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म का नाम है—समता धर्म, सामायिक धर्म। इसके दो अर्थ हैं—

१ प्राणी-प्राणी के बीच मे समता की खोज और अनुभूति।

२ द्वन्द्वो के दोनो तटो के बीच मे मानसिक समता के पुल का निर्माण।

समता का विकास मैत्री, अभय और सहिष्णुता—इन तीन आयामों मे होता है। जिस व्यक्ति मे प्रतिकूल परिस्थिति को सहन करने की क्षमता जागृत नही होती, वह अभय नही हो सकता और भयभीत मनुष्य मे मैत्री का विकास नही हो सकता। जिसमे अनुकूल परिस्थिति को सहन करने की क्षमता जागृत नही होती, वह गर्व से उन्मत्त होकर दूसरो मे भय और अमैत्री का सचार करता है। तीनो आयामो मे विकास करने पर ही समता स्थायी होती है।

समता एक आयाम मे विकसित नही होती। यह होता है कि हम किसी व्यक्ति को मैत्री के आयाम मे अधिक गतिशील देखते हैं, किसी को अभय के आयाम मे और किसी को सहिष्णुता के आयाम मे। इनमे से एक के होने पर शेष दो का होना अनिवार्य है। समता के होने पर इन तीनो का होना अनिवार्य है। इन तीनों का

होना ही वास्तव मे समता का होना है।

१. मैत्री का आयाम

कालसौकरिक[1] राजगृह का सबसे बड़ा कसाई था। उसके कसाईखाने मे प्रति-दिन सैकडों भैसे मारे जाते थे। एक दिन सम्राट् श्रेणिक ने कहा, 'कालसौकरिक ! तुम भैसो को मारना छोड दो। मैं तुम्हें प्रचुर धन दूगा।'

कालसौकरिक को सम्राट् का प्रस्ताव पसन्द नही आया। भैसो को मारना अब उसका धन्धा ही नही रहा, वह एक सस्कार बन गया। उन्हे मारे बिना कालसौकरिक को दिन सूना-सूना-सा लगता। उसने सम्राट् के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। सम्राट् ने इसे अपना अनादर मान कालसौकरिक को अन्धकूप मे डलवा दिया। एक दिन-रात वही रखा।

श्रेणिक ने भगवान् महावीर से निवेदन किया—'भते ! मैंने कालसौकरिक से भैसे मारने छुडवा दिए हैं।'

'श्रेणिक ! यह सम्भव नही है।'

'भते ! वह अन्धकूप मे पड़ा है। वह भैसो को कहा से मारेगा ?'

'उसका हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है, फिर वह अपने प्रगाढ़ सस्कार को दड-बल से कैसे छोड सकेगा ?'

'तो क्या भगवान् यह कहते हैं कि उसने अन्धकूप मे भी भैसो को मारा है ?'

'हां, मेरा आशय यही है।'

'भते ! यह कैसे सम्भव है ?'

'क्या उस अन्धकूप मे गीली मिट्टी नही है ?'

'वह है, भते !'

'उस मिट्टी का भैसा नही बनाया जा सकता ?'

'भते ! बनाया जा सकता है।'

'इसीलिए मैं कहता हू कि कालसौकरिक दिन-भर भैसो को मारता रहा है।'

सम्राट् इस सत्य को समझ गया कि दण्ड-बल से हिंसा नही छुडाई जा सकती। वह हृदय-परिवर्तन से ही छूटती है। सम्राट् ने अन्धकूप के पास जाकर मरे हुए भैसो को देखा और देखा कि कालसौकरिक के क्रूर हाथ अब भी उन्हे मारने मे लगे हुए हैं। सम्राट् ने उसे मुक्त कर दिया।

कुछ वर्षों बाद कालसौकरिक मर गया। यह दुनिया बहुत विचित्र है। इसमें कोई भी प्राणी अमर नही होता। एक दिन मारने वाला भी मर जाता है। लोगो ने सुना कि कालसौकरिक मर गया। परिवार के लोग आए और उसका दाह-

---

१. आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १६८ आदि।

सस्कार कर दिया।

सुलस कालसौकरिक का पुत्र था। परिवार के लोगो ने उससे पिता का पद सभालने का अनुरोध किया। सुलस ने उसे ठुकरा दिया। 'मैं कसाई का धन्धा नही कर सकता'—उसने स्पष्ट शब्दो मे अपनी भावना प्रकट कर दी।

परिवार के लोग बडे असमजस मे पड गए। सारा काम ठप्प हो गया। उन्होने फिर अनुरोध किया। सुलस ने विनम्र शब्दो मे कहा—'मुझे जैसे मेरे प्राण प्रिय हैं, वैसे ही दूसरो को अपने प्राण प्रिय हैं। फिर मैं अपने प्राणो की रक्षा के लिए दूसरो के प्राण कैसे लूट सकता हू ?'

स्वजन-वर्ग ने प्राणी-हिंसा मे होने वाले पाप के विभाजन का आश्वासन दिया। उन्होने एक भैसे को मारकर कार्य प्रारम्भ करने का अनुरोध किया। सुलस ने अपने पिता के कुठार को हाथ मे उठाया। स्वजन-वर्ग हर्ष से झूम उठा। सुलस ने सामने खडे भैसे को करुणापूर्ण दृष्टि से देखा और कुठार अपनी जघा पर चलाया। वह मूच्छित होकर गिर पडा। जघा से रक्त की धार बह चली। थोडी देर बाद वह सावचेत हुआ। वह करुणापूर्ण स्वर मे बोला—'बधुओ ! यह घाव मुझे पीड़ित कर रहा है। कृपया आप मेरी पीडा को बटाए, जिससे मेरी पीडा कम हो।' स्वजन-वर्ग ने खिन्न मन से कहा—'यह कैसे हो सकता है ? पीडा को कैसे बाटा जा सकता है ?' सुलस बोल उठा—'आप लोग मेरी पीड़ा का विभाग भी नही ले सकते तब मेरे पाप का विभाग कैसे ले सकेंगे ? मैं इस हिंसा को नही चला सकता, भले फिर यह पैतृकी हो। क्या यह आवश्यक है कि पिता अन्धा हो तो पुत्र भी अन्धा होना चाहिए।'

२ अभय का आयाम

अर्जुन मालाकार आज बडी तत्परता से अपनी पुष्पवाटिका मे पुष्प चुन रहा है। बधुमती छाया की भाति उसके पीछे चल रही है। उनका मन बहुत उत्फुल्ल है। राजगृह के कण-कण मे उत्सव अठखेलिया कर रहा है। उसका हर नागरिक सुरभि-पुष्पो के लिए लालायित हो रहा है। 'आज पुष्पो का विक्रय प्रचुर मात्रा मे होगा'—इस कल्पना ने अर्जुन के हाथो और पैरो मे होड उत्पन्न कर दी। थोड़े समय मे ही चारो करडक पुष्पो से भर गए। मालाकार-दपति पुलकित हो उठा।

अर्जुन पुष्पवाटिका मे पुष्प चुनकर यक्ष की पूजा करने जाया करता था। मुद्गरपाणि उस प्रदेश का सुप्रसिद्ध यक्ष है। उसका आयतन पुष्पवाटिका से सटा हुआ है। अर्जुन यक्ष का भक्त है। यह भक्ति उसे वश-परम्परा से प्राप्त है।

राजगृह मे ललिता नाम की एक गोष्ठी थी। उसके सदस्य गोष्ठिक कहलाते थे। उस दिन छह गोष्ठिक पुरुष यक्षायतन मे क्रीडा कर रहे थे। अर्जुन अपनी

नित्य-चर्या के अनुसार यक्ष को पुष्पांजलि अर्पित करने के लिए यक्षायतन में प्रविष्ट हुआ। वह नही जानता था कि आज नियति ने उसके लिए पहले से ही कोई चक्र-व्यूह रच रखा है।

गोष्ठिक पुरुषो ने अर्जुन के पीछे बधुमती को आते देखा। उनकी काम-वासना जागृत हो गई। वे यक्षायतन के प्रकोष्ठ मे छिप गए। मालाकार पुष्पांजलि-अर्पण के लिए नीचे झुका। उस समय छहो पुरुष बाहर निकले और मालाकार को कस-कर बांध दिया। अब बधुमती अरक्षित थी। मालाकार का शरीर बधा हुआ था, किन्तु उसकी आखे मुक्त थी और उससे भी अधिक मुक्त था उसका मन। गोष्ठिको द्वारा बधुमती के साथ किया गया अतिक्रमण वह सहन नही कर सका। वह भावुकता के चरम बिन्दु पर पहुंचकर बोला—'मुद्गरपाणि ! मैं तुम्हारी इस काष्ठ प्रतिमा से प्रवचित हुआ हू। मैने व्यर्थ ही शत-शत कार्षापणो के पुष्प इसके सामने चढाए हैं। यदि तुम यहा होते तो क्या तुम्हारे सामने यह दुर्घटना घटित होती ?' वह भावना के आवेश मे इतना बहा कि अपनी स्मृति खो बैठा। अकस्मात् एक तेज आवाज हुई। मालाकार के बधन टूट गए। उसका आकार विकराल हो गया। उसने मुद्गर उठाया और सातो को मौत के घाट उतार दिया। उसका आवेश अब भी शान्त नही हुआ।

अर्जुन की पुष्पवाटिका राजगृह के राजपथ के सन्निकट थी। उधर लोगो का आवागमन चलता था। पर यक्षायतन मे घटित घटना का किसी को पता नही चला। मालाकार ने दूसरे दिन फिर सात पथिको (छह पुरुष और एक स्त्री) की हत्या कर डाली। इस घटना से नगर मे आतक फैल गया। नगर के आरक्षिको ने अनेक प्रयत्न किए पर उस पर नियत्रण नही पा सके।

सात मनुष्यो की हत्या करना अर्जुन का दैनिक कार्यक्रम बन गया। महाराज श्रेणिक के आदेश से राजगृह मे यह घोषणा हो गई—'मुद्गरपाणि-यक्षायतन की दिशा मे कोई व्यक्ति न जाए।' इस घोषणा के साथ राजपथ अवरुद्ध हो गया। फिर भी कुछ भूले-भटके लोग उधर चले जाते और मालाकार के शिकार बन जाते। सात मनुष्यो की हत्या का यह सिलसिला लम्बे समय तक चलता रहा। छह गोष्ठिको के पाप का प्रायश्चित्त न जाने कितने निरपराध लोगो को करना पड़ा।

जिस राजगृह का भगवान् अभय का पाठ पढा रहे थे, जहा भगवान् की अहिंसा सुरसरिता की भाति सतत प्रवाहित हो रही थी, जिसका कण-कण श्रद्धा और सयम की सुधा से अभिषिक्त हो रहा था, वह नगर आज भय से सत्रस्त, हिंसा से आतकित और सन्देह से उत्पीडित हो रहा था। यह महावीर के लिए चुनौती थी। यह चुनौती थी उनकी अहिंसा को, उनकी सकल्प-शक्ति को और उनके धर्म की समग्र धारणा को। भगवान् ने इस चुनौती को झेला। वे राजगृह पहुचे और गुणशीलक चैत्य मे ठहर गए। राजगृह के नागरिको को भगवान् के आगमन का

पता लग गया। पर कौन जाए ? कैसे जाए ? भगवान् महावीर और राजगृह के बीच मे दिख रहा था सबको अर्जुन और उसका प्राणघाती मुद्गर। जनता के मन मे उत्साह जागा पर समुद्र के ज्वार की भांति पुन समाहित हो गया।

सुदर्शन का उत्साह शान्त नहीं हुआ। उसने भगवान् की सन्निधि में जाने का निश्चय कर लिया। उसकी विदेह-साधना बहुत प्रबल थी। वह मौत के भय से अतीत हो चुका था। उसने अपने माता-पिता से कहा—

'अम्ब-तात ! भगवान् महावीर गुणशीलक चैत्य मे पधार गए हैं।'

'वत्स ! हमने भी सुना है जो तुम कह रहे हो।'

'अब हमारा क्या धर्म है ?'

'हमारा धर्म है भगवान् की सन्निधि मे उपस्थित होना। किन्तु ··'

'अब-तात ! भय के साम्राज्य मे किन्तु का अन्त कभी नही होगा।'

'क्या जीवन का कोई मूल्य नही है ?'

'धर्म का मूल्य उससे बहुत अधिक है। अल्पमूल्य का बलिदान कर यदि मैं बहुमूल्य को बचा सकू तो मुझे प्रसन्नता ही होगी।'

'वत्स ! अभी मगध सम्राट् श्रेणिक भी भगवान् की सन्निधि मे नही पहुचे हैं, तब हमे क्यो इतनी चिन्ता मोल लेनी चाहिए ?'

'यह चिन्ता का प्रश्न नही है, यह धर्म का प्रश्न है। यह सत्ता का प्रश्न नही है, यह श्रद्धा का प्रश्न है। क्या श्रद्धा के क्षेत्र मे मेरा स्थान सम्राट् से अग्रिम पक्ति मे नही हो सकता ?'

'क्यो नही हो सकता ?'

'फिर आप सम्राट् की ओट मे मुझे क्यो रोकना चाहते हैं ?'

'अच्छा वत्स ! तुम भगवान् की शरण मे जाओ। तुम्हारा कल्याण हो। निर्विघ्न हो तुम्हारा पथ।'

सुदर्शन माता-पिता का आशीर्वाद ले घर से चला। मित्रो ने एक बार फिर रोका और टोका उन सबने, जिन्हे इस बात का पता चला। पर सत्याग्रही के पैर कब रुक सके है ? उसके पैर जिस दिशा मे उठ जाते हैं, वे मजिल तक पहुचे बिना रुक नही पाते। सुदर्शन अपने लक्ष्य की ओर आगे बढा। वह अकेला था। उसके साथ था केवल श्रद्धा का बल। वह प्रतोली-द्वार तक पहुचा। आरक्षिक ने उसे रोककर पूछा—

'कहां जाना चाहते हो ?'

'गुणशीलक चैत्य मे।'

'किसलिए ?'

'भगवान् महावीर की उपासना के लिए।'

'बहुत अच्छा। किन्तु श्रेष्ठिपुत्र ! इस राजपथ से जाना क्या मौत को निमंत्रण

देना नही है ?'

'हो सकता है, किन्तु मैं मौत को निमन्त्रित करने नही जा रहा हू।'

'यह राजपथ राजाज्ञा द्वारा अवरुद्ध है, आपको पता होगा ?'

'हा, मुझे मालूम है। पर मैं जिस उद्देश्य से जा रहा हू, वह अबाधित है। जिसका सबको भय है, उससे मैं भयभीत नही हू, फिर यह राजपथ मेरे लिए क्यो अवरुद्ध होगा ?'

आरक्षिक इसके उत्तर की खोज मे लग गया। सुदर्शन के पैर आगे बढ गए। सुनसान राजपथ ने सुदर्शन के प्रत्येक पद-चाप को ध्यान से सुना। उसमे न कोई धडकन थी, न आवेग और न विचलन। सुदर्शन राजपथ के कण-कण को ध्यान से देखता जा रहा था। पर उसे सर्वत्र दिखाई दे रहा था महावीर का प्रतिबिब। वह सुन रहा था पग-पग पर महावीर का सिंहनाद।

राजपथ के आसपास अर्जुन घूम रहा था। लग रहा था जैसे काल की छाया घूम रही हो। उसने सुदर्शन को आते देखा। उसे लगा जैसे कोई बलि का बकरा आ रहा है। वह सुदर्शन की ओर दौडा। भय अभय को परास्त करने के लिए विह्वल हो उठा। श्रद्धा और आवेश के समर की रणभेरी बज चुकी। सुदर्शन ने अपनी तैयारी पूर्ण कर ली। उसने समता की दीक्षा स्वीकार की। वह सकल्प का कवच पहन कायोत्सर्ग की मुद्रा मे खडा हो गया। उसकी ध्यान-मुद्रा उपसर्ग का अन्त होने से पहले भग्न नही होगी, यह उसकी आकृति बता रही थी

अर्जुन निकट आते ही गरज उठा—'तुम कौन हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? क्या तुम्हारे माता-पिता नही हैं ? कोई मित्र और परामर्शक नही है ? तुम्हे नही मालूम है कि यहा आने पर तुम मृत्यु के अतिथि बन जाओगे ? तुम बोल नही रहे हो ! बडे लापरवाह दीख रहे हो ! अब तैयार हो जाओ तुम इस मुद्गरपाणि का प्रसाद पाने के लिए।'

सुदर्शन अपने ध्यान मे लीन था। वह न बोला और न प्रकपित हुआ। अर्जुन का आवेश और अधिक बढ गया। उसने मुद्गर को आकाश मे उछालने का प्रयत्न किया। पर हाथ उसकी इच्छा को स्वीकार नही कर रहे थे। वे जहा थे, वही स्तम्भित हो गए। अर्जुन ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। पर उसका शरीर उसकी हर इच्छा को अस्वीकार करने लगा। उसका मनोबल टूट गया। आवेश शान्त हो गया।

अब अर्जुन केवल अर्जुन था। उसका शरीर आवेश मे शिथिल हो चुका था। वह अपने को सभाल नही सका। वह सुदर्शन के पैरो मे लुढक गया।

सुदर्शन ने देखा उपसर्ग शान्त हो चुका है। भय की काली घटा बिना बरसे ही फट गयी है। उसने अपनी अर्धोन्मीलित आखें खोली। कायोत्सर्ग सम्पन्न किया। उसने महावीर की स्मृति के साथ अर्जुन के सिर पर हाथ रखा। उसकी मूर्च्छा टूट

गई। उसके चिदाकाश मे जागृति की पहली किरण प्रकट हुई। उसने जागृति के क्षण मे फिर उस प्रश्न को दोहराया—

'तुम कौन हो ?'

'मैं भगवान् महावीर का उपासक हूं।'

'कहां जा रहे हो ?'

'भगवान् महावीर की उपासना करने जा रहा हू।'

'क्या मैं भी जा सकता हू ?'

'किसी के लिए प्रवेश निषिद्ध नही है।'

अर्जुन सुदर्शन के साथ भगवान् के पास पहुचा। आरक्षिको ने श्रेणिक को सूचना दी कि पाप शान्त हो गया है। राजपथ निर्विघ्न है। निरकुश हाथी पर अकुश का नियत्रण है। अर्जुन सुदर्शन के साथ भगवान् महावीर के पास चला गया है। राजकीय घोषणा के साथ राजपथ का आवागमन खुल गया।

भगवान् के कण-कण मे अहिसा का प्रवाह था। मैत्री और प्रेम की अजस्र धाराए बह रही थी। उसमे स्नात व्यक्ति की क्रूरता धुल जाती थी। अर्जुन का मन मृदुता का स्रोत बन गया।

मनुष्य के अन्त करण मे कृष्ण और शुक्ल—दोनो पक्ष होते है। जिनकी चेतना तामसिक होती है, वे प्रकाश पर तमस् का ढक्कन चढा देते हैं। जिनकी चेतना आलोकित होती है, वे प्रकाश को उभार तमस् को विलीन कर देते हैं। भगवान् ने अर्जुन के अन्त.करण को आलोक से भर दिया। उसके मन मे समता की दीपशिखा प्रज्वलित हो गई। वह मुनि बन गया।

कल का हत्यारा आज का मुनि—यह नाटकीय परिवर्तन जनता के गले कैसे उतर सकता है ? हर आदमी उस सत्य को नही जानता कि मनुष्य के जीवन मे बडे परिवर्तन नाटकीय ढग से ही होते हैं। असाधारण घटना साधारण ढंग से नही हो सकती। साधारण आदमी असाधारण घटना को एक क्षण मे पकड भी नही पाता। अर्जुन से आतकित जनता उसके मुनित्व को स्वीकार नही कर सकी।

अर्जुन ने भगवान् के पास समता का मत्र पढ़ा। उसकी समता प्रखर हो गई। मान-अपमान, लाभ-अलाभ, जीवन-मृत्यु और सुख-दु.ख मे तटस्थ रहना उसे प्राप्त हो गया।

कुछ दिनो बाद मुनि अर्जुन भिक्षा के लिए राजगृह मे गया। घर-घर से आवाजें आने लगी—इसने मेरे पिता को मारा है, भाई को मारा है, पुत्र को मारा है, माता को मारा है, पत्नी को मारा है, मित्र को मारा है। कही गालिया, कही व्यग, कही तर्जना और कही प्रताडना। अर्जुन देख रहा है—यह कृत की प्रतिक्रिया है, अतीत के अनाचरण का प्रायश्चित्त है। उसे यदि रोटी मिलती है तो पानी नही मिलता और यदि पानी मिलता है तो रोटी नही मिलती। पर

उसका मन न रोटी मे उलझता है और न पानी में। उसका मन समता में उलझ-कर सदा के लिए सुलझ गया। उसके समत्व की निष्ठा ने जनता का आक्रोश सद्भावना मे बदल दिया। अहिंसा ने हिंसा का विष धो डाला।[1]

३. सहिष्णुता का आयाम

मेतार्य जन्मना चाण्डाल थे। वे भगवान् महावीर के सघ मे दीक्षित हुए। उनका मुनि जीवन ज्ञान और समता की साधना से प्रदीप्त हो उठा। उनके अन्तर् की ज्योति जगमगा उठी। वे सघ की सीमा से मुक्त हो गए। अब वे अकेले रहकर साधना करने लगे। एक बार वे राजगृह मे आए। स्वर्णकार के घर भिक्षा लेने पहुचे। स्वर्णकार उन्हे देख हर्ष-विभोर हो उठा। वह वदना कर बोला—'श्रमण! आप यही ठहरें। मैं दो क्षण मे यह देखकर आ रहा हू कि रसोई बनी है या नही?' स्वर्णकार भीतर घर मे गया। मुनि वही खडे रहे। स्वर्णकार की दुकान मे क्रौंच पक्षी का युगल बैठा था। स्वर्णकार के जाते ही वह आगे बढा और दुकान मे पड़े स्वर्णयवो को निगल गया।

स्वर्णकार मुनि को घर मे ले जाने आया। उसने देखा, स्वर्णयव लुप्त हैं। वह स्तब्ध रह गया। उसके मन मे आवेश उतर आया। उसने स्वर्णयवो के विषय मे मुनि से पूछा। मुनि मौन रहे। स्वर्णकार का आवेश बढ़ गया। वह बोला—'श्रमण! मैं अभी आपके सामने स्वर्णयव यहा छोडकर गया। कुछ ही क्षणो मे मैं यहा लौट आया। इस बीच कोई दूसरा व्यक्ति यहां आया नही। मेरे स्वर्णयवो के लुप्त होने के उत्तरदायी आपके सिवाय दूसरा कौन हो सकता है?' मुनि अब भी मौन रहे।

स्वर्णकार मुनि से उत्तर चाहता था। मुनि उत्तर दे नही रहे थे। उनका मौन स्वर्णकार की आकांक्षा पर चोट करने लगा। उसने आहत स्वर मे कहा—'श्रमण! वे स्वर्णयव मेरे नही हैं। वे सम्राट् श्रेणिक के हैं। मैं उनके अन्तःपुर के आभूषण तैयार कर रहा हू। यदि वे स्वर्णयव नही मिलेंगे तो मेरी क्या दशा होगी, क्या आप नही जानते? आप श्रमण हैं। आपने कितना वैभव छोडा है! आप मेरे सम्राट् के दामाद रहे हैं। अब आप मेरे आराध्य भगवान् महावीर के सघ मे दीक्षित हैं। आप अपने त्याग को देखे, सम्राट् की ओर देखें, भगवान् की ओर देखें और मेरी ओर देखे। मन से लोभ को निवारें, मेरी वस्तु मुझे लौटा दें। मनुष्य से भूल हो सकती है। आप साधक हैं। अभी सिद्ध नही हैं। आप से भी भूल हो सकती है। अभी और कोई नही जानता। आप जानते हैं या मैं जानता हूं। तीसरा कोई नहीं जानता। आप मेरी बात पर ध्यान दें। मेरी वस्तु मुझे लौटा दें। भूल के लिए प्रायश्चित्त करें।'

---

1 अतगडदसाओ, ६।

स्वर्णकार द्वारा इतना कहने पर भी मुनि का मौन भंग नहीं हुआ। स्वर्णकार ने सोचा, श्रमण का मन ललचा गया है। ये दण्ड के बिना नहीं मानेंगे। उसने रास्ता बन्द कर दिया। वह तत्काल गीला चर्मपट्ट लाया। मुनि का सिर उससे कसकर बांध दिया। वे भूमि पर लुढक गए। सूर्य के ताप से चर्मपट्ट और साथ-साथ मुनि का सिर सूखने लगा।

मुनि ने सोचा—'इसमे स्वर्णकार का क्या दोष है? वह बेचारा भय से आतंकित है। मैं भी मौन-भंग कर क्या करता? मेरे मौन-भग का अर्थ होता—क्रौंच-युगल की हत्या। यह चक्रव्यूह किसी की बलि लिये बिना भग्न होने वाला नही है। दूसरो के प्राणो की बलि देने का मुझे क्या अधिकार है? मैं अपने प्राणो की बलि दे सकता हू।'

वे अपने प्राणो की बलि देने को प्रस्तुत हो गए। उनका चित्त ध्यान के प्रकोष्ठ मे पहुच गया। उनका मन सरिता मे नौका की भांति तैरने लगा। कष्ट शरीर को होता है। उसकी अनुभूति मन को होती है। दोनो घुले-मिले रहते हैं, तब कष्ट का सवेदन तीव्र होता है। जब मन शरीर की सरिता के ऊपर तैरने लगता है तब उसका सवेदन क्षीण हो जाता है। यह है सहिष्णुता—समता के विवेक से पल्लवित, पुष्पित और फलित।

द्वन्द्व का होना जागतिक नियम है। इसे कोई बदल नही सकता। द्वन्द्व की अनुभूति को बदला जा सकता है। यह परिवर्तन द्वन्द्वातीत चेतना की अनुभूति होने पर ही होता है। द्वन्द्व की अनुभूति का मूल राग और द्वेष का द्वन्द्व है। इस द्वन्द्व का अन्त होने पर द्वन्द्वातीत चेतना जागृत होती है। समता का आदिबिन्दु द्वन्द्वातीत चेतना की जागृति का आदि-बिन्दु है। समता का चरम-बिन्दु द्वन्द्वातीत चेतना की पूर्ण जागृति है। इस अवस्था मे समता और वीतरागता एक हो जाती है। साधन साध्य मे विलीन हो जाता है। वस्तु-जगत् मे द्वैत रहता है। किन्तु चेतना के तल पर द्वन्द्व के प्रतिबिम्ब समाप्त हो जाते हैं। विषमता-विहीन समता अपने स्वरूप को खो देती है। न विषमता रहती है और न समता, कोरी चेतना शेष रह जाती है।

३२

मुक्त मानस : मुक्त द्वार

सामने की दीवार पर घडी है। उसमे नौ बजे हैं। क्या सब घडियो मे नौ ही बजे हैं? यह सम्भव नही है। कोई दो मिनट आगे है तो कोई दो मिनट पीछे है। काल एक गति से चलता है। उसका प्रवाह न रुकता है और न त्वरित होता है। वह सदा और सर्वत्र अपनी गति से चलता है।

घडी काल नही है। वह काल की गति का सूचक-यन्त्र है। यन्त्र कभी शीघ्र चलने लगता है और कभी मद। यह गति-भेद इस सत्य की सूचना देता है कि काल और घडी एक नही है।

धर्म और धर्म-सस्थान भी एक नही हैं। धर्म सत्य है। सत्य देश और काल से अबाधित होता है। देश बदल जाने पर धर्म नही बदलता। जो धर्म भारत के लिए है, वही जापान के लिए है और जो जापान के लिए है, वही भारत के लिए है। भारत और जापान के धर्म दो नही हो सकते। जो धर्म अतीत मे था, वही आज है और आने वाले कल मे भी वही होगा। काल बदल जाने पर धर्म नही बदलता।

प्यास लगती है और हम पानी पीते हैं। प्यास लगने पर हम पानी ही पीते हैं, रोटी नही खाते। यह क्यो? इसका हेतु निश्चित नियम है। पानी पीने से प्यास बुझ जाती है, हर देश मे और हर काल मे। यह नियम देश और काल से बाधित नही है इसलिए यह सत्य है।

मन अशान्त होता है, तब हम धर्म की ओर झाकते हैं। मन की अशान्ति मिटाने के लिए हम धर्म की ओर ही झांकते हैं, धन की ओर नही झाकते। यह क्यो? इसका हेतु निश्चित नियम है। धर्म की अनुभूति से मन की अशान्ति मिट जाती है, हर देश मे और हर काल मे। यह नियम देश और काल से बाधित नही है इसलिए यह सत्य है।

सत्य एकरूप होता है। यह श्रमणो का सत्य और यह वैदिको का सत्य—यह

भेद नही हो सकता। वैदिक धर्म और श्रमण धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म—ये धर्म-सस्थान हैं, धर्म के तंत्र हैं, धर्म नही हैं। ये धर्म नही है, इसलिए अनेक हो सकते हैं, भिन्न और परस्पर विरोधी भी। ये सत्य को शब्द के माध्यम से पकड़ने का प्रयत्न करते हैं, जैसे एक शिशु तालाब मे पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब को पकड़ने का प्रयत्न करता है।

एक आदमी कमरे मे बैठा है। द्वार बन्द है। एक छोटी-सी खिडकी खुली है। उस पर जाली लगी हुई है। यह सच है कि आदमी खिडकी से झाककर आकाश को देख सकता है। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि वह सम्पूर्ण आकाश को नही देख सकता। आकाश उतना ही नही है जितना वह देख सकता है और यह भी सच है कि वह आकाश को सीधा नही देख सकता, जाली के व्यवधान से देख सकता है।

भगवान् महावीर ने एक बार गौतम से कहा—'जब धर्म का द्रष्टा नही होता तब धर्म अनुमान की जाली से ढकी हुई शब्द की खिडकी से झाककर देखा जाता है। उस स्थिति मे उसके अनेक मार्ग और अनेक मार्ग-दर्शक हो जाते हैं। गौतम ! तुम्हे जो मार्ग मिला है, वह द्रष्टा बनने का मार्ग है। तुम जागरूक रहो और धर्म के द्रष्टा बनो।'[1]

भगवान् महावीर धर्म के द्रष्टा थे। वे अचेतन मे अचेतन धर्म को देखते थे और चेतन मे चेतन धर्म को। वे यथार्थवादी थे। भय, प्रलोभन या अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतिपादन उन्हे प्रिय नही था।

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—'भगवन् ! आपने यथार्थ तत्त्व का प्रतिपादन किया, इसलिए आपके व्यक्तित्व मे वह कौशल प्रकट नही हुआ, जो घोडे के सीग उगाने वाले नव-पडित के व्यक्तित्व मे प्रकट हुआ है।'

अनेकान्त दृष्टि और यथार्थवाद—ये दोनो साथ-साथ चलते हैं। जो अनेकान्त दृष्टि वाला नही होता, वह यथार्थवादी नही हो सकता और जो यथार्थवादी नही होता, वह अनेकान्त दृष्टि वाला नही हो सकता। भगवान् महावीर मे अनेकान्त दृष्टि और यथार्थवाद—दोनो पूर्ण विकसित थे। इसलिए वे सत्य को सधीय क्षितिज के पार भी देखते थे।

१ एक बार भगवान् कौशाम्बी से विहार कर राजगृह आए और गुणशीलक चैत्य मे ठहरे। गौतम स्वामी भिक्षा के लिए नगर मे गए। उन्होंने जन-प्रवाद सुना—तुंगिका नगरी के बाहरी भाग मे पुष्पवती नाम का चैत्य है। वहा भगवान् पार्श्व के शिष्य आए हुए हैं। कुछ उपासक उनके पास गए और कुछ प्रश्न पूछे।

---

१. उत्तरज्झयणाणि १०।३१ :

न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम ! मा पमायए॥

जन-जन के मुह से यह बात सुन गौतम के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उन्होंने उपासकों से पूछा—'बताओ, तुमने क्या प्रश्न किए और पार्श्वापत्यीय श्रमणों ने क्या उत्तर दिए ?'

'हमने उनसे पूछा—भते ! सयम का क्या फल है ? तप का क्या फल है ?'

पार्श्वापत्यीय श्रमणो ने उत्तर दिया—'सयम का फल नए बधन का निरोध है। तप का फल पूर्व बधन का विमोचन है।'

'इस पर हमने पूछा—भते ! सयम का फल नए बधन का निरोध और तप का फल बधन का विमोचन है तब फिर देवलोक मे उत्पन्न होने का हेतु क्या है ?'

इस प्रश्न के उत्तर मे स्थविर कालियपुत्त ने कहा—'आर्यो ! जीव पूर्व तप से देवलोक में उत्पन्न होते हैं।'

स्थविर मेहिल ने कहा—'आर्यो ! जीव पूर्व सयम से देवलोक मे उत्पन्न होते है।'

स्थविर आनदरक्षित ने कहा—'आर्यो ! शेष कर्मों से जीव देवलोक मे उत्पन्न होते हैं।'

स्थविर काश्यप ने कहा—'आर्यो ! आसक्ति क्षीण न होने के कारण जीव देवलोक मे उत्पन्न होते हैं।'

गौतम इन प्रश्नोत्तरो का विवरण प्राप्त कर भगवान् के पास पहुचे।

भगवान् के सामने सारी बात रखकर बोले—'भते ! क्या पार्श्वापत्यीय स्थविरों द्वारा प्रदत्त उत्तर सही है ? क्या वे सही उत्तर देने मे समर्थ हैं ? क्या वे सम्यग्ज्ञानी है ? क्या वे अभ्यासी और विशिष्ट ज्ञानी हैं ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! पार्श्वापत्यीय स्थविरो द्वारा प्रदत्त उत्तर सही हैं। वे सही उत्तर देने मे समर्थ हैं। मैं भी इन प्रश्नो का यही उत्तर देता हू।'

'भते ! ऐसे श्रमणो की उपासना से क्या लाभ होता है ?'

'सत्य सुनने को मिलता है।'

'भते ! उससे क्या होता है ?'

'ज्ञान होता है।'

'भते ! उससे क्या होता है ?'

'विज्ञान होता है—सूक्ष्म पर्यायो का विवेक होता है।'

'भते ! उससे क्या होता है ?'

'प्रत्याख्यान होता है—अनात्मा से आत्मा का पृथक्करण होता है।'

'भते ! उससे क्या होता है ?'

'सयम होता है।'

'भते ! उससे क्या होता है ?'

'अनाश्रव होता है—अनात्मा और आत्मा का संपर्क-सेतु टूट जाता है।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'तप करने की क्षमता विकसित होती है।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'पूर्व-संचित कर्म-मल क्षीण होते हैं।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'चंचलता विच्छिन्न होती है।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'सिद्धि होती है।'[1]

२. भगवान् पार्श्व का धर्म-तीर्थ भगवान् महावीर के धर्म-तीर्थ से भिन्न था। उनके श्रमण भगवान् महावीर के श्रमणो से मतभेद भी रखते थे। समय-समय पर वे महावीर के सिद्धान्तो की आलोचना भी करते थे। फिर भी भगवान् महावीर ने पार्श्व के श्रमणो के यथार्थ-बोध का मुक्तभाव से समर्थन किया।

उस समय श्रमण-सघो का लोक-सग्रह की ओर झुकाव नगण्य था। उनकी सारी शक्ति आत्म-साधना तथा सत्य-शोध मे लगती थी। इसीलिए उनमे साम्प्रदायिक आग्रह नही पनपा। जैन श्रमणो का लोक-सग्रह की ओर झुकाव बढ़ा तब एक नियम बना कि जैन श्रमण दूसरे श्रमणो या परिव्राजको का सत्कार-सम्मान न करे। दूसरे का सत्कार-सम्मान करने से जैन उपासकों में श्रद्धा की शिथिलता आती है। वे जैन श्रमणो की अपेक्षा उन्हे अधिक पूजनीय मानने लग जाते हैं। अत. उपासको की श्रद्धा को सुदृढ बनाए रखने के लिए मुनि अन्यतीर्थिक साधुओ का सत्कार-सम्मान न करे।

भगवान् महावीर के समय मे यह नियम नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय व्यवहार काफी मुक्त था। भगवान् ने गौतम से कहा—'गौतम ! आज तुम अपने पूर्व-परिचित मित्र से मिलोगे।'

'भते ! वह कौन है ?'

'उसका नाम स्कदक है।'

'भते ! मैं उससे कब मिलूगा ?'

'वह अभी रास्ते में चल रहा है। बहुत दूर नही है। तुम अभी-अभी थोड़ी देर मे उससे मिलोगे।'

'भंते ! क्या मेरा मित्र आपका शिष्य बनेगा ?'

'हां, बनेगा।'

भगवान् यह कह रहे थे, इतने मे स्कदक सामने आ गया। गौतम ने स्कंदक को निकट आते हुए देखा। वे तत्काल उठे और स्कदक के सामने आकर बोले—

---

१. भगवई, २।९२-१११।

'स्वागत है, स्कदक ! सुस्वागत है, स्कदक ! अन्वागत है, स्कदक ! स्वागत-अन्वागत है, स्कदक !' गौतम के मुक्त व्यवहार ने स्कदक को मैत्री-सूत्र में बाध लिया।[1]

३ कृतगला के पास श्रावस्ती नगरी थी। वहा परिव्राजको का एक आवास था। उसका आचार्य था गर्दभाल। स्कदक उनका शिष्य था। उस श्रावस्ती मे पिंगल नाम का निर्ग्रन्थ रहता था। एक दिन वह परिव्राजक-आवास मे चला गया।[2] उसने स्कदक से पूछा—

१ लोक सात है या अनन्त ?

२. जीव सात है या अनन्त ?

३. मोक्ष सात है या अनन्त ?

४ मुक्त-आत्मा सात है या अनन्त ?

५. किस मरण से मरता हुआ जीव जन्म-मरण की परम्परा को बढाता है या घटाता है ?

स्कदक का मन सदेह से आलोडित हो उठा। वह इन प्रश्नो का उत्तर नही दे सका। पिंगल ने इन प्रश्नो को फिर दोहराया। स्कदक फिर मौन रहा। पिंगल उससे समाधान लिये बिना लौट आया।

परिव्राजक-आवास मे मुक्त-गमन, मुक्त-आगमन और मुक्त-प्रश्न हृदय की मुक्तता से ही सम्भव था।

स्कदक ने सुना, भगवान् महावीर कृतगला से विहार कर श्रावस्ती आ गए हैं। उसने सोचा—मैं भगवान् महावीर के पास जाऊ और इन प्रश्नो का उत्तर प्राप्त करू। उसे भगवान् महावीर के पास जाने और प्रश्नो का उत्तर पाने मे कोई सकोच नही था। वह मुक्तभाव से भगवान् महावीर के पास गया। भगवान् ने मुक्तभाव से स्कदक को उन प्रश्नो के उत्तर दिए। भगवान् ने कहा—'स्कदक ! द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है, काल और पर्याय की दृष्टि से लोक अनन्त है। इसी प्रकार जीव, मोक्ष और मुक्त-आत्मा भी द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से सान्त हैं, काल और पर्याय की दृष्टि से अनन्त हैं। मरण दो प्रकार का होता है—बाल मरण और पडित मरण। बाल मरण से मरने वाला जीव जन्म-मरण की परम्परा को बढाता है और पडित मरण से मरने वाला उसे घटाता है।'

भगवान् के उत्तर सुन स्कदक परिव्राजक का मानस-चक्षु खुल गया। उसके

---

१. भगवई, २।२०-२६।

२ तीर्थंकर काल का ग्यारहवा वर्ष।

मुक्त मानस ने स्वीकृति दी और वह महावीर के पास दीक्षित हो गया।[1]

४. भगवान् महावीर राजगृह के गुणशीलक चैत्य मे विहार कर रहे थे।[2] उस चैत्य के आसपास अनेक अन्यतीर्थिक परिव्राजक रहते थे। एक दिन कालोदायी, शैलोदायी आदि कुछ परिव्राजक परस्पर बातचीत करने लगे। उनके वार्तालाप का विषय था भगवान् महावीर के पचास्तिकाय का निरूपण। वे बोले—'श्रमण महावीर पांच अस्तिकायो का निरूपण करते हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय। इनमे पहले चार अस्तिकायों को वे अजीव बतलाते हैं और पाचवें अस्तिकाय को जीव। चार अस्तिकायो को वे अमूर्त बतलाते है और पुद्गलास्तिकाय को मूर्त। यह अस्तिकाय का सिद्धान्त कैसे माना जा सकता है ?'

परिव्राजको का वार्तालाप चल रहा था। उस समय उन्होंने श्रमणोपासक मद्दुक को गुणशीलक चैत्य की ओर जाते हुए देखा। एक परिव्राजक ने प्रस्ताव किया—'श्रमण महावीर पचास्तिकाय का प्रतिपादन करते हैं, यह हमे भलीभाति ज्ञात है। फिर भी अच्छा है कि मद्दुक से इस विषय मे और जानकारी प्राप्त कर ले।' इस प्रस्ताव पर सब सहमत होकर वे मद्दुक के पास गए। उन्होने कहा—'मद्दुक ! तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण महावीर पचास्तिकाय का प्रतिपादन करते हैं। उनमे चार अजीव हैं और एक जीव। चार अमूर्त हैं और एक मूर्त। मद्दुक ! अस्तिकाय प्रत्यक्ष नही है, अत: उन्हे कैसे माना जा सकता है ?'

मद्दुक ने उन परिव्राजको से कहा—'जो क्रिया करता है, उसे हम जानते-देखते हैं और जो क्रिया नही करता, उसे हम नही जानते-देखते।'

सब परिव्राजक एक साथ बोल उठे—'तुम कैसे श्रमणोपासक हो जो अस्तिकाय को नही जानते-देखते ?'

'आयुष्मान् ! हवा चल रही है, यह आप मानते हैं ?'

'हां, मानते हैं।'

'आप हवा का रूप देख रहे हैं ?'

'नही, ऐसा नही होता।'

'आयुष्मान् ! नाक मे गधयुक्त पुद्गल प्रविष्ट होते है ?'

'हा, होते हैं।'

'आयुष्मान् ! आप नाक मे प्रविष्ट गधयुक्त पुद्गलो का रूप देखते हैं ?'

'नही, ऐसा नही होता।'

'आयुष्मान् ! अरणि में अग्नि होती है ?'

---

१. भगवई, २।३४-५३।

२. तीर्थंकर काल का बाईसवां वर्ष।

'हां, होती है।'

'आयुष्मान् ! आप अरणि में रही हुई अग्नि का रूप देखते हैं ?'

'नही, ऐसा नहीं होता।'

'आयुष्मान् ! समुद्र के पार रूप हैं ?'

'हा, हैं।'

'आयुष्मान् ! आप समुद्र के पारवर्ती रूपो को देखते हैं ?'

'नही, ऐसा नही होता।'

'आयुष्मान् ! देवलोक मे रूप हैं ?'

'हा, हैं।'

'आयुष्मान् ! आप देवलोक मे विद्यमान रूपों को देखते हैं ?'

'नही, ऐसा नही होता।'

'आयुष्मान् ! जैसे उक्त वस्तुओ के न दीखने पर भी उनके अस्तित्व को कोई आच नही आती वैसे ही मैं या आप न जानें-देखें उससे वस्तु का नास्तित्व प्रमाणित नही होता। यदि आप वस्तु के न दीखने पर उसका अस्तित्व स्वीकार नही करेंगे तो आपको जगत् के बहुत बडे भाग के अस्तित्व को अस्वीकार करना होगा।'

मद्दुक के इस तर्क पर सब परिव्राजक मौन हो गए। तब वह वहा से चल भगवान् महावीर के पास पहुचा। भगवान् ने उसे सम्बोधित कर कहा—'मद्दुक ! तुमने कहा—जो क्रिया करता है, उसे हम जानते-देखते हैं और जो क्रिया नही करता, उसे हम नही जानते-देखते। यह बहुत सुन्दर कहा, यह बहुत उचित कहा। जो व्यक्ति अज्ञात, अदृष्ट, अश्रुत, अमत और अविज्ञात अर्थ का जन-जन के बीच निरूपण करता है, वह सत्य की अवहेलना करता है।'

कुछ दिनों बाद उन परिव्राजको ने गौतम से फिर वही प्रश्न पूछा। गौतम ने उत्तर की भाषा मे कहा—'देवानुप्रियो ! हम अस्ति को नास्ति और नास्ति को अस्ति नही कहते है। हम सम्पूर्ण अस्ति को अस्ति और सम्पूर्ण नास्ति को नास्ति कहते हैं। इसलिए भगवान् ने उन्ही के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है जिनका अस्तित्व है।'

गौतम का यह उत्तर सुन परिव्राजक मौन हो गए। पर उनके मन का सदेह दूर नही हुआ।

गौतम भगवान् के पास पहुचे। उनके पीछे-पीछे परिव्राजक कालोदायी वहा पहुचा। उस समय भगवान् विशाल परिषद् मे धर्म-सवाद कर रहे थे। भगवान् ने कालोदायी को सम्बोधित कर कहा—'कालोदायी ! तुम्हारी मडली मे यह चर्चा चली थी कि श्रमण महावीर पचास्तिकाय का निरूपण करते हैं। पर जो प्रत्यक्ष नही है, उन्हें कैसे माना जा सकता है ?'

कालोदायी ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाते हुए कहा—'भंते ! चली थी।'

'कालोदायी ! पंचास्तिकाय हैं या नही—यह प्रश्न किसे होता है ?'

'भते ! आत्मा को होता है।'

'क्या आत्मा है ?'

'भते ! वह अवश्य है। अचेतन को कभी जिज्ञासा नही होती।'

'कालोदायी ! जिसे तुम आत्मा कहते हो, उसे मैं जीवास्तिकाय कहता हू।'

'भते ! यह ठीक है। पर धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व कैसे माना जा सकता है ?'

'मछली जल मे तैरती है। तैरने की शक्ति मछली मे है या जल मे ?'

'भते ! तैरने की शक्ति मछली मे है, जल मे नही है। जल उसके तैरने मे सहायक बनता है।'

'इसी प्रकार जीव और पुद्गल की गति मे सहायता की अपेक्षा होती है। उसकी पूर्ति जिससे होती है, वह तत्त्व धर्मास्तिकाय है।'

'भते ! अधर्मास्तिकाय की क्या अपेक्षा है ?'

'चिलचिलाती धूप है। पथिक चल रहा है। एक सघन पेड आया। ठंडी छांह देखी और पथिक ठहर गया। उसकी स्थिति मे निमित्त बनी छाया। इसी प्रकार जो स्थिति मे निमित्त बनता है, वह तत्त्व अधर्मास्तिकाय है।'

'भते ! तब आकाश का क्या कार्य होगा ?'

'आकाश आधार देता है, स्थिति नही। गति और स्थिति—दोनो उसी मे होते हैं।'

'भते ! फिर पुद्गलास्तिकाय क्या है ?'

'इस लता पर लगे फूल को देख रहे हो ?'

'भते ! हा, इसका लाल रग देख रहा हू।'

'इसकी विशेषता क्या है ?'

'भंते ! गध।'

'यह मधुमक्खी क्यो भिनभिना रही है ?'

'भते ! इसका रस लेने के लिए।'

'इसका स्पर्श कैसा है ?'

'भते ! बहुत कोमल।'

'कालोदायी ! जिस वस्तु मे वर्ण, गध, रस और स्पर्श होते है, उसे मैं पुद्गलास्तिकाय कहता हू।'

'भते ! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय पर कोई जीव बैठ सकता है ? खडा रह सकता है ? लेट सकता है ?'

'नही, ऐसा नहीं हो सकता। केवल पुद्गल पर ही कोई बैठ सकता है, खड़ा

रह सकता है और लेट सकता है।'

भगवान् का उत्तर सुन कालोदायी का संदेह दूर हो गया।[1] वह भगवान् के पास प्रव्रजित हो गया।[2]

ये कुछ घटनाए प्रस्तुत करती हैं मुक्त-मानस और मुक्त-द्वार के उन्मुक्त चित्र।

---

१. भगवई, १८।१३४-१४२।

२ भगवई, ७।२२० एत्थ ण से कालोदाई 'पव्वइए।

३४

समन्वय की दिशा का उद्घाटन

जल और अग्नि मे प्राकृतिक वैर है। दोनो एक साथ नहीं रह सकते। अग्नि उष्ण है और जल शीत। शीत उष्ण को मिटा देता है, जल अग्नि को बुझा देता है। क्या उष्ण और शीत मे कोई सम्बन्ध नही है ?जल अग्नि को बुझा देता है, इसलिए इनमे सम्बन्ध की स्थापना कैसे की जा सकती है ? जल भी पदार्थ है और अग्नि भी पदार्थ है। पदार्थ का पदार्थ के साथ सम्बन्ध नही होने की बात कैसे कही जा सकती है ? समस्या के दोनो तटो का पार पाने के लिए समन्वय का सेतु खोजा गया। समन्वय दो सम्बन्धो के व्यवधान को जोडने वाला सूत्र है। भगवान् महावीर ने उष्ण और शीत के बीच समन्वय की स्थापना की। उस सिद्धान्त के अनुसार उष्ण उष्ण ही नही है, वह शीत भी है और शीत शीत ही नही है, वह उष्ण भी है। उष्ण और शीत—दोनो सापेक्ष है। मक्खन को पिघलाने वाली अग्नि की ऊष्मा मक्खन के लिए उष्ण है और लोहे के लिए उष्ण नही है। वह अग्नि की साधारण ऊष्मा से नही पिघलता।

विश्व के जितने तत्त्व हैं, वे परस्पर किसी न किसी सम्बन्ध-सूत्र से जुडे हुए हैं। कोई वस्तु दूसरी वस्तु से सर्वथा सदृश नही है और सर्वथा विसदृश भी नही है। हम कुछ वस्तुओं को सदृश मानते हैं और कुछ को विसदृश। इसका हेतु वस्तु की वास्तविकता नही है। यह हमारी दृष्टि का अन्तर है। हम सदृशता देखना चाहते हैं तब उसे भी देख लेते हैं और विसदृशता देखना चाहते हैं तब उसे भी देख लेते हैं। वस्तु मे दोनो हैं, इसलिए जिसे देखना चाहें उसका मिलना स्वाभाविक बात है।

सदृशता और विसदृशता का सिद्धान्त वस्तु की यथार्थता है, इसलिए कोई भी यथार्थवादी विचार एकागी नही हो सकता, अपेक्षा से शून्य नही हो सकता।

भगवान् महावीर ने विचार और व्यवहार—दोनो क्षेत्रों मे समन्वय के

सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनकी परम्परा ने विचार के क्षेत्र में समन्वय के सिद्धान्त की सुरक्षा ही नही की है, उसे विकसित भी किया है। किन्तु व्यवहार के क्षेत्र मे उसकी विस्मृति ही नही की है, उसकी अवहेलना भी की है।

हरिभद्रसूरि ने नास्तिक को दार्शनिको के मच पर उपस्थित कर दर्शन जगत् को समन्वय की शक्ति से परिचित करा दिया। आस्तिक दर्शन नास्तिक को दर्शन की कक्षा मे सम्मिलित करने की कल्पना नही करते थे। हरिभद्र ने उसे आकार दे दिया।

उपाध्याय यशोविजयजी के सामने प्रश्न आया कि आस्तिक कौन और नास्तिक कौन? उन्होने समन्वयदृष्टि से देखा और वे कह उठे—'पूरा नास्तिक कोई नही है और पूरा आस्तिक भी कोई नही है। चार्वाक आत्मा को नहीं मानता, इसलिए नास्तिक है तो एकान्तवादी दर्शन वस्तु के अनेक धर्मों को नही मानते, फिर वे नास्तिक कैसे नही होगे? धर्मों को स्वीकारने वाले एकान्तवादी दर्शन यदि आस्तिक है तो धर्मों का स्वीकार करने वाला चार्वाक आस्तिक कैसे नही है?'

आचार्य अकलक ने कहा—'आत्मा चैतन्य धर्म की अपेक्षा से आत्मा है, शेष धर्मों की अपेक्षा से आत्मा नही है। आत्मा और अनात्मा मे समान धर्मों की कमी नही है।'

सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलक, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने समन्वय की परम्परा को इतना उजागर किया कि जैन दर्शन का सिन्धु सब दृष्टि-सरिताओ को समाहित करने मे समर्थ हो गया।

वेदान्त का अद्वैत जैन दर्शन का सग्रह नय है। चार्वाक का भौतिक दृष्टिकोण जैन दर्शन का व्यवहार नय है। बौद्धो का पर्यायवाद जैन दर्शन का ऋजुसूत्र नय है। वैयाकरणो का शब्दाद्वैत जैन दर्शन का शब्द नय है। जैन दर्शन ने इन सब दृष्टिकोणों की सत्यता स्वीकार की है, किन्तु एक शर्त के साथ। शर्त यह है कि इन दृष्टिकोणो के मनके समन्वय के धागे मे पिरोए हुए हो तो सब सत्य हैं और ये अपनी सत्यता प्रमाणित कर दूसरो के अस्तित्व पर प्रहार करते हो तो सब असत्य हैं। समन्वय का बोध सत्य का बोध है। समन्वय की व्याख्या सत्य की व्याख्या है। अनन्त सत्य एक दृष्टिकोण से गम्य और एक शब्द से व्याख्यात नही हो सकता।

समन्वय सिद्धान्त के प्रसग मे एक जिज्ञासा उभरती है कि महावीर ने सब दर्शनो की दृष्टियो का समन्वय कर अपने दर्शन की स्थापना की या उनका कोई अपना मौलिक दर्शन है?

महावीर के दो विशेषण है—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी। वे सबको जानते थे और सबको देखते थे। सर्वज्ञान और सर्वदर्शन के आधार पर उन्होंने अपने दर्शन की व्याख्या की। उसका मौलिक स्वरूप यह है कि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त धर्म हैं और

प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्म से युक्त है। एक द्रव्य मे अनन्त विरोधी युगल एक साथ रह रहे हैं। यह सिद्धान्त विभिन्न दृष्टियों के समन्वय से निष्पन्न नही हुआ है। किन्तु इस सिद्धान्त से समन्वय का दर्शन फलित हुआ है। समन्वय का सिद्धान्त मौलिक नही है। मौलिक है एक द्रव्य मे अनन्त विरोधी युगलो का स्वीकार और प्रतिपादन।

सामान्य और विशेष—दोनो द्रव्य के धर्म हैं। इसलिए महावीर को समझने वाला सामान्यवादी वेदान्त और विशेषवादी बौद्ध का समर्थन या विरोध नही कर सकता। वह दोनो मे समन्वय देखता है, संगति देखता है। जब हम पर्याय की ओर पीठ कर द्रव्य को देखते हैं तब हमे सामान्य केवल सामान्य, अद्वैत केवल अद्वैत दिखाई देता है और जब हम द्रव्य की ओर पीठ कर पर्याय को देखते हैं तब हमे विशेष केवल विशेष, द्वैत केवल द्वैत दिखाई देता है। किन्तु महावीर को समझने वाला इस बात को नही भूलता कि कोई भी द्रव्य पर्याय से शून्य नही है और कोई भी पर्याय द्रव्य से शून्य नही है। केवल सामान्य या केवल विशेष को देखना दृष्टि के कोण हैं, मर्यादाए हैं। वास्तविकता के सागर मे सामान्य और विशेष—दोनो एक साथ तैर रहे हैं।

समन्वयवादी बाह्य और अतरग, स्थूल और सूक्ष्म, मूर्त और अमूर्त, दोनो के समन्वय-सूत्र को खोजकर वस्तु की समग्रता का बोध करता है।

क्या आज का महावीर का अनुयायी समाज समन्वयवादी है? इस प्रश्न का उत्तर सिद्धान्त मे नही खोजा जा सकता। यह खोजा जा सकता है चितन-भेद, घृणा अथवा व्यक्तिगत या साम्प्रदायिक महत्त्वाकाक्षा के धरातल पर। सब लोगो का और एक समाज मे रहने वाले सब लोगो का भी चिंतन एक जैसा नही होता। जब तक उसका समीकरण होता रहता है तब तक वे साथ मे रह पाते हैं और जब अह की प्रबलता समीकरण नही होने देती तब चितन-भेद स्थिति-भेद मे बदल जाता है। घृणा और महत्त्वाकाक्षा भी स्थिति-भेद उत्पन्न करती है। इन परिस्थितियो मे बौद्धिक समन्वयवाद व्यवहार को प्रभावित नही करता। उसे प्रभावित करता है अहिंसक समन्वयवाद। भगवान् महावीर का समन्वय का सिद्धान्त वस्तु-जगत् मे बौद्धिक है, प्राणी-जगत् मे वह अहिंसक है।

कितना कठिन है विचार और व्यवहार मे सामजस्य लाने वाले अहिंसक समन्वय की दिशा का उद्घाटन?

३५

सर्वजन हिताय : सर्वजन सुखाय

भिन्न-भिन्न वस्तुओ को देखने के लिए भिन्न-भिन्न आंखो की जरूरत नही है—इस वाक्य की अभिधा से असहमति नही है तो इसकी व्यजना से पूर्ण सहमति भी नही है।

गुरु ने शिष्य से पूछा—'देखता कौन है ?'

शिष्य ने कहा—'आख।'

गुरु—'क्या अधकार में आख देख सकती है ?'

शिष्य—'प्रकाश और आख दोनो मिलकर देखते हैं।'

गुरु—'आख भी है और प्रकाश भी है पर आदमी अन्यमनस्क है तो क्या वह देखता है ?'

शिष्य—'मैं अपनी बात मे थोडा सशोधन करना चाहता हू। मन, प्रकाश और आख—तीनो मिलकर देखते है।'

गुरु—'एक बच्चे ने आग को देखा और उसमे हाथ डाल दिया। क्या उसने आग को नही देखा ?'

शिष्य—'बच्चे मे बुद्धि का विकास नही होता। वास्तव मे पूर्ण दर्शन तब होता है जब बुद्धि, मन, आख और प्रकाश—ये चारो एक साथ होते है।'

गुरु—'एक बुद्धिमान् आदमी को मैंने जुआ खेलते देखा है। क्या वह देखता है ?'

शिष्य—'सही अर्थ मे वही देखता है, जिसकी बुद्धि पर अस्तित्व का वरद हस्त होता है।'

व्यक्ति के दो रूप होते हैं—व्यक्तित्व और अस्तित्व। अस्तित्व का अर्थ है 'होना' और व्यक्तित्व का अर्थ है 'कुछ होना'। हम नाम-रूप आदि को देखते हैं, तब हमे व्यक्तित्व का दर्शन होता है। हम चेतना के जागरण को देखते हैं तब हमे

व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि में क्रियाशील अस्तित्व का दर्शन होता है।

महावीर के व्यक्तित्व का अस्तित्व पर अधिकार होता तो उनकी वाणी मे मृदुता और हृदय मे क्रूरता होती। उनकी वाणी और हृदय—दोनों मे मृदुता का अतल प्रवाह है। इससे प्रतीत होता है कि उनका अस्तित्व व्यक्तित्व पर छाया हुआ था।

व्यक्तित्व के धरातल पर महावीर एक संघ के शास्ता, संघबद्ध धर्म के व्याख्याता और एक पंथ के प्रवर्तक हैं। अस्तित्व के धरातल पर वे केवल 'हैं'। 'होने' के सिवाय और कुछ नही हैं। वे न संघ के शास्ता हैं और न शासित, न धर्म के व्याख्याता हैं और न श्रोता, न द्वैतवादी हैं और न अद्वैतवादी। द्वैत और अद्वैत, व्याख्या और श्रुति, शासन और स्वीकृति—ये सब अस्तित्व की शाखाएं हैं। महावीर की सम्पूर्ण यात्रा व्यक्तित्व से अस्तित्व की ओर है। महावीर ने कहा[1]—

'जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।'
'जिस पर तू शासन करना चाहता है, वह तू ही है।'
'जिसे तू परितप्त करना चाहता है, वह तू ही है।'
'जिसे तू दास बनाना चाहता है, वह तू ही है।'
'जिसे तू उपद्रुत करना चाहता है, वह तू ही है।'

इस पद-पद्धति को पढकर अद्वैतवादी कहेगा—महावीर अद्वैतवादी थे। जैन दर्शन का विद्यार्थी उलझ जाएगा कि महावीर द्वैतवादी थे, फिर उन्होने अद्वैत की भाषा का प्रयोग कैसे किया? महावीर इन दोनों से ही दूर हैं। वे अस्तित्ववादी हैं। अद्वैत और द्वैत—दोनो अस्तित्व से निकलते हैं इसलिए अस्तित्ववादी कभी अद्वैत की भाषा मे बोल जाता है और कभी द्वैत की भाषा मे। 'होने' की अनुभूति मे जो एकात्मकता है, वह 'कुछ होने' की अनुभूति मे नहीं हो सकती। 'कुछ होने' का अर्थ भेदानुभूति है। उसमें हिंसा का सस्कार क्षीण नहीं होता। अपनी हिंसा कोई नही चाहता। यदि कोई आत्मा मुझसे भिन्न नहीं है तो मैं किसे मारूंगा? अस्तित्व के धरातल पर यह अभेदानुभूति है। यही है अहिंसा। आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है। आत्मा-आत्मा के बीच भेदानुभूति है, वह हिंसा है और आत्मा-आत्मा के बीच अभेदानुभूति है, वह अहिंसा है। जहा केवल 'होना' है, वहा भेद और अभेद की भाषा नही है। यह भाषा उस जगत् की है, जहा 'कुछ होना' ही सत्य है। व्यक्तित्व के जगत् मे महावीर का तर्क दूसरा है। वे कहते हैं—'किसी प्राणी को मत मारो।'

महावीर का युग यज्ञ का युग था। उस युग के ब्राह्मण यज्ञ की हिंसा का मुक्त समर्थन करते थे। उनका सिद्धान्त था कि धर्म के लिए किया जाने वाला प्राणी

---

१ आयारो, ५।१०१।

का हनन निर्दोष है। इस प्रकार की हिंसा का उन्मूलन करने के लिए भगवान् ने आत्म-तुला की भाषा का प्रयोग किया। भगवान् ने उनसे कहा—'मैं आप सबसे पूछना चाहता हू कि आपको सुख अप्रिय है या दु ख अप्रिय है ?'

उन्होने नही कहा कि सुख अप्रिय है। यह प्रत्यक्ष विरुद्ध बात वे कैसे कहते ? उन्होने कहा—'हमे दु ख अप्रिय है।' तब भगवान् ने कहा—'जैसे आपको दु.ख अप्रिय है, वैसे ही दूसरे प्राणियो को दु ख अप्रिय है। प्राण का हरण दुनिया में सबसे बडा भय है। फिर आप लोग हिंसा को अहिंसा का जामा कैसे पहनाते हैं ? धर्म के नाम पर हिंसा का समर्थन कैसे करते हैं ?'

इस अद्वैत की भाषा मे मारने वाला व्यक्ति मारे जाने वाले व्यक्ति से भिन्न है। व्यक्तित्व की भिन्नता होने पर भी दोनो मे एक धर्म समान है। वह है दु ख की अप्रियता। इस समान धर्म की अनुभूति होने पर हिंसा की वृत्ति शान्त हो जाती है।

पुराने जमाने मे पचायत समाज की प्रभावी सस्था थी। पच का फैसला न्यायाधीश के फैसले की भाति मान्य होता था। एक व्यक्ति पर अपने पडोसी की भैंस चुराने का आरोप आया। मामला पचो तक गया। पच न्याय करने बैठे। अभियुक्त को सामने बैठा दिया। वह अभियोग स्वीकार नही कर रहा था। पचो ने धर्म-न्याय करने का निर्णय लिया। उन्होने एक तवा गर्म करवाया। वह अग्निमय हो गया। पचो ने निर्णय सुनाया कि यह गर्म तवा इसके हाथ पर रखा जाएगा। इसका हाथ नही जलेगा तो यह चोरी के आरोप से मुक्त समझा जाएगा और यदि इसका हाथ जल गया तो इस पर लगाया गया चोरी का आरोप सिद्ध हो जाएगा। अभियुक्त ने इस निर्णय को स्वीकार कर लिया।

एक पच उठा। सडासी से तवा पकड अभियुक्त के हाथ पर रखने लगा। उसने हाथ खीच लिया। पच ने उसे डांटा। वह बोला—'डाटने की कोई आवश्यकता नही है। पच का हाथ तो मेरा हाथ है। पच की सडासी तो मेरी सडासी है। पच महोदय ! आप तो चोर नही हैं ? आप इस तवे को हाथ से उठाकर दीजिए, मेरा हाथ इसे झेलने को तैयार है।'

इस समानता के सूत्र ने निर्णय का मार्ग बदल दिया। पच चुपचाप अपने आसन पर बैठ गया।

भगवान् महावीर ने इस समानता के सूत्र द्वारा हजारो-हजारो व्यक्तियो को जागृत किया।

भगवान् बुद्ध ने 'बहुजनहिताय' का उद्घोष किया। भगवान् महावीर ने 'सर्वजीवहिताय' की उद्घोषणा की।

गौतम ने पूछा—'भते ! शाश्वत धर्म क्या है ?'

भगवान् ने कहा—'अहिंसा।'

'भंते ! अहिंसा किनकी रक्षा के लिए है ?'

'सब जीवों की रक्षा के लिए।'

'भंते ! थोड़े जीवों की हिंसा द्वारा बहुतों की रक्षा सम्भव है। पर सबकी रक्षा कैसे सम्भव है ?'

'अहिंसा के घड़े मे शत्रुता का एक भी छेद नही रह सकता। वह पूर्ण निश्छिद्र होकर ही समत्व के जल को धारण कर सकता है।'

'भंते ! अहिंसा का सन्देश किन तक पहुचाएं ?'

'हर व्यक्ति तक पहुचाओ, फिर वह—

जागृत हो या सुप्त,

अस्तित्व के पास उपस्थित हो या अनुपस्थित,

अस्तित्व की दिशा मे गतिमान् हो या गतिशून्य,

सग्रही हो या असंग्रही,

बन्धन खोज रहा हो या विमोचन

—यह अहिंसा का सन्देश 'सर्वजीवहिताय' है, इसलिए इसे सब तक पहुचाओ।'[1]

भगवान् महावीर अस्तित्व को देखते थे, इसलिए व्यक्तित्व उनके पथ में कोई सीमारेखा नही खीच पाता था। उस समय व्यक्तिवादी पुरोहित उच्चवर्ग के हितो का सरक्षण करते थे। उनका धर्म दो दिशाओ में चलता था। अभिजात वर्ग के लिए उनके धर्म की धारणा एक प्रकार की थी और निम्नवर्ग के लिए दूसरे प्रकार की। अभिजात वर्ग का धर्म है सेवा लेना और शूद्र का काम है सेवा देना और सब कुछ सहना। इस स्थिति को धर्म का सरक्षण प्राप्त हो गया था। भगवान् महावीर ने इसे सर्वथा अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा—'इस धारणा मे अभिजात वर्ग के हितो के सरक्षण का भद्दा प्रयत्न है। यह धर्म नही है, नितान्त अधर्म है। इससे सर्वजीवहिताय की भावना विखडित होती है।' इस अधर्म की उत्थापना के लिए भगवान् ने भिक्षुओ से कहा—'भिक्षुओ ! तुम परिव्रजन करो तथा अभिजात और निम्न वर्ग को एक ही धर्म की शिक्षा दो। जो धर्म अभिजात वर्ग के लिए है, वही निम्न वर्ग के लिए है और जो निम्न वर्ग के लिए है, वही अभिजात वर्ग के लिए है। अभिजात और निम्न—दोनो के लिए मैंने एक ही धर्म का प्रतिपादन किया है।'

व्यक्तित्व के भेद अस्तित्व की सीमा मे प्रविष्ट नही होने चाहिए। धर्म का क्षेत्र अस्तित्व का क्षेत्र है। वह व्यक्तित्व के भेदो से मुक्त रहकर ही पवित्र रह सकता है।

---

१ आयारो, ४।३,४।

न्याय-दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम ने जल्प, वितण्डा और छल को तात्विक मान्यता दी। धर्म की सुरक्षा के लिए इन्हे विहित बतलाया। सगठन के सन्दर्भ मे यह बहुत ही सूझ-बूझ की बात है। किन्तु अस्तित्व के सन्दर्भ मे इनकी अर्हता नहीं है। भगवान् महावीर ने वाद-काल मे भी अहिंसा को प्राथमिकता देने का सिद्धान्त निरूपित किया। जय और पराजय की बात व्यक्तिवादी के लिए विशिष्ट घटना हो सकती है, अस्तित्ववादी के लिए उसका विशेष अर्थ नही है। चेतना के जगत् मे वाद करने वाले दोनो चेतनावान् है, समान चेतना के अधिकारी हैं, फिर कौन जीतेगा और कौन हारेगा ? यह जय-पराजय की क्रीड़ा व्यक्तित्ववादी को ही शोभा दे सकती है। अस्तित्ववादी इस प्रपच से मुक्त रहने मे ही अपना श्रेय देखता है।

वाद के विषय मे भगवान् महावीर ने तीन तत्त्व प्रतिपादित किए—

१ तत्त्व-जिज्ञासा का हेतु उपस्थित हो तभी वाद किया जाए।

२ वाद-काल मे जय-पराजय की स्थिति उत्पन्न न की जाए।

३ प्रतिवादी के मन मे चोट पहुचाने वाले हेतुओ और तर्कों का प्रयोग न किया जाए।

अस्तित्ववादी की दृष्टि मे व्यक्ति व्यक्ति नही होता, वह सत्य होता है, चैतन्य का रश्मिपुज होता है। उसकी अन्तर्भेदी दृष्टि व्यक्तित्व के पार पहुचकर अस्तित्व को खोजती है। अस्तित्व में यह प्रश्न नही होता कि यह कौन है और किसका अनुयायी है ? यह प्रश्न व्यक्तित्व की सीमा मे होता है। अस्तित्व के क्षेत्र मे सत्य चलता है और व्यक्तित्व के क्षेत्र मे व्यवहार।

भगवान् महावीर अस्तित्वादी होते हुए भी व्यक्तित्व की मर्यादा के प्रति बहुत जागरूक थे। वे व्यक्ति को अस्तित्व की ओर ले जाने मे उसके व्यक्तित्व का भी उपयोग करते थे। भगवान् ने कहा—'भिक्षुओ ! किसी व्यक्ति के साथ धर्म-चर्चा करो, तब पहले यह देखो कि यह पुरुष कौन है और किसका अनुयायी है।'

एक बार भगवान् राजगृह मे उपस्थित थे। उस समय भगवान् पार्श्व के श्रमण भगवान् के पास आए। उन्होने पूछा—'भते ! इस असख्य लोक मे अनन्त दिन-रात उत्पन्न और नष्ट हुए हैं या सख्येय ?' भगवान् ने कहा—'श्रमणो ! इस असख्य लोक मे अनन्त दिन-रात उत्पन्न और नष्ट हुए हैं।'

उन्होने पूछा—'भते ! इसका आधार क्या है ?'

भगवान् ने कहा—'आपने भगवान् पार्श्व के श्रुत का अध्ययन किया है। वही इसका आधार है। भगवान् पार्श्व ने निरूपित किया है कि लोक शाश्वत है—अनादि-अनन्त है। यह अनादि-अनन्त है, इसलिए इसमें अनन्त दिन-रात उत्पन्न और नष्ट हुए हैं और होंगे।'[1]

---

१ भगवई, ५।२५४, २५५।

भगवान् महावीर तीर्थंकर थे—शास्त्रकार थे। दूसरे के वचन को उद्धृत करना उनके लिए आवश्यक नही था। फिर भी उन्होने भगवान् पार्श्व के वचन को उद्धृत किया। इसका हेतु था भगवान् पार्श्व के श्रमणो को सत्य का बोध कराना। भगवान् पार्श्व के वचन का साक्ष्य देने से वह सरलता से हो सकता था, इसलिए भगवान् ने भगवान् पार्श्व के वचन का साक्ष्य प्रस्तुत किया। साथ-साथ भगवान् ने यह रहस्य भी समझा दिया कि सत्य स्वय सत्य है। वह किसी व्यक्ति के निरूपण से सत्य नही बनता। जिन्हे दर्शन प्राप्त हो जाता है, वे सब उसी सत्य को देखते हैं, जो स्वय सत्य है, किसी के द्वारा निरूपित होने से सत्य नहीं है।

भगवान् ने गौतम को आत्मा का बोध देने के लिए वेद मत्र उद्धृत किए थे।[1] इन सबके पीछे भगवान् का सापेक्षवाद बोल रहा था। सत्य सबके लिए एक है। उसका दर्शन सबको हो सकता है। वह किसी के द्वारा अधिकृत नही है। उसकी अभिव्यक्ति पर भी किसी का एकाधिकार नही है। इस यथार्थ का प्रतिपादन करने के लिए भी भगवान् दूसरो के वचन को उद्धृत करते और जिज्ञासा करने वाले को यह समझाते कि तुम जो जानना चाहते हो, उसका उत्तर तुम्हारे धर्मशास्त्र मे भी दिया हुआ है।

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३३६ : वेदपदाण य अत्थो भगवता से कहितो।

३६

धर्म-परिवर्तन : सम्मत और अनुमत

कुछ लोग पूछते हैं कि जैन हिन्दू हैं या नही ? उलझन-भरा प्रश्न है, इसलिए इसका उत्तर भी उलझन-भरा है। जैन कोई जाति नही है। वह एक धर्म है, तत्त्व-दर्शन है, विचार है। भारतीय जनता ने अनेक धर्मों को जन्म दिया है। उनमे मुख्य दो हैं—श्रमण और वैदिक। श्रमण धर्म पौरुषेय दर्शन के आधार पर चलता है। वैदिक धर्म का आधार है अपौरुषेय वेद। यह प्रश्न हो कि जैन वैदिक है या नही ? अथवा वैदिक जैन हैं या नही ? अथवा बौद्ध वैदिक हैं या नही ? यह सरल प्रश्न है और इसका उत्तर सरलता से दिया जा सकता है। जैन वैदिक नही है और वैदिक जैन नही हैं। दोनो दो भिन्न विचारधाराओ को मानकर चलते हैं, इसलिए दोनो एक नही हैं। किन्तु हिन्दू दोनो हैं। हिन्दू एक जाति है, जैन और वैदिक कोई जाति नही है। वह एक विचार है, दर्शन है। भगवान् महावीर के युग मे चलिए। वहां आपको एक परिवार मे अनेक धर्मों के दर्शन होगे। पति वैदिक है, पत्नी जैन। पति जैन है, पत्नी वैदिक। पति बौद्ध है, पत्नी जैन। पति आजीवक है, पत्नी बौद्ध। धर्म का स्वीकार उनके पारिवारिक जीवन मे उलझन पैदा नही करता था। वे अपने जीवन मे धर्म का परिवर्तन भी करते थे। जैन बौद्ध हो जाता और बौद्ध जैन। जैन वैदिक हो जाता और वैदिक जैन। यह जाति-परिवर्तन नही, किन्तु विचार-परिवर्तन था। भारतीय जाति मे इस विचार-परिवर्तन की पूरी स्वतन्त्रता थी। प्रदेशी राजा नास्तिक था। वह परलोक और पुनर्जन्म को नही मानता था। उसका अमात्य चित्त पूरा आस्तिक था। भगवान् पार्श्व का अनुयायी था। उसके प्रयत्न से प्रदेशी कुमार-श्रमण केशी के पास गया। उसके विचार बदल गए। वह भगवान् पार्श्व का अनुयायी बन गया।[1] स्कदक, अम्मड़ आदि अनेक परिव्राजक

---

१. रायपसेणइयं, सूत्र ७८६।

भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हुए।[1] जैन, बौद्ध और आजीवन धर्म के अनुयायी वैदिक धर्म मे दीक्षित नही हुए, यह नही कहा जा सकता। यह परिवर्तन अपनी रुचि और विचार के अनुसार चलता था। यह जाति-परिवर्तन नही था। इससे राष्ट्रीय चेतना भी नही बदलती थी। यह कार्य केवल विचार-परिवर्तन तक ही सीमित था। इसलिए इसे सब धर्मों द्वारा मान्यता मिली हुई थी।

मगध सम्राट् श्रेणिक का व्यक्तित्व उन दिनो बहुचर्चित था। उसके पिता का नाम प्रसेनजित था। वह भगवान् पार्श्व का अनुयायी था। श्रेणिक अपने कुल-धर्म का अनुसरण करता था। एक बार प्रसेनजित ने क्रुद्ध होकर श्रेणिक को अपने राज्य से निकाल दिया। उस समय वह एक बौद्ध मठ मे रहा। वहा उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। वह राजा बनने के बाद भी बौद्ध बना रहा। उसकी पटरानी थी चिल्लणा। वह भगवान् पार्श्व की शिष्या थी और श्रेणिक था भगवान् बुद्ध का शिष्य। दोनो दो दिशागामी थे और दोनो चाहते थे एक दिशागामी होना। श्रेणिक चिल्लणा को बौद्ध धर्म मे दीक्षित करना चाहता था और चिल्लणा श्रेणिक को जैन धर्म मे दीक्षित करना चाहती थी। दोनो मे विचार का भेद था पर पारिवारिक प्रेम से दोनो अभिन्न थे। उनका विचारभेद उनके सघन प्रेम मे एक भी छेद नही कर सका। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध—दोनो अहिंसा, मैत्री, शान्ति और सहिष्णुता के प्रवर्तक थे। दोनो घृणा करना नही सिखाते थे। इसलिए राजा और रानी के बीच कभी भी घृणा का बीज अकुरित नही हुआ। एक दिन श्रेणिक मडिकुक्ष चैत्य मे क्रीडा करने गया। उसने देखा, एक मुनि वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा मे खडा है। अवस्था मे तरुण और सर्वांग सुन्दर। श्रेणिक उसके रूप, लावण्य और सौकुमार्य पर मुग्ध हो गया। वह मुनि को अपलक निहारता रहा। मुनि की आकृति से झर रहे सौम्य का पान कर उसकी आखें खिल उठी। वह मुनि के निकट आकर बोला—'भते! आप कौन हैं? इस इठलाते यौवन मे आप मुनि क्यो बने हैं? मैं जानना चाहता हू। मुझे आशा है आप मेरी जिज्ञासा का समाधान देंगे।'

मुनि ध्यान पूर्ण कर बोले—'राजन्! मुझे कोई नाथ नही मिला, इसलिए मैं मुनि बन गया।'

'आश्चर्य! आप जैसे व्यक्तित्व को कोई नाथ नही मिला?'

'नही मिला तभी तो कह रहा हू।'

'आप मेरे साथ चलें। मैं आपका नाथ बनता हू। आपको शरण देता हू। मेरे प्रासाद मे सुख से रहें और सब प्रकार के भोगो का उपभोग करें।'

'तुम स्वयं अनाथ हो। तुम मुझे क्या शरण दोगे? मेरे नाथ कैसे बनोगे?

---

1 देखें—भगवती का दूसरा शतक तथा औपपातिक सूत्र आदि।

जो स्वयं अनाथ है, वह दूसरे का नाथ कैसे बन सकता है ?'

मुनि का यह वचन सुन राजा स्तब्ध रह गया। वह अपने मर्म को सहलाते हुए बोला—'आप मुनि हैं, गृहस्थ नहीं हैं। क्या आपके धर्माचार्य भगवान् महावीर ने आपको सत्य का महत्त्व नही समझाया है ?'

'समझाया है, बहुत अच्छी तरह से समझाया है।'

'फिर आप मुझे अनाथ कैसे कहते हैं ? क्या आप मुझे जानते नही ?'

'जानता हू, तभी कहता हू। मैं तुम्हें नही जानता तो अनाथ कैसे कहता ?'

'मैं आपकी बात नही समझ पाया। मेरे पास राज्य है, सेना है, कोष है, अनुग्रह और निग्रह की शक्ति है, फिर मैं अनाथ कैसे ?'

राजा का तर्क सुन मुनि बोले—'राजन् ! तुमने नहीं समझा कौन व्यक्ति अनाथ होता है और कौन सनाथ ? व्यक्ति कैसे अनाथ होता है और कैसे सनाथ ? मैं भिखारी का पुत्र नही हू। मेरा पिता कौशाम्बी का महान् धनी है। मुझे पूर्ण ऐश्वर्य और पूर्ण प्रेम प्राप्त था। मैं जीवन को पूरी तन्मयता से जी रहा था। एक दिन अचानक मेरी आख मे शूल चलने लगी। मैं पीडा से कराह उठा। मेरे पिता ने मेरी चिकित्सा कराने मे कोई कसर नही रखी। जाने-माने वैद्य आए, पर वे मेरी पीडा को दूर नही कर सके। मेरे पिता ने मेरे लिए धन का स्रोत-सा बहा दिया पर वे मेरी पीडा को दूर नही कर सके। मेरी माता, भाई और स्वजन वर्ग ने अथक चेष्टाए की पर वे मेरी पीडा को दूर नही कर सके। मेरी पत्नी ने अनगिन आंसू बहाए। उसने खान-पान तक छोड दिया। वह निरंतर मेरे पास बैठी-बैठी सिसकती रही पर वह मेरी पीड़ा को दूर नही कर सकी। मैं अनाथ हो गया। मुझे त्राण देने वाला कोई नही रहा। तब मुझे भगवान् महावीर की वाणी याद आई। मैंने अपना त्राण अपने मे ही खोजा। मैंने सकल्प किया—मेरी चक्षु-पीडा शान्त हो जाए तो मैं भगवान् महावीर की शरण मे चला जाऊ, सर्वात्मना आत्मा के लिए समर्पित हो जाऊ। सूर्योदय के साथ रात्रि का सघन अंधकार विलीन हो गया। सकल्प के गहन निकुज मे मेरी चक्षु-पीडा भी विलीन हो गई। मैं प्रसन्न था, मेरे पारिवारिक और चिकित्सक लोग आश्चर्य-चकित। मैंने अपना संकल्प प्रकट किया तब सब लोग अप्रसन्न हो गए और मैं आश्चर्य-चकित। मैंने सोचा—अत्राण व्यक्ति दूसरो को भी अत्राण देखना चाहते हैं। मैंने उस स्थिति को स्वीकार नहीं किया। मैं मुनि बन गया।'

मुनि की आत्म-कथा श्रेणिक के धर्म-परिवर्तन की कथा बन गई। वह मुनि की ओर ही आकृष्ट नही हुआ, भगवान् महावीर और उनकी धर्म-देशना के प्रति भी आकृष्ट हो गया।[1]

---

१ देखें—उत्तराध्ययन का बीसवां अध्ययन।

बौद्ध पिटकों में धर्म-परिवर्तन की अनेक घटनाएं उल्लिखित हैं। श्रेणिक भगवान् बुद्ध के पास जाकर उनका उपासक बन गया। अभयकुमार श्रेणिक का पुत्र था, अमात्य और सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी। वह भगवान् महावीर का उपासक था। भगवान् बुद्ध के पास गया, थोड़ी धर्मचर्चा की और उनकी शरण में चला गया।

उस युग मे धर्म-परिवर्तन का क्रम चलता था, यह सुनिश्चित है। पर अभयकुमार के प्रसगो को देखते हुए यह प्रतीति नही होती कि उसने धर्म-परिवर्तन किया। वह भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुआ और अन्त तक महावीर के शिष्यो में समादृत रहा।

श्रेणिक अभयकुमार को दीक्षित होने की अनुमति नही दे रहा था। अभयकुमार बार-बार दीक्षा की अनुमति माग रहा था। एक दिन श्रेणिक ने कहा—'जिस दिन मैं तुझे 'जा रे जा' कह दू, उस दिन तू दीक्षा ले लेना।'

एक दिन श्रेणिक सन्देह की कारा का बन्दी बन गया। अभयकुमार को राज-प्रासाद जलाने की आज्ञा देकर स्वय भगवान् महावीर के पास चला गया। वहां सन्देह का धागा टूटा। वह तत्काल लौट आया। उसने दूर से ही देखी आग की लपटे और धुआ। अभयकुमार मार्ग मे मिला। श्रेणिक ने पूछा—'यह क्या?' अभयकुमार ने कहा—'सम्राट् की आज्ञा का पालन।' श्रेणिक बोला—'जा रे जा, यह क्या किया तूने?' अभयकुमार की माग पूरी हो गई। वह सम्राट् की स्वीकृति ले भगवान् महावीर के पास दीक्षित हो गया।[1]

श्रेणिक के और भी अनेक पुत्र भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुए[2]। उनमे मेघकुमार की घटना बहुत प्रसिद्ध है। श्रेणिक की अनेक रानिया भी भगवान् के सघ मे दीक्षित हुई थी[3]। उसके जीवन-प्रसग इस ओर सकेत करते है कि जीवन के उत्तरार्द्ध मे उसके धर्माचार्य भगवान् महावीर ही रहे।

बिहार की पुण्य-भूमि उन दिनो धर्म-चेतना की जन्मस्थली बन रही थी। अनेक तीर्थंकर और धर्माचार्य धर्म के रहस्यों को उद्घाटित कर रहे थे। एक सत्य अनेक वचनो द्वारा विकीर्ण हो रहा था। एक आलोक अनेक खिड़कियो से फूट रहा था। जनता के सामने समस्या थी। वह अनेक आकर्षणो के झूले मे झूल रही थी।

---

१ अणुत्तरोववाइयदसाओ, १।१५, आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १७१: अभओ समातिओ पव्वतिओ।

२. अणुत्तरोववाइयदसाओ, १।१५।

३. अंतगडदसाओ, वर्ग ७, ८। श्रेणिक की कुछ रानिया तीर्थंकर महावीर के तीर्थंकर काल के सातवें वर्ष मे और कुछ रानियां चौदहवें वर्ष में प्रव्रजित हुई।

देश और काल मानवीय प्रगति के बहुत बड़े आयाम हैं। कोई काल ऐसा आता है कि उसमे अनेक महान् आत्माए एक साथ जन्म लेती हैं। महावीर का युग ऐसा ही था। उस युग ने धर्म को ऐसी गति दी कि उसका वेग आज भी तीव्र है। किन्तु उस वेग ने धर्म की भूमि मे कुछ रेखाए डाल दी। उन रेखाओ ने जाति का रूप ले लिया। इसीलिए यह प्रश्न पूछा जाता है कि जैन हिन्दू हैं या नही ? महावीर और बुद्ध ने वैदिक विधि-विधानो का मुक्त प्रतिरोध किया, पर आश्चर्य है कि उस युग मे किसी के मस्तिष्क मे यह प्रश्न नही उभरा कि जैन और बौद्ध हिन्दू हैं या नही? उस समय धर्म का कमल जातीयता के पक से ऊपर खिल रहा था।

३७

यथार्थवादी व्यक्तित्व : अतिशयोक्ति का परिधान

महान् व्यक्तित्व के जीवन पर जैसे-जैसे अतीत आवरण डालता जाता है, वैसे-वैसे उनके भक्त भी उनके साथ दैवी घटनाओ को जोडते जाते हैं। इस सत्य का अपवाद सभवत कोई भी महान् व्यक्ति नही है।

भगवान् महावीर उत्कट यथार्थवादी थे। आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् महावीर को यथार्थ की आख से देखा तो वे कह उठे—'भगवन् ! देवताओ का आगमन, विमानो का आगमन, चवर डुलाना—ये विभूतिया इन्द्रजालिको मे भी देखी जाती हैं। इन विभूतियो के कारण आप महान् नहीं हैं। आप महान् हैं अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण।'

आचार्य हेमचन्द्र ने एक धार्मिक कोलाहल सुना। कुछ लोग कह रहे हैं कि भगवान् महावीर के पास देवताओ का इन्द्र आता था और उनके चरणो में लुटता था। कुछ लोग कह रहे हैं कि महावीर के पास इन्द्र नही आता था। कुछ लोग कह रहे हैं इसमे महावीर की क्या विशेषता है। इन्द्र हमारे धर्माचार्य के पास भी आता था। इस कोलाहल को सुन आचार्य बोल उठे—'भगवन् ! आपके पास इन्द्र के आने का कोई निरसन कर सकता है, कोई तुलना कर सकता है, पर वे आपके यथार्थवाद का निरसन और तुलना कैसे करेंगे ?'

पौराणिक युग चमत्कारो, अतिशयोक्तियो और दैवी घटनाओ के उल्लेख का युग था। उस युग के कुहासे में यथार्थवाद की आत्मा धुधली-सी हो गई। पुराणकारों ने वासुदेव कृष्ण के जीवन मे दैवी चमत्कारों के असख्य इन्द्रधनुष तान दिए। गीता का यथार्थवादी कृष्ण पुराण की गगा मे नहाकर चमत्कारो का केन्द्र बन गया। जनता चमत्कारो को नमस्कार करती है। इन दैवी घटनाओ के वर्णन का लाभ वैष्णव सम्प्रदायो को बहुत मिला। वे जन-साधारण को अपनी ओर खीचने मे बहुत सफल रहे। बौद्ध जगत् ने भी पौराणिक पद्धति का अनुसरण किया।

भगवान् बुद्ध का यथार्थवादी जीवन चमत्कारो की परछाइयो से ढक गया। जैन आचार्य कुछ समय तक यथार्थवादी धारा को चलाते रहे। पर लोक-सग्रह का भाव यथार्थवाद को कब तक टिकने देता ? जैन लेखक भी पौराणिक प्रवाह मे बह गए। महावीर की यथार्थवादी प्रतिमा चमत्कार की पुष्पमालाओ से लद गई। अब प्रस्तुत है कुछ निदर्शन—

१. भगवान् महावीर का जन्म होते ही इन्द्र का आसन प्रकपित हुआ। उसने अपने ज्ञान से जान लिया कि भगवान् महावीर का जन्म हुआ है। वह बहुत प्रसन्न हुआ और अपने देव-देवियो के परिवार को लकर भगवान् के जन्म-स्थान पर पहुचा। वह भगवान् की माता को प्रणाम कर भगवान् को मेरु पर्वत के शिखर पर ले गया। जन्माभिषेक के लिए जल के एक हजार आठ कलश लेकर देव खड़े हुए तब इन्द्र का मन आशका से भर गया। क्या यह नवजात शिशु इतने जल-प्रवाह को सह लेगा ? भगवान् ने अपने ज्ञान से यह जान लिया। वे अनन्तबली थे। उन्होंने मेरु के शिखर को अपने बाए पैर के अगूठे से थोड़ा-सा दबाया तो वह विशाल पर्वत काप उठा। इन्द्र को अपने अज्ञान का भान हुआ। उसने क्षमायाचना की, फिर जलाभिषेक किया।

यह घटना आगम-साहित्य मे नही है। उसके व्याख्या-साहित्य मे भी नही है। यह मिलती है काव्य-साहित्य मे। कवि का सत्य वास्तविक सत्य से भिन्न होता है। उसका सत्य कल्पना से जन्म लेता है। वह जितना कल्पना-कुशल होता है, उतना ही उसका सत्य निखार पाता है। इस घटना का पहला कल्पना-शिल्पी कौन है, यह निश्चय की भाषा मे नही कहा जा सकता। विमलसूरि के 'पउमचरिउ', रविषेण के 'पद्मपुराण' और हेमचन्द्र के 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र' मे इस घटना का उल्लेख है।

जिस कवि ने इस घटना को महावीर के जीवन से जोड़ा, उसके मन मे महावीर को कृष्ण से अधिक बलिष्ठ सिद्ध करने की कल्पना रही है। एक बार इन्द्र ने ग्वालो को कठिनाई मे डाल दिया। उनकी सुरक्षा के लिए तरुण कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को हाथ से उठाया और सात दिन तक उसे उठाए रखा। भागवत का कृष्ण तरुण है। 'पउमचरिउ' का महावीर नव-जात शिशु है। गोवर्धन पर्वत एक योजन का है और मेरु पर्वत लाख योजन का। कृष्ण ने गोवर्धन को हाथ से उठाया और महावीर ने मेरु को पैर के अंगूठे से प्रकम्पित कर दिया।

'पउमचरिउ' की कल्पना भागवत की कल्पना से कम नही है। शरीर-बल के आधार पर कृष्ण महावीर से श्रेष्ठ नही हो सकते।

२ कुमार वर्धमान आठ वर्ष के थे। वे एक दिन अपने साथी राजपुत्रो के साथ 'तिदूसक' क्रीडा कर रहे थे। उस समय इन्द्र ने उनके पराक्रम की प्रशसा की। एक देव परीक्षा करने के लिए वहा पहुचा। वह बच्चे का रूप बना उनके

साथ क्रीड़ा करने लगा। एक वृक्ष को लक्ष्य बनाकर दोनों दौड़े। वर्धमान ने उससे पहले वृक्ष को छू लिया। वे विजयी हो गए। वह पराजित हुआ। क्रीड़ा के नियमानुसार विजयी बच्चा पराजित बच्चे को घोड़ा बनाकर उस पर चढ़ता है। वर्धमान पराजित बच्चे को घोड़ा बना, उस पर चढ़कर क्रीडास्थल मे आने लगे। उस समय उस बच्चे ने आकाश को छूने वाला रूप बना लिया। वर्धमान दैवी माया को समझ गये। उन्होने एक मुष्टि का प्रहार किया। देव का विशाल शरीर उस मुष्टि-प्रहार से सिमट गया। उसे वर्धमान के पराक्रम का पता चल गया। उसे अपने कार्य पर लज्जा का अनुभव हुआ। मानवीय पराक्रम के सामने उसका सिर झुक गया।[1]

इन्द्र स्वर्ग मे बैठा-बैठा यह सब देख रहा था। अपने वचन की सचाई प्रमाणित होने पर वह वर्धमान के पास आया। उसकी स्तुति कर इन्द्र ने वर्धमान का महावीर नाम कर दिया।

इस घटना को आप भागवत की निम्नलिखित घटना के सन्दर्भ मे पढ़िए—कृष्ण और बलभद्र ग्वाल बालकों के साथ आपस मे एक-दूसरे को घोडा बनाकर उस पर चढ़ने का खेल खेल रहे थे। उस समय कंस द्वारा भेजा हुआ प्रलंब नामक असुर उस खेल मे सम्मिलित हो गया। वह कृष्ण और बलभद्र को उठा ले जाना चाहता था। वह बलभद्र का घोडा बनकर उन्हे दूर ले गया। उसने प्रचण्ड विकराल रूप प्रकट किया। बलभद्र इस घटना से भयभीत नही हुए। उन्होने एक मुष्टि-प्रहार किया। उससे असुर के मुह से खून गिरने लगा। अन्त मे उसे मार डाला।[2]

उक्त दोनो घटनाओ मे कवि की लेखनी का चमत्कार है। महावीर के पराक्रम को अभिव्यक्ति देने के लिए कवि ने कुछ रूपको की कल्पना की है। रूपक सत्य है या असत्य—इस बात से कवि को कोई प्रयोजन नही है। उसका जो प्रयोजन है, वह सत्य है। महावीर का पराक्रम अद्भुत और असाधारण था, इस रहस्य का उद्घाटन ही कवि का प्रयोजन है। यह सत्य है।

सत्य की दृष्टि प्राप्त होने पर तथ्य की चढाई सहज-सरल हो जाती है।

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४६-२४८।
२. भागवत, १०।२०।१८-३०।

३८

अलौकिक और लौकिक

जो सबके जीवन मे घटित होता है वह सहज ही बुद्धिगम्य हो जाता है। जो कुछेक व्यक्तियो के जीवन मे घटित होता है वह बुद्धि मे परे होता है। उसे हम अलौकिक कहकर स्वीकार करते हैं या उसे सर्वथा अस्वीकार कर देते हैं। जो घटित होता है, वह स्वीकृति या अस्वीकृति से निरपेक्ष होकर ही घटित होता है।

महावीर के जीवन की घटना है कि वे गर्भ मे थे। उनका ज्ञान बहुत स्पष्ट था। छह मास बीत जाने पर एक दिन उन्होने अकस्मात् हिलना-डुलना बन्द कर दिया। त्रिशला के मन मे आशका उत्पन्न हुई कि क्या गर्भ जीवित नही है ? यदि है तो यह हलन-चलन बन्द क्यो ? चिन्ता की ऊर्मिया उसकी प्रसन्नता को लील गई। उसका उदास चेहरा देख सखी बोली—

'बहन ! कुशल हो न ?'

'गर्भ के कुशल नही, तब मै कुशल कैसे हो सकती हू ?'

'यह क्या कह रही हो ?'

'सच कह रही हू। यह कोई मखौल नही है।'

'हाय ! यह क्या हुआ ?'

'कल्पवृक्ष मरुभूमि मे अकुरित होता है क्या ?'

त्रिशला की व्यथा मूर्त हो गई। लगा कि सखी को वह नही झाक रही है, उसकी व्यथा झाक रही है। वह नही बोल रही है, उसकी व्यथा बोल रही है। व्यथा की प्रखरता ने सखी को भी व्यथित कर दिया। उसने महाराज सिद्धार्थ को इस वृत्त की सूचना दी। वह भी व्यथित हो गया। जैसे-जैसे वृत्त फैलता गया वैसे-वैसे व्यथा भी फैलती गयी। नाटक बद हो गए। पूरा राज्य-परिवार शोक-मग्न हो गया। सूर्य उगता-उगता जैसे कुछ क्षणो के लिए थम गया।

महावीर ने बाहर की घटनाओ को देखा। वे आश्चर्य-चकित रह गए। उन्होंने

सोचा—कभी-कभी अच्छा करना भी बुरा हो जाता है। मैंने माता के सुख के लिए हिलना-डुलना बन्द किया। वह दु.ख के लिए हो गया। स्वाभाविक को अस्वाभाविक प्रयत्न मान्य नही है। महावीर ने फिर हलन-चलन शुरू की। माता की आशका दूर हो गई। समूचा परिवार व्यथा के ज्वार से मुक्त हो गया। वाद्यो के मगल-घोष से आकाश गूज उठा। महावीर माता-पिता के प्रेम से अभिभूत हो गए। उन्होने प्रतिज्ञा की—'मै माता-पिता के जीवित काल मे दीक्षित नही होऊगा।'[1] माता-पिता के प्रति उनका लौकिक प्रेम अलौकिक बन गया।

अभिमन्यु ने व्यूह-रचना का ज्ञान गर्भ मे ही पाया था। और भी कुछ घटनाए ऐसी हो सकती हैं। किन्तु विश्व के इतिहास मे ऐसी घटनाए बहुत विरल हैं। इसलिए बौद्धिक स्तर पर इनकी व्याख्या बहुत स्पष्ट नही है। गर्भ के विषय मे सूक्ष्म अध्ययन होने पर सम्भव है कि नए तथ्य उद्घाटित हो और असम्भव सम्भव के धरातल पर उतर आए।

---

१. कल्पसूत्र, ८७-९१।

३९

सर्वज्ञता : दो पार्श्व दो कोण

अतीत के व्यक्तित्व का दर्शन हमे दो आयामो मे होता है। एक प्रशसा का आयाम है, दूसरा आलोचना का। इन दोनो से व्यक्ति को समझा जा सकता है।

भगवान् महावीर का व्यक्तित्व इन दोनो आयामो मे फैला हुआ है। कोई भी व्यक्तित्व एक आयाम मे नही फैलता, केवल प्रशस्य या केवल आलोच्य नही होता। जैन साहित्य मे महावीर का प्रशस्य व्यक्तित्व मिलता है और बौद्ध साहित्य मे आलोच्य। तटस्थता को दोनो की एक साथ अपेक्षा है, पर वह प्राप्त नही है। वैदिक साहित्य मे महावीर की प्रशसा या आलोचना—दोनो नही है, यह बहुत बडा प्रश्न है। इतिहासकार को अभी इसका उत्तर देना है।

भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध दोनो श्रमण परम्परा से सम्बद्ध है। दोनो मे असमानता के तत्त्व होने पर भी समानता के तत्त्व कम नही हैं। साहित्य के साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि जैन और बौद्ध दोनो सघ प्रतिस्पर्धी थे। जैन आगमो मे कही भी बुद्ध की कटु आलोचना नही है। बौद्ध पिटको मे महावीर की बहुत कटु आलोचना है, अपशब्दो का प्रयोग भी है। बुद्ध ने ऐसा नही भी किया हो। वे महान् साधक थे। फिर वे ऐसा किसलिए करते ? यह सब पिटककारो की भावना का प्रतिबिम्ब लगता है। उस समय जैन सघ बहुत शक्तिशाली था। उसे बौद्धो पर आक्षेप करने की सम्भवत आवश्यकता ही प्रतीत नही हुई। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अशक्त व्यक्ति सशक्त के प्रति आक्षेप करता है, सशक्त अशक्त के प्रति आक्षेप नही करता।

जैन आगमो के अनुसार भगवान् महावीर स ज्ञ और सर्वदर्शी थे। वे सम्पूर्ण लोक के सब जीवो के सब पर्याय जानते-देखते थे। बौद्ध पिटको मे भगवान् महावीर के सर्वज्ञ और सर्वदर्शी स्वरूप पर व्यग किया गया है।

एक समय भगवान् बुद्ध राजगृह के वेणुवन कादलक निकाय मे विहार करते

थे। उस समय सकुल उदायी परिव्राजक महती परिषद् के साथ परिव्राजकाराम में वास करता था। भगवान् बुद्ध पूर्वाह्न के समय सकुल उदायी के पास गए। उदायी ने भगवान् बुद्ध से धर्मोपदेश देने का अनुरोध किया। भगवान् ने कहा—'उदायी ! तुम्ही कुछ कहो।' तब उदायी ने कहा—'भते ! पिछले दिनों जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने का दावा करते हैं, चलते, खडे, सोते, जागते भी मुझे निरन्तर ज्ञान दर्शन उपस्थित रहता है, यह कहते हैं, वे प्रश्न पूछने पर इधर-उधर जाने लगे। बाहर की कथा मे जाने लगे। उन्होने कोप, द्वेष और अविश्वास प्रकट किया। तब भते ! मुझे भगवान् के ही प्रति प्रीति उत्पन्न हुई।'

'कौन हैं ये उदायी ! जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने का दावा करते हैं और इधर-उधर जाने लगे ?'

'भते ! निग्गठ नातपुत्त।'

जैन दर्शन का अभिमत है कि जिसका ज्ञान अनावृत हो जाता है, वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। महावीर ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो सकता है, ऐसा *महावीर ने नही कहा। उन्होने कहा—ज्ञानावरण और दर्शनावरण के विलय की* साधना करने वाला कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो सकता है।

भगवान् महावीर की सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप मे सर्वत्र प्रसिद्धि थी—यह उक्त चर्चा से स्पष्ट है।

सर्वज्ञ होना आन्तरिक उपलब्धि है। बाह्य को देखने वाली आखे उसे जान नही पाती। भगवान् पार्श्व के शिष्य भगवान् महावीर के सर्वज्ञत्व को सहसा स्वीकार नही करते थे। वे समीक्षा के बाद ही उसे स्वीकार करते थे।

एक बार भगवान् वाणिज्यग्राम के पार्श्ववर्ती दूतिपलाश चैत्य मे ठहरे हुए थे। उस समय भगवान् पार्श्व के शिष्य 'गागेय' नामक श्रमण भगवान् के पास आए और अनेक प्रश्न पूछे। प्रश्नोत्तरो के क्रम मे भगवान् ने कहा—'लोकनेता पार्श्व ने लोक को शाश्वत बतलाया है। इसलिए मैं कहता हू कि जीव सत् रूप मे उत्पन्न और च्युत होते हैं।'

यह सुन गागेय बोले—'भते ! आप जो कह रहे है, वह स्वय जानते हैं या नही जानते ? आप किसी से सुने बिना कहते है या सुनकर कहते हैं ?'

तब भगवान् ने कहा—'मैं स्वय जानता हू, बिना सुने जानता हू।'

'आप स्वय कैसे जानते हैं ?'

'मेरा ज्ञान अनावृत है। जिसका ज्ञान अनावृत होता है, वह मित को भी जानता है और अमित को भी जानता है। मैं मित और अमित—दोनो को जानता हू। मैंने अर्हत् पार्श्व के वचन का उद्धरण तुम्हारी श्रद्धा को सहारा देने के लिए दिया है।'

भगवान् की वाणी सुन गागेय का सन्देह दूर हो गया। उन्हे विश्वास हो गया

कि भगवान् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है । मन का विश्वास जागने पर उन्होंने भगवान् को वंदना की और अपने को भगवान् के धर्म-शासन मे विलीन कर दिया ।[1]

भगवान् महावीर सर्वज्ञ थे या नही, इसका निर्णय मैं नही दे सकता। क्योकि मैं सर्वज्ञ नही हू। असर्वज्ञ आदमी किसी को सर्वज्ञ स्थापित नही कर सकता। सुधर्मा भगवान् के गणधर थे। वे भगवान् के साथ रहे थे। उनके प्रधान शिष्य थे जम्बू। उनके पास कुछ श्रमण और ब्राह्मण आए। उनसे धर्म-चर्चा की। जम्बू ने अहिंसा धर्म का मर्म समझाया। उनकी बुद्धि आलोक से जगमगा उठी। वे बोले—'भंते ! इस अहिसा धर्म का प्रतिपादन किसने किया है ?'

'भगवान् महावीर ने ।'

'उनका ज्ञान और दर्शन कितना विशाल था ? आपने अपने आचार्य के पास सुना हो तो हमे बताए ।'

'मेरे आचार्य सुधर्मा ने मुझे बताया था कि भगवान् का ज्ञान और दर्शन अनन्त था ।'

जो ज्ञान अनावृत होता है, वह अनन्त होता है। वह अनावृत ज्ञान ही सर्वज्ञता है। तार्किक युग मे सर्वज्ञता की परिभाषा काफी उलझ गई। स्फटिक का निर्मल होना उसकी प्रकृति है। वह कोई आश्चर्य नही है। चेतना का निर्मल होना भी आत्मा की सहज प्रकृति है। वह कोई आश्चर्य नही है। आश्चर्य उन लोगो को होता है, जिनका ज्ञान आवृत है, जो इन्द्रिय के माध्यम से वस्तु को जानते है।

परिव्राजक स्कंदक भगवान् महावीर के पास आ रहा था। गौतम उसके सामने गए। उन्होंने कहा—'स्कंदक ! क्या यह सच है कि पिंगल निर्ग्रन्थ ने आपसे प्रश्न पूछे ? आप उनका उत्तर नही दे सके, इसीलिए आप भगवान् महावीर के पास जा रहे हैं ?'

गौतम की यह बात सुन स्कंदक आश्चर्यचकित हो गया। उसने कहा—'यह मेरे मन की गूढ बात किसने बताई ? कौन है ऐसा ज्ञानी ?'

गौतम बोले—'यह बात भगवान् महावीर ने बताई। वे ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले अर्हत् है। वे भूत, भविष्य और वर्तमान को जानते है। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है।'[2]

भगवान् यदा-कदा ऐसी अलौकिक बातें, पूर्वजन्म की घटनाए बताया करते थे। ये उनके सर्वज्ञ होने की साक्ष्य नही है। उनकी सर्वज्ञता उनकी चेतना के अनावृत होने मे ही चरितार्थ होती है।

---

१. भगवई, ६।१२२-१३४।
२ भगवई, २।३६-३८।

४०

बौद्ध साहित्य में महावीर

बौद्ध पिटकों मे भगवान् महावीर के सिद्धान्तो का बार-बार उल्लेख हुआ है। उन सबमे भगवान् महावीर के जीवन और सिद्धान्तों का आकर्षण दिखलाने का प्रयत्न है। यह उस समय की शैली या साम्प्रदायिक मनोवृत्ति है। इसकी उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु पिटक साहित्य मे भगवान् महावीर के विषय मे कुछ तथ्य सुरक्षित हैं, उनकी उपेक्षा नही की जा सकती। वे बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनमे भगवान् महावीर के विहार और सिद्धान्तो के बार मे कुछ नई जानकारी मिलती है।

भगवान् महावीर श्रद्धा की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्त्व देते थे।

उस समय निग्गठ नातपुत्त मच्छिकासण्ड मे अपनी बडी मण्डली के साथ पहुचा हुआ था।

गृहपति चित्र ने सुना कि निग्गठ नातपुत्त मच्छिकासण्ड मे ठहरे हुए हैं। चित्र कुछ उपासको के साथ वहा पहुचा और कुशल-क्षेम पूछकर एक ओर बैठ गया।

एक ओर बैठे गृहपति चित्र से निग्गठ नातपुत्त बोला—'गृहपति ! तुम्हे क्या ऐसा विश्वास है कि श्रमण गौतम को भी अवितर्क-अविचार समाधि लगती है ? उसके वितर्क और विचार का क्या निरोध होता है ?'

'भते ! मैं श्रद्धा से ऐसा नही मानता कि भगवान् को अवितंक-अविचार समाधि लगती है।'

इस पर निग्गठ ने अपनी मण्डली की ओर देखकर कहा—'आप सब देखें, चित्र गृहपति कितना सीधा है, सच्चा है, निष्कपट है ! वितर्क और विचार का निरोध कर देना मानो हवा को जाल से रोकना है।'

'भते ! ज्ञान बड़ा है या श्रद्धा ?'

'गृहपति ! श्रद्धा से ज्ञान ही बडा है।'

'भंते ! जब मेरी इच्छा होती है, मैं प्रथम-ध्यान को प्राप्त होकर विहार करता हू। द्वितीय-ध्यान को, तृतीय-ध्यान को और चतुर्थ-ध्यान को प्राप्त कर विहार करता हू।'

'भंते ! मैंने स्वय ऐसा जाना और देखा है। ऐसी स्थिति मे क्या मैं किसी ब्राह्मण या श्रमण की श्रद्धा से ऐसा जानूगा कि अवितर्क-अविचार समाधि होती है तथा वितर्क और विचार का निरोध होता है ?'

चित्र की यह बात सुनकर निगठ नातपुत्त ने अपनी मण्डली से कहा—'आप लोग देखें—चित्र गृहपति कितना टेढा है, शठ है, कपटी है।'

'भंते ! अभी तो आपने कहा था कि चित्र कितना सीधा है, सच्चा है और निष्कपट है और अभी आप कहते है कि चित्र कितना टेढा है, शठ और कपटी है। भंते ! यदि आपकी पहली बात सच है तो दूसरी बात झूठ और यदि दूसरी बात सच है तो पहली बात झूठ।'

भगवान् महावीर सामयिक समस्याओ के प्रति भी बहुत जागरूक थे। उन्होने मुनि के लिए माधुकरी वृत्ति का प्रतिपादन किया। वे नही चाहते थे कि कोई मुनि गृहस्थ के लिए भार बने।

बौद्ध भिक्षु निमंत्रित भोजन करते थे। इसलिए अकाल के समय मे उनका समुदाय कठिनाई भी उपस्थित करता था। भगवान् महावीर के उपासक असिबन्धकपुत्र ने इस ओर सकेत किया था—

'एक समय भगवान् बुद्ध कौशल मे चारिका करते हुए बडे भिक्षु-सघ के साथ नालन्दा पहुचे। वहा प्रावारिक आम्रवन मे ठहरे।

उस समय नालन्दा मे दुर्भिक्ष था। लोगो के प्राण निकल रहे थे। मरे हुए लोगो की उजली-उजली हड्डिया विकीर्ण पडी हुई थी। लोग सूखकर सलाई बन गए थे।

उस समय निगठ नातपुत्त अपनी बडी मण्डली के साथ नालन्दा मे ठहरा हुआ था।

तब नातपुत्त का श्रावक असिबन्धकपुत्र ग्रामणी वहा गया और अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। नातपुत्त ने कहा—'ग्रामणी ! तुम जाकर श्रमण गौतम के साथ वाद करो, इससे तुम्हारा बडा नाम होगा।'

'भंते ! इतने महानुभाव श्रमण गौतम के साथ मैं कैसे वाद करू ?'

'ग्रामणी ! जहा श्रमण गौतम हैं, वहा जाओ और बोलो—भंते ! भगवान् अनेक प्रकार से कुलो के उदय, रक्षा और अनुकम्पा का वर्णन करते हैं न ?'

'ग्रामणी ! यदि श्रमण गौतम कहेगा कि 'हा ग्रामणी ! बुद्ध अनेक प्रकार से कुलो के उदय, रक्षा और अनुकम्पा का वर्णन करते हैं तो तुम कहना—भंते !

भगवान् इस दुर्भिक्ष में इतने बड़े संघ के साथ चारिका क्यों कर रहे हैं? क्यों कुलों के नाश और अहित के लिए भगवान् तुले हैं?'

'ग्रामणी! इस प्रकार दोतरफा प्रश्न पूछे जाने पर श्रमण गौतम न उगल सकेगा और न निगल सकेगा।'

'भंते! बहुत अच्छा' कहकर असिबन्धकपुत्र ग्रामणी वहा से चलकर भगवान् बुद्ध के पास आया। नमस्कार कर एक ओर बैठ गया। कुछ क्षणों बाद बोला— भंते! भगवान् अनेक प्रकार के कुलो के उदय, रक्षा और अनुकम्पा का वर्णन करते हैं, न?

'हां, ग्रामणी! करते हैं।'

'भंते! तो भगवान् इस दुर्भिक्ष मे इतने बड़े सघ के साथ चारिका क्यों करते हैं? क्यो कुलो के नाश और अहित के लिए भगवान् तुले हैं?'[1]

भगवान् महावीर लोक को सान्त और अलोक को अनन्त प्रतिपादित करते थे। पिटक साहित्य से इस बात की पुष्टि हाती है।

दो लोकायतिक ब्राह्मण भगवान् के पास आए और अभिवादन कर पूछा— 'भंते! पूरणकश्यप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निखिल ज्ञान-दर्शन का अधिकारी है? वह मानता है कि मुझे चलते, खडे रहते, सोते, जागते भी निरतर ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। वह कहता है—मैं अनन्त ज्ञान से अनन्त लोक को जानता-देखता हूं। भंते! निग्गठ नागपुत्त भी ऐसे ही कहता है। वह भी कहता है, मैं अपने अनन्त ज्ञान से अनन्त लोक को देखता-जानता हूं। इस परस्पर-विरोधी ज्ञानवादो में हे गौतम! कौन-सा सत्य है और कौन-सा असत्य?'[2]

---

१ संयुत्तनिकाय, भाग २, पृ० ५८५, ५८६।

२ अंगुत्तरनिकाय ६।४।७ के आधार पर।

४१

प्रवृत्ति बाहर में : मानदण्ड भीतर में

भगवान् बुद्ध ने महानाम से कहा—'एक समय मै राजगृह मे गृध्रकूट पर्वत पर विहार कर रहा था। उस समय बहुत से निर्ग्रन्थ ऋषिगिरि की कालशिला पर खडे रहने का व्रत ले, आसन छोड तीव्र वेदना झेल रहे थे। तब मैं महानाम ! सायकाल ध्यान से उठकर जहा ऋषिगिरि के पास कालशिला थी, वहा पर वे निर्ग्रन्थ थे, वहा गया। मैंने उनसे कहा—'आयुष्मान् निर्ग्रन्थो ! तुम खडे रहने का व्रत ले, आसन छोड तीव्र वेदना झेल रहे हो ?' ऐसा कहने पर उन निर्ग्रन्थो ने कहा—'आयुष्मान् ! निर्ग्रन्थ नातपुत्त (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। चलते, खडे, सोते, जागते सदा निरन्तर उनको ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। वे ऐसा कहते हैं—'निर्ग्रन्थो ! जो तुम्हारा पहले का किया हुआ कर्म है, उसे इस दुष्कर क्रिया (तपस्या) से नष्ट करो। इस समय काय, वचन और मन से सवृत रहो। इस प्रकार तपस्या से पुराने कर्मो का अन्त होने और नए कर्मो को न करने से भविष्य मे चित्त अनास्रव (निर्मल) होगा। भविष्य मे आस्रव न होने से कर्म का क्षय होगा। कर्म-क्षय से दु ख का क्षय, दु ख-क्षय से वेदना का क्षय और वेदना-क्षय से सभी दु ख नष्ट होगे। हमे यह विचार रुचता है। हम इससे सतुष्ट हैं।'

निर्ग्रन्थो ने कहा—'आयुष्मान् गौतम ! सुख से सुख प्राप्य नही है। दु ख से सुख प्राप्य है।'

मज्झिम निकाय के इस प्रसग से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर तपस्या और सवर— इन दो धर्मो का प्रतिपादन करते थे। सचित जल को उलीच कर निकाल दिया जाए और जल आने के नाले को बन्द कर दिया जाए—यह है तालाब को खाली करने की प्रक्रिया।

भगवान् महावीर काय, वचन और मन—इन तीनो को बधनकारक मानते थे। इसलिए भगवान् ने तीन सवरों का प्रतिपादन किया—

१. काय सवर—कायिक चंचलता का निरोध।
२. वचन सवर—मौन।
३ मन संवर—ध्यान।

काया को पीड़ा देना भगवान् को इष्ट नहीं था। किन्तु सवर की अर्हता पाने के प्रयत्न मे काया को कष्ट हो तो उससे बचना भी उन्हे इष्ट नहीं था। खड़े रहने से बैठना और बैठने से सोना सुखद है, पर खडे-खड़े ध्यान करने से जो शक्ति का वर्तुल बनता है, वह बैठे-बैठे और लेटे-लेटे ध्यान करने से नही बनता।

काया और वचन का सचालन मन करता है, इसलिए भगवान् बुद्ध मन को ही बधन और मुक्ति का कारक मानते थे। मज्झिमनिकाय का एक प्रसंग है—

'उस समय निग्गथ नातपुत्त निर्ग्रन्थों की बडी परिषद् के साथ नालन्दा में विहार करते थे। तब दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने नालन्दा मे भिक्षाचार कर भोजन किया। उसके पश्चात् वह प्रावारिक आम्रवन में, जहा भगवान् थे, वहां गया। भगवान् से कुशल प्रश्न पूछकर एक ओर खडा हो गया। भगवान् ने कहा—'तपस्वी! आसन मौजूद है, यदि इच्छा हो तो बैठ जाओ।' दीर्घ तपस्वी एक आसन ले एक ओर बैठ गया। भगवान् बोले—'तपस्वी! पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए निग्गथ नातपुत्त कितने कर्मों का विधान करते हैं?'

'आयुष्मान्! गौतम! कर्म का विधान करना निग्गथ नातपुत्त की रीति नही है। आयुष्मान्! गौतम! दड का विधान करना नातपुत्त की रीति है।'

'तपस्वी! तो फिर पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए नातपुत्त कितने दडो का विधान करते है?'

'आयुष्मान्! गौतम! पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए निग्गंथ नातपुत्त तीन दण्डो का विधान करते हैं, जैसे—कायदण्ड, वचनदण्ड और मनदण्ड।'

'तपस्वी! तो क्या कायदड दूसरा है, वचनदण्ड दूसरा है और मनदण्ड दूसरा है?'

'आयुष्मान्! गौतम! कायदण्ड दूसरा ही है, वचनदण्ड दूसरा ही है और मनदण्ड दूसरा ही है।'

'तपस्वी! इन तीनो दण्डो मे निगथ नातपुत्त पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए किस दण्ड को महादोषयुक्त प्रतिपादित करते हैं—कायदण्ड को, वचनदण्ड को या मनदण्ड को?'

'आयुष्मान्! गौतम! इन तीनो दडो मे निग्गंथ नातपुत्त पापकर्म की प्रवृत्ति के लिए कायदड को महादोषयुक्त प्रतिपादित करते हैं वैसा वचनदड को नहीं, वैसा मनदड को नही।'

'आयुष्मान्! गौतम! पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए कितने दडों का विधान करते हो?'

'तपस्वी ! दड का विधान करना तथागत की रीति नहीं है। कर्म का विधान करना तथागत की रीति है।'

'आयुष्मान् ! गौतम ! फिर कितने कर्मों का विधान करते हो ?'

'तपस्वी ! मैं तीन कर्म बतलाता हू। जैसे—कायकर्म, वचनकर्म और मन-कर्म।'

'आयुष्मान् ! गौतम ! तो क्या कायकर्म दूसरा है, वचनकर्म दूसरा है और मनकर्म दूसरा है।'

'तपस्वी ! कायकर्म दूसरा ही है, वचनकर्म दूसरा ही है, और मनकर्म दूसरा ही है।'

'आयुष्मान् ! गौतम ! इन तीन कर्मों मे से पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए किसको महादोषी ठहराते हो— कायकर्म को, वचनकर्म को या मनकर्म को ?'

'तपस्वी ! इन तीनो कर्मों मे मैं मनकर्म को महादोषी बतलाता हू।'

दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ आसन से उठ जहा निग्गथ नातपुत्त थे, वहा चला गया।

उस समय निग्गथ नातपुत्त बालक (लोणकार) निवासी उपाली आदि की बडी गृहस्थ-परिषद् के साथ बैठे थे। तब निग्गथ नातपुत्त ने दूर से ही दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रन्थ को आते देख पूछा—

'तपस्वी ! मध्याह्न मे तू कहा से आ रहा है ?'

'भते ! श्रमण गौतम के पास से आ रहा हू।'

'तपस्वी ! क्या तेरा श्रमण गौतम के साथ कथा-सलाप हुआ ?'

'भते ! हा, श्रमण गौतम के साथ मेरा कथा-सलाप हुआ।'

'तपस्वी ! श्रमण गौतम के साथ तेरा क्या कथा-सलाप हुआ ?'

तब दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने भगवान् के साथ जो कुछ कथा-सलाप हुआ था, वह सब निग्गथ नातपुत्त को कह दिया।

'साधु ! साधु ! तपस्वी ! जैसा कि शास्ता के शासन को जानने वाले बहुश्रुत श्रावक दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने श्रमण गौतम को बतलाया। वह मृत मनदड इस महान् कायदड के सामने क्या शोभता है ? पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए कायदड ही महादोषी है, वचनदड और मनदड वैसे नही।'[1]

भगवान् महावीर अनेकान्तदृष्टि के प्रवक्ता थे। वे किसी तथ्य को एकांगी दृष्टि से नही देखते थे। प्रवृत्ति का मूल स्रोत काय है। इसलिए कायदंड महादोषी हो सकता है। प्रवृत्ति का प्रेरणा-स्रोत मन है, इसलिए वह भी महादोषी हो सकता है। प्रवृत्ति के सत् या असत् होने का मानदड मन ही है।

भगवान् महावीर राजगृह मे विहार कर रहे थे। सम्राट् श्रेणिक भगवान् को

---

१. मज्झिमनिकाय, उपालिसुत्त ६।१ से २१।

वंदना करने गया। उसने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को देखा। राजर्षि की ध्यान-मुद्रा को नमस्कार किया और मन ही मन उनके ध्यान की प्रशंसा करता हुआ आगे बढ़ गया। वह भगवान् के पास आकर बोला—'भंते! मैंने आते समय राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को देखा है। उनकी ध्यान-मुद्रा को देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया। लग रहा था कि अभी वे बहुत तन्मय हैं। इस समाधि-अवस्था में उनका शरीर छूट जाए तो वे निश्चय ही निर्वाण को प्राप्त होंगे। क्यों भंते! मैं ठीक कह रहा हूं न ?'

'नहीं।'

'यह कैसे, भंते ?'

'तुम शरीर को देख रहे हो। समाधि का मानदंड कुछ दूसरा है।'

'तो उनकी क्या गति होगी ?'

'नरक।'

'नरक ?'

'हां, नरक।'

'यह कैसे, भंते ?'

'यह शरीर नरक में नहीं जाएगा। जो नरक में जा सकता है, वह अभी उसी दिशा में आगे बढ़ रहा है।'

'भंते! मैं उलझ गया हूं। आप मुझे सुलझाइए।'

भगवान् ने कहा—'तुम्हारे आगे दो सेनानी चल रहे थे—सुमुख और दुर्मुख। उनने देखा एक मुनि अनावृत आकाश में एक पैर के बल पर खड़े हैं। दृष्टि सूर्य के सामने है। सुमुख बोला—'कितनी महान् साधना है!'

दुर्मुख बोल उठा—'यह क्या साधना? इसने सब कुछ नष्ट कर दिया। यह पोतनपुर का राजा प्रसन्नचन्द्र है। इसने अपने छोटे बच्चे के कंधों पर राज्य का भार वैसे ही डाल दिया है, जैसे बडी गाड़ी में छोटा बछड़ा जोत दिया हो। वह बेचारा शासन चलाने योग्य नहीं है। उसके मंत्री राजा दधिवाहन से मिल गए हैं। अब उसे राज्यच्युत करने का षड्यन्त्र चल रहा है। यह कैसा धर्म? यह कैसी साधना ?'

वे दोनों बातें करते-करते आगे बढ़ गए।

दुर्मुख की बातें सुन मुनि का ध्यान भंग हो गया। उन्होंने सोचा—मैंने मंत्रियों को सदा आगे बढ़ाया। आज वे बदल गए। लगता है वे सत्तालोलुप हो गए। मनुष्य कितना कृतघ्न होता है! वह अवसर का लाभ उठाने से नहीं चूकता। मैं वहां जाऊं और उन्हें कृतघ्नता का फल चखाऊं।

राजर्षि संकल्प का आरोहण कर पोतनपुर पहुंच गया। मंत्रियों को उनकी करनी का फल चखाना शुरू कर दिया। उसका शरीर खड़ा है ध्यान की मुद्रा में और उसका मन लड़ रहा है पोतनपुर के प्रांगण में।

सम्राट् ने कहा—'भंते ! बहुत आश्चर्य है। ये हमारी आंखें कितना धोखा खा जाती हैं। हम शरीर के आवरण मे छिपे मन को देख ही नही पाते। भंते ! अब भी राजर्षि नरक की दिशा मे प्रयाण कर रहे हैं या लौट रहे हैं ?'

'लौट चुके हैं।'

'भंते ! किस दिशा मे ?'

'निर्वाण की दिशा मे।'

'यह कैसे हुआ, भंते ?'

'आवेश का अंतिम बिन्दु लौटने का आदि-बिन्दु होता है। राजर्षि मानसिक युद्ध करता-करता उसके चरम बिन्दु पर पहुच गया। तब उसे अपने अस्तित्व का भान हुआ। वह कल्पना-लोक से उतर वर्तमान के धरातल पर लौट आया। वहां पहुचकर उसने देखा—न कोई राज्य है, न कोई राजा और न कोई मंत्रियो का षड्यंत्र। वह सब वाचिक था। उसने राजर्षि को इतना उत्तेजित कर दिया कि वह कुछ सोचे-विचारे बिना ही कल्पना-लोक की उड़ान भरने लगा। अब वर्तमान की जकड़ मजबूत हो गई है। इसलिए राजर्षि निर्वाण की दिशा मे बढ रहा है।'

सम्राट् भगवान् की वाणी को समझने का प्रयत्न कर रहा था। इतने मे भगवान् ने कहा—'श्रेणिक ! राजर्षि अब केवली हो चुका है।'

पाप की प्रवृत्ति करने मे मन के सामने शरीर का कितना मूल्य है, यह बता रही है राजर्षि की ध्यान-मुद्रा। ध्यान-मुद्रा मे खड़े हुए शरीर को मन के दोष का भार ढोना पड़े, यह उसकी दुर्बलता ही तो है। प्रवृत्ति के सत् या असत् होने का मानदंड यदि शरीर ही हो तो ध्यान-मुद्रा मे खडा हुआ व्यक्ति नरक की दिशा मे नही जा सकता।

४२

पारदर्शी दृष्टि : व्यक्त के तल पर अव्यक्त का दर्शन

हम जिस जगत् मे जी रहे है, उसमें तीन काल हैं—अतीत, अनागत और वर्तमान। भारतीय दर्शन ने बहुत पहले से इनके सम्बन्ध की खोज शुरू की। यह खोज समन्वय की प्रस्थापना है। एक काल मे अनेक घटनाए घटित होती हैं, उनमे साहचर्य का सम्बन्ध होता है। कुछ घटनाए कालक्रम से घटित होती हैं, उनमे पौर्वापर्य का सम्बन्ध होता है। एक घटना दूसरी घटना को निर्मित करती है, उनमे कारण-कार्य का सम्बन्ध होता है।

व्यक्ति मे अनेक गुण एक साथ रहते हैं। जो गुण व्यक्त होता है, उसे हम जान लेते है, शेष को नही जान पाते। हम व्यक्ति का मूल्यांकन व्यक्त पर्याय के आधार पर करते हैं। इसीलिए हमारा मूल्याकन वर्तमान मे ही सही होता है। दूसरा पर्याय जैसे ही व्यक्त होता है, वैसे ही अतीत का मूल्यांकन असत्य हो जाता है। महावीर इस मामले मे साधारण मनुष्य नही थे। वे व्यक्ति को व्यक्त पर्याय मे ही नहीं देखते थे, उसमें छिपी सभावनाओ मे भी देखते थे। अतीत और भविष्य के अतल उनके सामने तल पर आ जाते थे।

एक दिन गहरी वर्षा हो रही थी। उस समय कुमार-श्रमण अतिमुक्तक शौच के लिए बाहर गए। उनके पास एक पात्र था। रास्ते मे एक नाला बह रहा था। उन्होने मिट्टी की पाल बाध पानी को रोक लिया। उसमे अपना पात्र डाल दिया। वह पात्र पानी में तैरने लगा। 'मेरी नाव तैर रही है, मेरी नाव तैर रही है'—यह कहकर अतिमुक्तक बाल-सुलभ क्रीडा करने लगे।

कुछ स्थविर उसी मार्ग से आ रहे थे। उन्होने अतिमुक्तक को नाव तैराते देखा। वे सीधे भगवान् महावीर के पास पहुचे। भगवान् का अभिवादन कर व्यग के स्वर मे बोले—'भंते ! कुमार-श्रमण अतिमुक्तक आपका शिष्य है। वह कब मुक्त होगा ? कितने जन्मो के बाद मुक्त होगा ?'

भगवान् ने कहा—'कुमार-श्रमण अतिमुक्तक इसी जन्म में मुक्त होगा। तुम उसका उपहास मत करो। उसकी शक्तियां शीघ्र ही विकसित होंगी। तुम उसे सहारा दो। उसका सहयोग करो। उसकी अवहेलना मत करो।'

भगवान् की वाणी सुन सभी स्थविर गम्भीर हो गए। वे देख रहे थे व्यक्त को। उसके नीचे बहती हुई अव्यक्त की धारा उन्हे नही दीख रही थी। इसीलिए अतिमुक्तक के प्रमाद-क्षण को देखकर उनके मन मे उफान आ गया। भगवान् ने भविष्य की सम्भावना का छीटा डालकर उसे शान्त कर दिया।

अतिमुक्तक बहुत छोटी अवस्था मे दीक्षित हुए। जीवन के तीन याम होते हैं—बाल्य, यौवन और वार्धक्य। भगवान् ने तीनो यामो मे दीक्षित होने की योग्यता का प्रतिपादन किया। अतिमुक्तक प्रथम याम मे दीक्षित हुए।

भगवान् महावीर पोलासपुर मे विराज रहे थे। एक दिन गौतम स्वामी भिक्षा के लिए गए। वे इन्द्रस्थान के निकट जा रहे थे। बहुत सारे किशोर वहा खेल रहे थे। पोलासपुर के राजा विजय का पुत्र अतिमुक्तक भी वहा खेल रहा था। उसने गौतम को देखा। उसके मन मे एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उसने गौतम के पास आकर पूछा—

'आप कौन है ?'

'मैं श्रमण हूं।'

'आप क्यो घूम रहे है ?'

'मैं भिक्षा के लिए नगर मे जा रहा हू।'

'आप मेरे साथ चलें। मैं आपको भिक्षा दिला दूगा—' यह कहकर अतिमुक्तक ने गौतम की अगुली पकड ली। वह गौतम को अपने प्रासाद मे ले गया। उसकी माता श्रीदेवी ने गौतम को आदरपूर्वक भिक्षा दी। गौतम वापस जाने लगे। कुमार अतिमुक्तक ने पूछा—

'भते ! आप कहा रहते हैं ?'

'मैं अपने धर्माचार्य के पास रहता हू।'

'आपके धर्माचार्य कौन हैं ?'

'श्रमण भगवान् महावीर।'

'वे कहा हैं?'

'यही श्रीवन उद्यान मे।'

'मैं भी आपके धर्माचार्य के पास जाना चाहता हूं।'

'जैसी तुम्हारी इच्छा।'

कुमार अतिमुक्तक गौतम के साथ-साथ भगवान् के पास आया। उसने भगवान् को वदना की। भगवान् का उपदेश सुना। उसका मन फिर घर लौटने से इन्कार करने लगा। उसने दीक्षित होने की प्रार्थना की। भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार

कर ली। किन्तु भगवान् माता-पिता की अनुमति के बिना किसी को दीक्षित नहीं करते थे। अतिमुक्तक माता-पिता की स्वीकृति प्राप्त करने उनके पास पहुंचा। उन्हें प्रणाम कर बोला—

'आज मैं भगवान् महावीर के पास जाकर आया हूं।'

'कुमार ! तुमने बहुत अच्छा किया।'

'मा ! मुझे भगवान् बहुत अच्छे लगे।'

'बेटा ! वे वास्तव मे ही अच्छे हैं, इसलिए अच्छे लगने ही चाहिए।'

'मा ! जी करता है कि मैं भगवान् के पास ही रहू।'

'बेटा ! भगवान् अनगार हैं। हम गृहवासी हैं। हम भगवान् के साथ नही रह सकते।'

'मा ! मैं चाहता हू कि भगवान् के पास दीक्षित होकर अनगार बन जाऊं और उनके पास रहू।'

'बेटा ! अभी तुम बालक हो। अभी तुम्हारी बुद्धि परिपक्व नही हुई है। क्या तुम धर्म को समझते हो ?'

'मा ! मैं जिसे जानता हू, उसे नही जानता। जिसे मैं नहीं जानता, उसे जानता हू।'

बेटा ! तुम जिसे जानते हो, उसे कैसे नही जानते ? जिसे नही जानते, उसे कैसे जानते हो ?'

'मा ! मैं जानता हू कि जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा। पर मैं नही जानता कि वह कब, कहा और कैसे मरेगा ? मैं नही जानता कि जीव किन कर्मों से तिर्यञ्च, मनुष्य, नारक और देव बनता है। मा ! मैं नही कह सकता कि मैं क्या जानता हू और क्या नही जानता। किन्तु मैं जानना चाहता हूं, इसीलिए आप मुझे भगवान् की शरण मे जाने की स्वीकृति दें।'

माता-पिता को लगा कि उसका अन्तश्चक्षु उद्घाटित हो गया है। वह आज ऐसी भाषा बोल रहा है जैसी पहले कभी नही सुनी थी। वे कुमार की भावना और समझ से सम्मोहित जैसे हो गए। उन्होने दीक्षित होने की स्वीकृति दे दी। कुमार भगवान् के पास दीक्षित हो गया। उसकी जिज्ञासा पूर्ण हो गई। भगवान् की पारदर्शी दृष्टि ने उसकी क्षमता को देखा और समय के सशक्त हाथो ने उसे अनावृत कर दिया।[1]

---

१ अंतगडदसाओ, ६।७१-६६।

४३

सहयात्रा : सहयात्री

भगवान् महावीर शाश्वत की यात्रा पर थे। इसलिए उन्होने उन्ही सामयिक प्रश्नो का स्पर्श किया जो शाश्वत से सम्बन्धित थे। शेष सामयिक प्रश्नो के विषय मे उन्होने अपना मौन नहीं खोला। वे न समाजशास्त्री थे और न राज्यशास्त्री। वे यात्री थे और वैसे ही यात्री जो लक्ष्य तक पहुचे बिना रुके नही। वे अकेले चले थे। उनकी यात्रा इतनी सफल रही कि हजारो-हजारो व्यक्ति उनके साथ चलने लगे। उनके साथ चलने वालो मे चौदह हजार श्रमण थे और छत्तीस हजार श्रमणिया, एक लाख उनसठ हजार उपासक थे और तीन लाख अठारह हजार उपासिकाए। अनुगामी और भी थे। यह सख्या उन लोगो की है जो भगवान् के सहयात्री थे, जिन्होने पूर्ण या अल्पमात्रा मे व्रत की दीक्षा ली थी। भगवान् ने अन्तर्ज्ञान की दिशा का सबके लिए उद्घाटन किया। सबमे आत्मविश्वास जगाया। अनेक साधक शक्ति को बटोर आगे बढे। भगवान् के तेरह सौ श्रमण प्रत्यक्षज्ञानी (अवधिज्ञानी) हुए, सात सौ श्रमणो और चौदह सौ श्रमणियो ने कैवल्य प्राप्त किया। उनकी यात्रा प्रतिदिन सफलता का आलिंगन करती गई।

भगवान् के सहयात्री विभिन्न देशो, विभिन्न दिशाओ, विभिन्न जातियो, विभिन्न सम्प्रदायो और विभिन्न परिस्थितियो से आए हुए लोग थे।

१. साकेत मे जिनदेव नाम का व्यापारी रहता था। वह देशाटन करता हुआ कोटिवर्ष नगर मे गया। वहा का शासक था किरात (चिलात)। जिनदेव ने उसे बहुमूल्य रत्न उपहार मे दिए। किरात ने पूछा—'ये रत्न कहा उत्पन्न होते हैं?' जिनदेव ने कहा—'मेरे देश मे उत्पन्न होते है।' किरात ने कौशल देश मे जाने की इच्छा प्रकट की। जिनदेव ने अपने राजा की स्वीकृति प्राप्त कर उसे कौशल की यात्रा का निमत्रण दे दिया। वह जिनदेव के साथ साकेत पहुचा। राजा शत्रुजय ने उसका स्वागत किया। वह राजा का अतिथि होकर वहां ठहर गया।

भगवान् महावीर जनपद-विहार करते हुए साकेत पहुंचे। भगवान् के आगमन का संवाद पाकर हजारो-हजारो व्यक्ति उनकी उपासना के लिए आने लगे। शत्रुजय भी भगवान् के पास गया। जनता की भीड़ देखकर किरात ने जिनदेव से पूछा—

'इतने लोग कहा जा रहे हैं ?'

'रत्नो का व्यापारी आया है, उसके पास जा रहे हैं।'

'चलो, हम भी चलें।'

किरात और जिनदेव—दोनों भगवान् के पास आए। किरात ने पूछा—'भंते ! मैंने सुना है कि आपके पास बहुत रत्न हैं ?'

'तुमने सही सुना है।'

'मैं उन्हे देखना चाहता हू।'

'क्या सच कह रहे हो ?'

'झूठ क्यो कहूगा ?'

'तो क्या सचमुच रत्नो को देखना चाहते हो ?'

'बहुत उत्सुक हू, यदि आप दिखाए तो।'

''मैं कौन दिखाने वाला। तुम देखो वे तुम्हारे पास भी हैं।'

'मेरे पास कहा है, भते ?'

'देखना चाहो तो तुम्हारे पास सब कुछ है।'

'कहा है ? आप बतलाइए। मैं अवश्य देखना चाहता हू।'

'तुम अब तक बाहर की ओर देखते रहे हो, अब भीतर की ओर देखो। देखो, और फिर गहराई मे जाकर देखो।'

किरात की अन्तर्यात्रा शुरू हो गई। वह भीतर मे प्रवेश कर गया। उसने रत्नो की ऐसी ज्योति पहले कभी नही देखी थी। वह ज्योति की उस रेखा पर पहुच गया जहा पहुचने पर फिर कोई तमस् मे नही लौटता। वह सदा के लिए महावीर का सहयात्री बन गया।[1]

२ अरब के दक्षिणी प्रान्त मे आर्द्र नाम का प्रदेश था। वहा आर्द्रक नाम का राजा था। उसका पुत्र था आर्द्रकुमार। एक बार सम्राट् श्रेणिक ने महाराज आर्द्रक को उपहार भेजा। आर्द्रकुमार पिता के पास बैठा था। उसने सोचा, श्रेणिक मेरे पिता का मित्र है। उसका पुत्र मेरा मित्र होना चाहिए। उसने दूत को एकान्त मे बुलाकर पूछा। दूत ने अभयकुमार का नाम सुझाया। आर्द्रकुमार ने अभयकुमार के लिए उपहार भेजा। अभयकुमार ने उसका उपहार स्वीकार किया। दोनो मित्र बन गए। अभयकुमार ने बदले मे कुछ धर्मोपकरण भेजे। उन्हें देख

१ आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० २०३, २०४।

आर्द्रकुमार को पूर्वजन्म की स्मृति हो गई। आर्द्रकुमार अवकाश देखकर अपने देश से निकल गया। वह वासना के तूफानों और विचारों के जगलों को पार कर भगवान् की यात्रा का सहभागी हो गया।[1]

३. वारिषेण का पिता था श्रेणिक और माता थी चिल्लणा। वह बहुत धार्मिक था। चतुर्दशी का दिन आया। उसने श्मशान मे जाकर ध्यान शुरू किया।

राजगृह मे विद्युत् नाम का चोर रहता था। वह नगरवधू सुन्दरी से प्रेम करता था। एक दिन सुन्दरी ने कहा—'क्या तुम मुझसे सच्चा प्रेम करते हो ?'

'तुम्हे यह सन्देह क्यो हुआ ?'

'काल का चक्र चलते-चलते सन्देह की धूली मे फस जाता है। इस नियति को मैं कैसे टाल सकती हू ?'

'तो विश्वास का प्रामाण्य चाहती हो ?'

'इस निसर्ग को तुम कैसे टाल सकोगे ?'

'मैं तैयार हू प्रामाण्य देने को। कहो, तुम क्या चाहती हो ?'

'महारानी चिल्लणा का हार।'

'क्या सोच-समझकर कह रही हो ?'

'हां।'

'क्या यह सम्भव है ?'

'प्राणो की आहुति दिए बिना क्या प्रेम पाना सम्भव है ?'

'तो क्या मुझे शलभ होना है ?'

'इसका निर्णय देनेवाली मैं कौन ?'

'मैं निर्णय कर चुका हू। चिल्लणा का हार शीघ्र ही तुम्हारे गले मे विराजित होगा।'

विद्युत् कल्पनाशील चोर था। उसकी सूझ-बूझ अभयकुमार जैसे प्रतिभाशाली महामात्य को भुलावे मे डाल देती थी। वह विद्युत् जैसा चपल-त्वरित कार्यवादी था। वह छद्मवेश बना अन्त पुर मे पहुचा। हार चुराकर चुपके से निकल आया। वह हार लिये जा रहा था। कोतवाल की दृष्टि उस पर पड गई। उसने सहज भाव से पूछा—

'विद्युत् ! आज क्या छिपाए जा रहे हो ?'

'कुछ नही, श्रीमान् !'

'कुछ तो है।'

'किसने सूचना दी है आपको ?'

'तुम्हारे भारी पैर ही सूचना दे रहे हैं।'

---

१. सूयगडो, २।६, वृत्ति पत्र १३७-१३९।

'नहीं, कुछ नही है। आप निश्चिन्त रहिए।'

विद्युत् कोतवाल को आश्वस्त कर आगे बढ गया। कुछ ही क्षणों में आरक्षी-केन्द्रो को आदेश मिला कि महारानी चिल्लणा का हार किसी ने चुरा लिया है। चोरो को पकड़ा जाए।

कोतवाल ने आरक्षीदल के साथ विद्युत् का पीछा किया। उसे इसका पता चल गया। अब हार को पास मे रखना खतरे से खाली नही था। वह श्मशान की ओर दौडा। वारिषेण ध्यानमुद्रा मे खड़ा था। विद्युत् उसके पास हार छोड़कर भाग गया।

आरक्षीदल विद्युत् का पीछा करता हुआ श्मशान मे पहुचा। उसने देखा, महारानी का हार एक साधक के पास पडा है। कोतवाल ने सोचा, कोई ढोंगी आदमी है। यह हार चुरा लाया और अब डर के मारे ध्यान का स्वांग रच रहा है। कोतवाल ने उसे बदी बना राजा के सामने प्रस्तुत किया। राजा ने देखा—यह राजकुमार वारिषेण है। यह अपनी मा का हार कैसे चुरा सकता है ? राजा समझ नही सका। पर वह करे क्या ? कोतवाल उसी को चोर सिद्ध कर रहा था। साक्ष्य भी यही कह रहे थे कि हार इसी ने चुराया है। राजा धर्म-सकट मे फस गया। एक ओर अपना प्रिय पुत्र और दूसरी ओर न्याय। तराजू के एक पलडे में पितृत्व था और दूसरे पलडे मे न्याय का सरक्षण। न्याय का पलडा भारी हुआ। राजा ने हृदय पर पाषाण रखकर वारिषेण को मृत्युदंड दे दिया। वधक उसे मारने के लिए श्मशान मे ले गए।

वारिषेण महावीर की श्मशान-प्रतिमा को साध चुका था। उसके मन मे भय की एक रेखा भी नही उभरी। वह जिस शातभाव से बन्दी बनकर आया था उसी शान्तभाव से मृत्यु का वरण करने के लिए चला गया। इन दोनो स्थितियो मे उसका ध्यान भग नही हुआ। उसका मनोबल इतना बढ गया कि वधक हतप्रभ-सा हो गया। उसका हाथ नही उठ रहा था वध के लिए, फरसा तो उठ ही नही रहा था। जो भी वधक वारिषेण के सामने आया वह हतप्रभ होकर खडा रह गया। श्रेणिक को इसकी सूचना मिली। वह वारिषेण के पास पहुचा। उसने कहा—'पुत्र ! मुझे विश्वास था कि तुम चोरी नही कर सकते। मैं परिचित हू तुम्हारी धार्मिकता से। पर मैं क्या करू, न्याय का प्रश्न था। तुम जानते हो, न्याय अन्धा और बहरा होता है। उसमे सचाई को देखने और सुनने की क्षमता नहीं होती। वह देखता और सुनता है साक्ष्य को। साक्ष्य बता रहे थे कि हार तुमने चुराया है। तुम्हारी सचाई ने तुम्हें निर्दोष प्रमाणित कर दिया। सत्य का वध नहीं किया जा सकता—महावीर के इस सिद्धान्त ने तुम्हें अमर बना दिया है। राजगृह का हर व्यक्ति आज तुम्हारी अमर गाथा गा रहा है। पुत्र ! मुझे क्षमा करना। यदि मैं तुम्हें मृत्युदण्ड नही देता तो तुम मृत्यु के द्वार पर पहुंचकर अमर

नहीं बनते। चलो, अब मैं तुम्हे लेने आया हूं।'

'आप जाए, मैं नही जाऊंगा।'

'तो कहा जाओगे ?'

'अपने घर मे।'

'क्या राजगृह का प्रासाद तुम्हारा घर नही है ?'

'सचमुच नही है।'

'कब से ?'

'मैं श्मशान मे ध्यान कर रहा था। मुझ पर चोरी का आरोप आया। आपने मुझे दोषी ठहराया। मैंने निश्चय किया कि यदि मैं इस आरोप से मुक्त हुआ तो भगवान् महावीर की शरण मे चला जाऊगा। इसलिए राजगृह का प्रासाद अब मेरा घर नही है।'

'क्या माता-पिता को ऐसे ही छोड दोगे ?'

'सत्य अधा और बहरा नही है। मैंने उसकी दृष्टि से देखा है कि वास्तव मे आत्मा ही माता है और आत्मा ही पिता है।'

'क्या तुम्हारी पत्नी का प्रश्न नही है ?'

'यदि वधक मुझे मारने मे सफल हो जाता तो क्या होता ?'

'वह नियति का चक्र होता।'

'यह सत्य का उपक्रम है।'

श्रेणिक मौन। सारा वातावरण मौन। वारिषेण के चरण भगवान् महावीर की दिशा मे आगे बढ गए।

४ राजगृह का वैभव उन्नति के शिखर को छू रहा था। वह धन और धर्म—दोनो की समृद्धि का केन्द्र बन रहा था। भगवान् महावीर का वह मुख्य विहार स्थल था। भगवान् ने चौदह चातुर्मास वहा बिताए। वैभारगिर की गुफाओ मे भगवान् के सैकडो श्रमणो ने साधना की लौ जलाई। उसके आसपास फैले हुए जगलो ने अनेक श्रमणो को एकान्त साधना के लिए आकृष्ट किया। उन्ही जंगलो और गुफाओं मे एक दूसरी साधना भी चल रही थी। राजगृह को आतकित करने वाले चोर और डाकू उन्ही की शरण मे डेरा डाले बैठे थे। भगवान् ने ठीक ही कहा था कि जो आत्मोत्थान का हेतु हो सकता है वह आत्मपतन का भी हेतु हो सकता है। जो आत्मपतन का हेतु हो सकता है वह आत्मोत्थान का भी हेतु हो सकता है। वैभारगिरि की गुफाए और जगल भगवान् के श्रमणों के लिए आत्मोत्थान के हेतु बन रहे थे तो वे चोर और डाकुओ के लिए आत्म-पतन के हेतु भी बन रहे थे।

लोहखुरो नामक चोर ने वैभारगिरि की गुफा को अपना निवास-स्थल बना रखा था। उसकी पत्नी का नाम था रोहिणी। उसके पुत्र का नाम था रोहिणेय। लोहखुरो दुर्दान्त दस्यु था। उसने राजगृह के धनपतियों को आतंकित कर रखा

था। वह बहुत क्रूर था। उसे आत्मा और परमात्मा मे कोई विश्वास नहीं था। वह धर्म और धर्म-गुरु के नाम से ही घृणा करता था। वह वर्षों तक राजगृह को आतंकित किए रहा। एक दिन काल ने उसे आतंकित कर दिया। मौत उसके सिर पर मडराने लगी। उसने रोहिणेय से कहा—'मैं अब अतिम बात कह रहा हू। बेटे ! उसका जीवन भर पालन करना।' रोहिणेय बहुत गम्भीर हो गया। उसका उत्सुक मन पिता के निर्देश की प्रतीक्षा मे लग गया। लोहखुरो ने कहा—'राजगृह मे महावीर नाम के एक श्रमण है। मैं सोचता हू, तुमने उनका नाम सुना होगा ?'

'पिता ! मैंने उनका नाम सुना है। वे बहुत प्रभावशाली व्यक्ति हैं। राजगृह उनके नाम पर मन्त्रमुग्ध है।'

'पुत्र ! उनसे बढ़कर अपना कोई शत्रु नही है।'

'यह कैसे ?'

'एक बार उनके पास मेरे सहयोगी चले गए। लौटकर आए तो वे चोर नही रहे। श्रेणिक हमारा छोटा शत्रु है। वह चोर को बन्दी बना सकता है, पर अचोर नही बना सकता। महावीर चोर को अचोर बना देते हैं। उनका प्रयत्न हमारे कुलधर्म पर कुठाराघात है। इसलिए मैं कहता हू कि तुम उनसे बचकर रहना। न उनके पास जाना और न उनकी वाणी सुनना।'

रोहिणेय ने पिता का आदेश शिरोधार्य कर लिया। लोहखुरो की अतिम इच्छा पूरी हुई। उसने अपनी क्रूरता के साथ जीवन से अतिम विदा ले ली।

रोहिणेय के पैर पिता से आगे बढ गए। उसने कुछ विद्याए प्राप्त कर ली और राजगृह पर अपना पंजा फैलाना शुरू कर दिया। इधर महावीर के असंग्रह, अचौर्य और अभय के उपदेश चल रहे थे, उधर चोर-निग्रह के लिए महामात्य अभयकुमार के नित नए अभियान चल रहे थे। फिर भी राजगृह की जनता चोरी के आतक से भयभीत हो रही थी। चोरी पर चोरी हो रही थी। बडे-बडे धनपति लूटे जा रहे थे। आरक्षीदल असहाय की भाति नगर, पर्वत और जगल की खाक छान रहा था। पर चोर पकड मे नही आ रहा था।

तस्कर रोहिणेय के पास गगन-गामिनी पादुकाए थी और वह रूप-परिवर्तनी विद्या को जानता था। वह कभी-कभी आरक्षीदल के सामने उपस्थित हो जाता और परिचय भी दे देता, पर पकड़ने का प्रयत्न करने से पूर्व ही वह रूप बदल लेता या आकाश मे उड जाता। सब हैरान थे। राजा हैरान, मत्री हैरान, आरक्षीदल हैरान और नगरवासी हैरान। अकेला रोहिणेय सबकी आंखो मे धूल झोंक रहा था।

दिन का समय था। रोहिणेय एक सूने घर मे चोरी करने घुसा। वह तिजोरी तोड़ने का प्रयत्न कर रहा था। पड़ोसियो को पता चल गया। थोडी देर मे लोग एकत्र हो गए। रोहिणेय ने कोलाहल सुना। वह तत्काल वहां से दौड़ गया। जल्दी

में गगन-गामिनी पादुकाएं वहां भूल गया। वह जिस मार्ग से दौड़ा, उसी के पास भगवान् महावीर प्रवचन कर रहे थे। वह भगवान् की वाणी सुनना नहीं चाहता था। एक कुशल चोर चोरी का खण्डन करने वाले व्यक्ति की वाणी कैसे सुने? पिता के आदेश-पालन का भी प्रश्न था। उसने भगवान् के प्रवचन-स्थल के पास पहुचते ही गति तेज कर दी और कानो मे अगुलिया डाल लीं। पर नियति को यह मान्य नही था। उसी समय उसके दाएं पैर मे एक तीखा कांटा चुभा। उसके पैर लडखडाने लगे। गति मद हो गई। उसे भय था कि कुछ लोग पीछा कर रहे हैं। कांटा निकाले बिना तेज दौडना सभव नहीं रहा। उसे निकालने के लिए कानो से अगुलिया हटाने पर महावीर की वाणी सुनने का खतरा था। उसने दो क्षण सोचा। वह पीछे का खतरा मोल लेना नही चाहता था। उसने कानों से अगुलिया हटाकर काटा निकाला। उस समय भगवान् देवता के बारे मे चर्चा कर रहे थे—'देवता के नयन अनिमिष होते हैं और उनके पैर भूमि से चार अगुल ऊपर रहते हैं।' भगवान् के ये शब्द उसके कानों में पड गए। वह फिर कानो मे अगुलिया डाल दौडा। महावीर के शब्दो को भुलाने का प्रयत्न करने लगा। जिसे भुलाने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी धारणा अधिक पुष्ट हो जाती है। रोहिणेय प्रयत्न करने पर भी उस वाणी को भुला नहीं सका। वह उसकी धारणा मे समा गई।

रोहिणेय का आतक दिन-प्रतिदिन बढ रहा था। नागरिक उत्पीड़ित हो रहे थे। एक दिन प्रमुख नागरिक एकत्र हो मगध नरेश श्रेणिक की राज्यसभा मे पहुंचे। उनके चेहरो पर भय, विषाद और आक्रोश की त्रिवली खिंच रही थी। मगध सम्राट् ने उनका कुशल पूछा। वे बोले—'आपकी छत्रछाया मे सब कुशल था। पर रोहिणेय की काली छाया राजगृह के नागरिकों का कुशल लील गई।' सम्राट् का चेहरा तमतमा उठा। उसने उसी समय नगर के कोतवाल को बुलाया और कडी फटकार सुनाई। कोतवाल ने प्रकपित स्वर मे कहा—'महाराज! दस्यु बडा दुर्दान्त है। मैंने उसे पकडने के बहुत प्रयत्न किए। मुझे कहते हुए सकोच हो रहा है कि मेरा एक भी प्रयत्न सफल नही हुआ। महामात्य अभयकुमार मेरा मार्ग दर्शन करें, तभी उस चोर को पकडा जा सकता है।'

अभयकुमार ने इस कार्य को अपने हाथ में ले लिया। उसने एक गुप्त योजना बनाई। रात के समय नगर के चारो दरवाजो को खुला रखा। प्रहरी अट्टालको मे छिपे रहे। रात के दस-बारह बजे होंगे। रोहिणेय ने दक्षिणी द्वार में प्रवेश किया। अट्टालको के पास पहुचते ही प्रहरियों ने उसे पकड़ लिया। उसे भाग निकलने का या रूप बदलने का कोई अवसर नहीं मिला।

दूसरे दिन नगर-रक्षक ने चोर को सम्राट् के सामने प्रस्तुत किया। सम्राट् की भृकुटी तन गई। उसने क्रोधावेश में कहा—'रोहिणेय! तूने राजगृह को आतंकित

कर रखा है। भद्र-पुरुषों के इस नगर में केवल तू ही अभद्र है। अब तू अपने पापों का फल भुगतने को तैयार हो जा। तुझे क्यों नहीं मृत्युदंड दिया जाए ?'

बंदी बोला—'सम्राट् जो कह रहे हैं, वह बहुत उचित है। जिस रोहिणेय ने राजगृह को उत्पीड़ित कर रखा है, उसे मृत्युदंड अवश्य मिलना चाहिए। पर प्रभो ! जो रोहिणेय नही है, क्या उसे भी मृत्युदंड मिलना चाहिए ?'

बंदी का तर्क सुन सम्राट् और सभासद् एक क्षण मौन हो गए। सब ध्यानपूर्वक उसके चेहरे की ओर देखने लगे। वे एक-दूसरे से पूछने लगे—'क्या यह रोहिणेय नही है ?' वातावरण में संदेह की तरंगें उठने लगी। सम्राट् ने पूछा—'क्या तू रोहिणेय नहीं है ?'

'नहीं, बिलकुल नही।'

'तो फिर तू कौन है ?'

'मैं शालग्राम का व्यापारी हूं।'

'तेरा नाम ?'

'दुर्गचण्ड।'

'क्या व्यापार करता है ?'

'जवाहरात का।'

'रात को कहा जा रहा था ?'

'गाव से चलकर यहा आ रहा था। कुछ विलम्ब हो गया। इसलिए रात पड गई। प्रहरियो ने बदी बना लिया।'

'क्या तू सच कह रहा है ?'

'आप जाच करा लें।'

सम्राट् ने अभयकुमार की ओर देखा। उसने सम्राट् की भावना का समर्थन किया और गुप्तचर को उसकी जाच के लिए शालग्राम भेज दिया। सभा विसर्जित हो गई।

रोहिणेय ने शालग्राम की जनता पर जादू कर रखा था। वह उस ग्राम की आकाक्षा की पूर्ति करता था। ग्राम ने उसकी आकांक्षा की पूर्ति की। उसने जो परिचय दिया था, उसकी ग्रामीण जनता ने पुष्टि की। गुप्तचर ने प्राप्त जानकारी की सूचना सम्राट् को दे दी। सम्राट् ने रोहिणेय को मुक्त कर दिया। अभयकुमार ने उससे क्षमा-याचना की और मैत्री का प्रस्ताव किया। दोनों मित्र बन गए। अभय-कुमार ने भोजन का अनुरोध किया। रोहिणेय ने वह स्वीकार कर लिया। शिक्षित कर्मचारियो ने उसके भोजन की व्यवस्था की। वह भोजन करते-करते मूच्छित हो गया। कर्मकरो ने उसे उठाकर एक भव्य प्रासाद मे सुला दिया। कुछ घटों बाद मादक द्रव्यो का नशा उतरा। वह अंगड़ाई लेकर उठा। उसने आंखें खोलीं। वह स्वप्न-लोक में उतर आया। मीठी-मीठी परिमल से उसका मन प्रफुल्लित हो गया।

कुछ अप्सराएं आई और प्रणाम की मुद्रा मे बोली—'यह स्वर्ग है। यह है स्वर्गीय वैभव। आप यहा जन्मे हैं। हम जानना चाहती है कि आपने पिछले जन्म मे क्या कर्म किए ? क्या चोरी की ? डाका डाला ? मनुष्यो को सताया ? उन्हे मारा-पीटा ? या और कुछ किया ? ऐसे कार्य करने वाले ही स्वर्ग मे जन्म लेते हैं।'

रोहिणेय अवाक् रह गया। वह कुछ समझ नही सका। उसने चारो ओर दृष्टि दौड़ाई। अप्सराओ की ओर देखा। उसे महावीर की वाणी याद आ गई। 'इनके नेत्र अनिमिष नही हैं। इनके पैर धरती को छू रहे है।' ये मानवीय युवतिया हैं, अप्सराए नही हैं। यह अभयकुमार की कूटनीति का चक्र है। वह स्थिति को ताड़ गया। उसने कहा—'मैं दुर्गचण्ड हू। अभी जीवित हू, मनुष्य-लोक मे ही हू। आप मेरी आखो पर पर्दा डालने का यत्न न करें।' गुप्तचर ने अभयकुमार को सारी घटना की सूचना दी। उसने असफलता का अनुभव किया और रोहिणेय को ससम्मान शालग्राम गाव की ओर भेज दिया।

रोहिणेय का हृदय परिवर्तन हो गया। उसने सोचा—महावीर की एक वाणी ने मुझे उबार लिया। मेरे पिता ने उनके पास जाने और उनकी वाणी सुनने से मुझे रोककर अच्छा काम नही किया। अब मैं उनके पास जाऊ और उनकी वाणी सुनू।

भगवान् महावीर प्रवचन कर रहे थे। श्रेणिक, अभयकुमार और अन्य अधिकारी वहा उपस्थित थे। रोहिणेय भी उनके पास बैठा था। भगवान् ने अहिंसा की व्याख्या की—'सुख आत्मा की स्वाभाविक अनुभूति है। इन्द्रिय-सुख भी उसी अनुभूति का एक स्फुलिंग है। पर दूसरे के सुख को लूटकर सुख पाने का प्रयत्न दु ख की शृखला का निर्माण करता है। जो दूसरे का सुख लूटता है, उसे सत्य का अनुभव नही होता। इसका अनुभव उसे होता है जो दूसरे के सुख को लूटकर सुखी होने का प्रयत्न नही करता।'

'एक पुरुष पक्षियो का प्रेमी था। वह अनेक पक्षियो को पिजडे मे बन्द रखता था। उसने कभी अनुभव नही किया कि दूसरो की स्वतत्रता का अपहरण कितना दु खद होता है। एक बार वह किसी कुचक्र मे फस गया। आरक्षी ने उसे बन्दी बना कारा मे डाल दिया। उसकी स्वतत्रता छिन गई। दूसरो को पिजडे मे डालने वाला स्वय पिजड़े मे चला गया। अब उसे सचाई का अनुभव हुआ। उसने अपने परिवार के पास सदेश भेजा—मेरा हित चाहते हो तो सब पक्षियो को मुक्त कर दो। मुझे पिजडे की परतत्रता का अनुभव हो चुका है। अब मैं किसी को पिजड़े मे बन्द नही रख सकता।'

भगवान् की वाणी सुन रोहिणेय का ज्ञानचक्षु खुल गया। उसे हिंसा का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। वह खड़ा होकर बोला—'भंते ! मुझे हिंसा के प्रति ग्लानि हुई है। मैं अहिंसा का जीवन जीना चाहता हू। आप मुझे इसकी स्वीकृति दें।'

श्रेणिक ने अभयकुमार से कहा—'यह वही व्यक्ति है, जिसे रोहिणेय चोर समझ कर हमारे आरक्षियों ने बंदी बनाया था। वह धर्मात्मा प्रतीत हो रहा था। लगता है कि हमारे प्रशासन ने इसे संदेहवश तिरस्कृत किया है।' सम्राट् ने अपनी बात पूरी नहीं की, इतने में उस व्यक्ति का परिचय पाकर सारी परिषद् स्तब्ध रह गई। उसने कहा—'मेरा नाम रोहिणेय है। चोरी मेरा कुलधर्म है। मैंने राजगृह को आतंकित किया है। लाखों-करोडो की संपदा चुराई है। मगध की सारी शक्ति मेरे पीछे लग गई पर मुझे नही पकड सकी। आज भगवान् ने मुझे पकड लिया। मैं हिंसा की पकड मे नही आया किन्तु अहिंसा की पकड मे आ गया।'

रोहिणेय ने श्रेणिक से कहा—'महाराज! महामात्य को मेरे साथ भेजें। मैं चुराया हुआ धन उन्हे सौंप दूगा। मुझे विश्वास है कि वह उनके स्वामियो को लौटा दिया जाएगा। महाराज! आप मेरे बारे मे क्या सोचते हैं?'

'तुम अपने बारे मे क्या सोचते हो, पहले यह बताओ—' सम्राट् ने कहा।

रोहिणेय ने सहज मुद्रा मे कहा—'मैं भगवान् के पास दीक्षित होने का निर्णय कर चुका हूं।'

'साधुवाद, साधुवाद'—श्रेणिक का स्वर हजारो कठो से एक साथ गूज उठा। भय पर अभय की, सदेह पर विश्वास की, हिंसा पर अहिंसा की विजय हो गई। राजगृह ने सुख की सास ली।

राजगृह की जनता को अपना धन मिला और रोहिणेय को अपना धन मिला। दोनो की दिशाए अपनी-अपनी समृद्धि से भर गईं। रोहिणेय का चोर मर गया। उसके आसन पर उसका साधु बैठ गया। बडा चोर कभी छोटा साधु नही हो सकता। उसने साधु जीवन की महत्ता को अतिम सास तक विकसित किया।

५ उन दिनो नेपाल रत्नकम्बल के लिए प्रसिद्ध था। कुछ व्यापारी रत्नकम्बल लेकर राजगृह पहुचे। सम्राट् श्रेणिक का अभिवादन कर अपना परिचय दिया और रत्नकम्बल दिखलाए। एक रत्नकम्बल का मूल्य सवा लाख मुद्राए। सम्राट् ने उन्हे खरीदने से इन्कार कर दिया। वे निराश हो गए। मगध सम्राट् की यशोगाथा सुनकर वे आए थे। उन्हे आशा थी कि सम्राट् उनके सब कम्बल खरीद लेंगे। सम्राट् ने एक भी नही खरीदा। वे उदास चेहरे लेकर राजप्रासाद से निकले। वे मगध और राजगृह के बारे मे कुछ हल्की बातें करते जा रहे थे।

राजगृह मे गोभद्र नाम का श्रेष्ठी था। उसकी पत्नी का नाम था भद्रा। उसके शालिभद्र नाम का पुत्र था। गोभद्र इस लोक से चल बसा था। भद्रा घर का सचालन कर रही थी। वह अपने वातायन मे बैठी थी। वे व्यापारी उसके नीचे से गुजरे। भद्रा ने उनकी बातें सुनी। मगध और राजगृह के प्रति अवज्ञापूर्ण शब्द सुन उसे धक्का लगा। उसका देशाभिमान जाग उठा। उसने व्यापारियो को बुलाया। उसने मगध की राजधानी के प्रति घृणा प्रकट करने का हेतु पूछा। उन्होंने अपनी

आशा, निराशा और घृणा की सारी कहानी सुना दी।

भद्रा ने उन्हें आश्वासन दिया और उनके सारे रत्नकम्बल खरीद लिये। वे प्रसन्न होकर मगध की गौरवगाथा गाते हुए अपने स्थान पर चले गए।

महारानी चिल्लणा ने दूसरे दिन महाराज से एक रत्नकम्बल खरीद लेने का आग्रह किया। सम्राट् ने व्यापारियो को बुलाकर एक रत्नकम्बल खरीदने की बात कही। उन्होंने कहा—'सब कम्बल बिक गए।'

सम्राट् ने आश्चर्य के साथ पूछा—'इतने कम्बल किन लोगों ने खरीदे ?'

'एक ही व्यक्ति ने।'

'ऐसा कौन है ?'

'आपके राज्य मे श्रीमतो की कमी नही है।'

'फिर भी मैं नाम जानना जाहता हूं।'

'हमारे कम्बलो को खरीदने वाली एक महिला है। उसका नाम है भद्रा।'

सम्राट् ने भद्रा के पास एक अधिकारी भेजा। उसने भद्रा को सम्राट् की भावना बताई। भद्रा ने कहा—'मैंने वे कम्बल पुत्र-वधुओ को दे दिए। उन्होने पैर पोछकर फेक दिए।' अधिकारी ने सम्राट् को भद्रा की बात बता दी। उसकी बात सुन सम्राट् अवाक् रह गया। उसने शालिभद्र को देखने की इच्छा प्रकट की। भद्रा ने सम्राट् को अपने घर पर आमन्त्रित किया।

सम्राट् भद्रा के घर पहुचा। उसका ऐश्वर्य देख वह चकित रह गया। भद्रा ने शालिभद्र से कहा—'बेटे ! नीचे चलो ! तुम्हें देखने के लिए सम्राट् आया है।' शालिभद्र नही जानता था कि सम्राट् क्या होता है। वह अपने ही कार्य और वैभव मे तन्मय था। उसने अपनी धुन मे कहा—'मा ! तुम जो लेना चाहो वह ले लो। मुझे क्या पूछती हो ?' भद्रा ने कहा—'बेटे ! चुप रहो। यह कोई खरीदने की वस्तु नही है। यह मगध का सम्राट् है, अपना स्वामी है।' स्वामी का नाम सुनते ही शालिभद्र का माथा ठनक गया। उसकी आत्मा प्रकपित हो गई। उसकी स्वतन्त्रता पर पाला पड गया। वह अनमना होकर सम्राट् के पास गया। सम्राट् ने उसे अपने पास बैठा लिया। उससे सौहार्दपूर्ण बातें की। वह कुछ ही क्षणो मे खिन्न हो गया। भद्रा के अनुरोध पर सम्राट् ने उसे जल्दी ही छुट्टी दे दी। उसका शरीर पसीने से और मन ग्लानि से भर गया। उसकी स्वतन्त्रता के बाध मे गहरी दरार हो गई।

शालिभद्र का नवनीत-सा सुकुमार शरीर, स्वर्गीय वैभव और सुखमय जीवन। इन सबसे ऊपर थी उसकी स्वतन्त्रता की अनुभूति। वह उसी के दर्पण में अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखता था। उस पर चोट लगते ही उसका स्वप्न चूर हो गया। वह स्वतन्त्रता के लिए तडप उठा, जैसे मछली पानी के लिए तड़पती है। प्रासाद मे उसे स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। वह मिल सकती है प्रासाद का विसर्जन करने

पर। महावीर ने प्रासाद-विसर्जन का मंत्र दिया है। शालिभद्र ने अनगार होने का सकल्प कर लिया।

शालिभद्र का सकल्प सुन भद्रा शून्य हो गई। उसने पुत्र को प्रासाद में रखने के तीव्र प्रयत्न किए। पर वह सफल नही हो सकी। उसने हार कर कहा—'बेटे ! तुम घर मे न रहो तो कम से कम मेरी एक बात अवश्य स्वीकार करो। एक-एक दिन में एक-एक पत्नी को छोडो, इस प्रकार बत्तीस दिन फिर घर मे रहो।' शालिभद्र ने माता का अनुरोध स्वीकार कर लिया।

शालिभद्र की बहन थी सुन्दरी। उसके पति का नाम था धन्य। उसने देखा सुन्दरी की आखो से आसू टपक रहे हैं। उसने आसू का कारण पूछा। सुन्दरी ने कहा—'मेरा भाई प्रतिदिन एक-एक भाभी को छोड रहा है। उसकी स्मृति होते ही मेरी आंखो मे आसू छलक पडे।'

धन्य ने सुन्दरी की बात सुनकर कहा—'तेरा भाई कायर है। जब घर छोडना ही है तब एक-एक पत्नी को क्या छोडना ?'

सुन्दरी ने व्यग मे कहा—'कहना सरल है, करना सरल नही है।'

'क्या तुम परीक्षा चाहती हो ?' यह कहकर उसने आठो पत्नियो को एक साथ छोड दिया।

शालिभद्र और धन्य—दोनो भगवान् महावीर के पास दीक्षित हो गए।[1]

---

1. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १०।१०।५७-१४८।

४४

संघ-भेद

क्षत्रियकुण्डग्राम मे जमालि नाम का क्षत्रियकुमार रहता था। एक दिन उसने देखा क्षत्रियकुण्ड के निवासी ब्राह्मणकुण्ड की ओर जा रहे है। उसने अपने कचुकी को बुलाकर इसका कारण पूछा। उसने बताया—'भगवान् महावीर ब्राह्मणकुण्ड मे पधारे है। हमारे ग्रामवासी लोग उनके पास जा रहे हैं।' जमालि के मन मे भी जिज्ञासा उत्पन्न हुई। वह अपने परिवार के साथ भगवान् के समवसरण मे गया। भगवान् के पास धर्म सुन जमालि सम्बुद्ध हो गया। वह बोला—'भते ! आपके प्रवचन मे मेरी श्रद्धा निर्मित हुई है। आपने जो कहा वह सत्य है, असदिग्ध है। भते ! मेरे मन मे आत्म-दर्शन की भावना प्रबल हो गई है। मैं अब मुनि बनना चाहता हू।' भगवान् ने कहा—'जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो।'

भगवान् स्वतन्त्रता के प्रवक्ता थे। वे किसी पर किसी प्रकार का दबाव नही डालते थे। उनका स्वीकृति-सूत्र था 'यथासुखम्'। भगवान् ने 'यथासुखम्' कहकर जमालि को दीक्षित होने की स्वीकृति दी। जमालि माता-पिता और पत्नियो की स्वीकृति प्राप्त कर मुनि बन गया। उसके साथ पाच सौ क्षत्रियकुमार दीक्षित हुए। वह ग्यारह अगसूत्रो का अध्ययन कर 'आचारज्ञ' और तपस्या की आराधना कर तपस्वी हो गया।

एक बार जमालि भगवान् के पास आया। उसने कहा—'भते ! मैं पाच सौ श्रमणो के साथ जनपद-विहार करना चाहता हू। आप मुझे आज्ञा दें।' भगवान् मौन रहे। जमालि ने फिर पूछा। भगवान् फिर मौन रहे। जमालि ने भगवान् की अनुमति प्राप्त किए बिना ही जनपद-विहार के लिए प्रस्थान कर दिया।

जमालि पाच सौ श्रमणो के साथ जनपद-विहार करता हुआ श्रावस्ती पहुचा। वह कोष्ठक चैत्य मे ठहरा हुआ था। असतुलित और अव्यवस्थित भोजन के कारण उसे पित्त-ज्वर हो गया। उसका शरीर दाह से जलने लगा। उसने श्रमणो से

कहा —'बिछौना बिछा दो।' श्रमण बिछौना बिछाने लगे। जमालि शारीरिक वेदना से अभिभूत हो रहा था। उसने आतुर स्वर मे पूछा—'क्या बिछौना बिछा चुके ?'

श्रमणो ने कहा—'भंते ! बिछाया नहीं, बिछा रहे हैं।' श्रमणो का उत्तर सुन जमालि के मन मे तर्क उठा—'भगवान् महावीर क्रियमाण को कृत कहते हैं। जो किया जा रहा है, उसे किया हुआ कहते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त परीक्षण की कसौटी पर सही नही उतर रहा है। मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हू—जो बिछौना बिछाया जा रहा है, वह बिछा हुआ नही है। यदि बिछा हुआ होता तो मैं उस पर सो जाता।' जमालि ने श्रमणो को आमन्त्रित कर अपने मन का तर्क उनके सामने रखा। कुछ श्रमणो को जमालि का तर्क बहुत अच्छा लगा। कुछ श्रमणो ने उसे अस्वीकार कर दिया। जमालि महावीर के सघ से मुक्त होकर स्वतन्त्र विहार करने लगा। कुछ शिष्य जमालि के साथ रहे और कुछ उसे छोड भगवान् के पास चले गए।

जमालि स्वस्थ हो गया। वह श्रावस्ती से प्रस्थान कर चम्पा मे आया। भगवान् महावीर उसी नगरी के पूर्णभद्र चैत्य मे विहार करते थे। जमालि भगवान् के पास आया। भगवान् के सामने खडा रहकर वह बोला—'आपके अनेक शिष्य अ-केवली (असर्वज्ञ) रहकर अ-केवली-विहार कर रहे हैं, किन्तु मैं अ-केवली-विहार नही कर रहा हू। मैं केवली (सर्वज्ञ) होकर केवली-विहार कर रहा हू।'

जमालि की गर्वोक्ति सुनकर भगवान् के प्रधान शिष्य गौतम ने कहा—'जमालि ! केवली का ज्ञान पर्वत, स्तम्भ या स्तूप से आवृत नही होता। तुम यदि केवली हो, तुम्हारा ज्ञान यदि अनावृत है तो मेरे इन दो प्रश्नो का उत्तर दो'—

१. लोक शाश्वत है या अशाश्वत ?

२ जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?

जमालि गौतम के प्रश्न सुन शकित हो गया। वह गौतम के आशय को समझने का प्रयत्न करता रहा पर वह समझ मे नही आया, तब मौन रहा।

भगवान् ने जमालि को सम्बोधित कर कहा—'जमालि ! मेरे अनेक शिष्य ऐसे हैं जो अ-केवली होते हुए भी इन प्रश्नो का उत्तर देने मे समर्थ हैं। फिर भी वे तुम्हारी भांति अपने आपको केवली होने की घोषणा नही करते।

'जमालि ! लोक शाश्वत है। यह लोक कभी नही था, कभी नही है और कभी नही होगा—ऐसा नही है। इसलिए मैं कहता हू, यह लोक शाश्वत है।

'जमालि ! यह लोक विविध कालचक्रो से गुजरता है, इसलिए मैं कहता हू कि यह लोक अशाश्वत है।

'जमालि ! जीव कभी नही था, कभी नही है और कभी नही रहेगा—ऐसा नही है। इसलिए मैं कहता हू, यह जीव शाश्वत है।

'जमालि ! यह जीव कभी मनुष्य होता है, कभी तिर्यंच, कभी देव और कभी नारक। यह विविध योनिचक्रो मे रूपातरित होता रहता है। इसलिए मैं कहता हूं, यह जीव अशाश्वत है।

'जमालि ! तुम नय के सिद्धान्त को नही जानते इसलिए तुम नही बता सके कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत, जीव शाश्वत है या अशाश्वत।

'जमालि ! तुम नय के सिद्धान्त को नही जानते, इसलिए तुम क्रियमाण कृत के सिद्धान्त मे दिग्मूढ़ हो गए।

'जमालि ! मैंने दो नयो का प्रतिपादन किया है—

१ निश्चयनय—वास्तविक सत्यस्पर्शी दृष्टिकोण।

२. व्यवहारनय—व्यावहारिक सत्यस्पर्शी दृष्टिकोण।

'मैंने क्रियमाण के सिद्धान्त का निरूपण निश्चय नय के आधार पर किया है। उसके अनुसार क्रियाकाल और निष्ठाकाल अभिन्न होते है। प्रत्येक क्रिया अपने क्षण मे कुछ निष्पन्न करके ही निवृत्त होती है। यदि क्रियाकाल मे कार्य निष्पन्न न हो तो वह क्रिया के निवृत्त होने पर किस कारण से निष्पन्न होगा ? वस्त्र का पहला तन्तु यदि वस्त्र नही है तो उसका अन्तिम तन्तु वस्त्र नही हो सकता। अन्तिम तन्तु का निर्माण होने पर कहा जाता है कि वस्त्र निर्मित हो गया। यह स्थूल दृष्टि है, व्यवहार नय है। वास्तविक दृष्टि यह है कि तन्तु-निर्माण के प्रत्येक क्षण ने वस्त्र का निर्माण किया है। यदि पहले तन्तु के क्षण मे भी वस्त्र का निर्माण नही होता तो अन्तिम तन्तु के क्षण मे भी वस्त्र का निर्माण नही हो पाता।'

भगवान् ने नयो की व्याख्या कर जमालि को समझाया पर उसने अपना आग्रह नही छोडा। वह सदा के लिए महावीर के सघ से मुक्त होकर अपने सिद्धान्त को फैलाता रहा।[1] यह घटना भगवान् के केवली होने के चौदहवें वर्ष मे घटित हुई।[2] सघ की स्थापना का भी यह चौदहवा वर्ष था। तेरह वर्षों तक सघ मे कोई भेद नही हुआ। चौदहवें वर्ष मे यह सघ-भेद का सूत्रपात हुआ। भगवान् का व्यक्तित्व इतना विराट् था कि जमालि द्वारा सघ मे भेद डालने का तीव्र प्रयत्न करने पर भी उसका व्यापक प्रभाव नही हुआ।

प्रियदर्शना जमालि की पत्नी थी। वह जमालि के साथ ही भगवान् के पास दीक्षित हुई थी। उसके पास साध्वियो का समुदाय था। उसने जमालि का साथ दिया। वह भगवान् के सघ से अलग हो गई। एक बार वह अपने साध्वी-समुदाय के साथ विहार करती हुई श्रावस्ती पहुची। वहा ढक नाम का कुम्हार था। वह उसकी भाडशाला मे ठहरी। वह भगवान् महावीर का उपासक था। वह तत्त्व को

---

१ भगवई, ९।१५६-२३४, आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ४१६-४१९।

२ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ४१९ : चौद्दस वासाणि···उप्पण्णोत्ति।

जानता था। उसने एक दिन साध्वी प्रियदर्शना की चादर पर एक अग्निकण फेंका। चादर जलने लगी। साध्वी प्रियदर्शना ने भावावेश मे कहा—'आर्य ! यह क्या किया ? मेरी चादर जल गई।' ढक बोला—'चादर जली नही, वह जल रही है। जमालि के मतानुसार चादर के जल चुकने पर ही कहा जा सकता है कि चादर जल गई। अभी आपकी चादर जल रही है, फिर आप क्यो कहती हैं कि मेरी चादर जल गई ?'

ढक के तर्क ने साध्वी प्रियदर्शना के मानस पर गहरी चोट की। उसका विचार परिवर्तित हो गया। वह अपने साध्वी-समुदाय के साथ पुन भगवान् महावीर के सघ मे सम्मिलित हो गई।[1]

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ४१८ : साविय ण पियदसणा···पण्णवेति।
··ताहे गता सहस्सपरिवारा सामि उवसंपज्जित्ताणं विहरति।

४५

अहिंसा के हिमालय पर हिंसा का वज्रपात

भगवान् महावीर श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य मे ठहरे हुए थे। उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम आहार की एषणा के लिए नगरी मे गए। उन्होंने लोगो से सुना कि गोशालक अपने आपको 'जिन' (तीर्थंकर) कहता है।

गौतम भगवान् के पास पहुचे। उन्होंने भगवान् से कहा—'मैंने आज श्रावस्ती मे सुना है कि गोशालक अपने आपको 'जिन' कहता है। क्या यह ठीक है, भते ? मैं उनके जीवन का इतिवृत्त जानना चाहता हू।'

भगवान् ने कहा—गोशालक मखलि और भद्रा का पुत्र है। मैं दूसरा चातुर्मास नालन्दा के बाहर तन्तुवाय-शाला मे बिता रहा था। उस समय गोशालक भी वही आकर ठहरा। मैंने एक मास का उपवास किया। पारण के लिए मैं गृहपति विजय के घर गया। उसने बडे आदर के साथ मुझे आहार दिया। उसके आहार-दान की जनता मे बहुत प्रशसा हुई। वह गोशालक के कानो तक पहुची। वह मेरी ओर आकृष्ट हो गया। उसने मुझसे कहा—'आप मेरे धर्माचार्य है। मैं आपका अतेवासी हू। आप यह स्वीकार करे।' मैंने यह स्वीकार नही किया।

दूसरे मासिक उपवास का पारण मैंने गृहपति आनन्द और तीसरे मासिक उपवास का पारण मैंने सुनन्द के घर किया। चौथे मासिक उपवास का पारण करने के लिए मै नालन्दा के निकटवर्ती 'कोल्लाग सन्निवेश' मे गया। वहा बहुल नाम का ब्राह्मण रहता था। उसके घर मुझे आहार-दान मिला। गोशालक मुझे खोजता-खोजता कोल्लाग सन्निवेश के बाहर पहुच गया। वहा पण्यभूमि मे मुझे मिला। उसने मुझसे कहा—'आप मेरे धर्माचार्य हैं। मैं आपका अतेवासी हू। आप यह स्वीकार करे।' इस बार मैंने यह स्वीकार कर लिया। अब हम दोनो साथ-साथ रहने लगे। छह वर्ष तक हम साथ रहे, फिर अलग हो गए।'

गौतम ने भगवान् से सुना वह कुछ लोगो को बताया। उनकी बात आगे

फैली। वह फैलती-फैलती गोशालक के कानों तक पहुच गई। उसे वह बात प्रिय नहीं लगी। उसका मन प्रज्वलित हो गया।

एक दिन भगवान् के शिष्य आनन्द नामक श्रमण आहार की एषणा के लिए श्रावस्ती मे जा रहे थे। गोशालक ने उन्हे देखा। उन्हें बुलाकर कहा—'आनन्द! यहा आओ और एक दृष्टान्त सुनो।' आनन्द गोशालक के पास चले गए। वे सुनने की मुद्रा मे खड़े हो गए। गोशालक कहने लगा—'पुराने जमाने की बात है। कुछ व्यापारी माल लेकर दूर देश जा रहे थे। रास्ते मे जगल आ गया। वे भोजन-पानी की व्यवस्था कर जगल मे चले। कुछ दूर जाने पर उनके पास का जल समाप्त हो गया। आसपास मे न कोई गाव और न कोई जलाशय। वे प्यास से आकुल होकर चारो ओर जल खोजने लगे। खोजते-खोजते उन्होने चार बाबियां देखी। एक बांबी को खोदा। उसमे जल निकला—शीतल और स्वच्छ। व्यापारियो ने जल पिया और अपने बर्तन भर लिये। कुछ व्यापारियो ने कहा—अभी तीन बांबिया बाकी हैं। इन्हे भी खोद डालें। पहली से जलरत्न निकला है। सम्भव है दूसरी से स्वर्णरत्न निकल आए। उनका अनुमान सही निकला। उन्होने दूसरी बाबी को खोदा, उसमे सोना निकला। उनका मन लालच से भर गया। अब वे कैसे रुक सकते थे? उन्होने तीसरी बाबी की भी खुदाई की। उसमे रत्नो का खजाना मिला। उनका लोभ सीमा पार कर गया। वे परस्पर कहने लगे—पहली मे हमे जल मिला, दूसरी मे सोना और तीसरी मे रत्न। चौथी मे सम्भव है और भी मूल्यवान् वस्तु मिले। उनमे एक वणिक् अनुभवी और सबका हितैषी था। उसने कहा—'हमे बहुत मिल चुका है। अब हम लालच न करें। चौथी बाबी को ऐसे ही छोड़ दें। हो सकता है इसमे कुछ और ही निकले।' उसके इस परामर्श पर किसी ने ध्यान नही दिया। उन व्यापारियो के हाथ चौथी बाबी को तोडने आगे बढे। जैसे ही उन्होने बाबी को तोडने का प्रयत्न किया, एक भयकर फुफकार से वातावरण काप उठा। एक विशालकाय सर्प बाहर आया और बाबी के शिखर पर चढ़ गया। वह दृष्टिविष था—उसकी आखो मे जहर था। उसने सूर्य की ओर देखा, फिर अपलक आखो से उन व्यापारियो के सामने देखा। उसकी आखो से इतनी तीव्र विष-रश्मिया निकली कि वे सब के सब व्यापारी वही भस्म हो गए। एक वही व्यापारी बचा जिसने सबको रोका था।

आनन्द! तुम्हारे धर्माचार्य पर भी यही दृष्टान्त लागू होता है। उन्हे बहुत मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा मिली है। फिर भी वे सतुष्ट नही है। वे कहते हैं—गोशालक मेरा शिष्य है। वह जिन नही है। तुम जाओ और अपने धर्माचार्य को सावधान कर दो, अन्यथा मैं जाऊगा और उनकी वही दशा करूगा जो दृष्टि-विष सर्प ने उन व्यापारियो की की थी। सिर्फ तुम बच पाओगे।'

आनन्द के मन मे एक हलचल-सी पैदा हो गई। वे हालाहला कुम्भकारी की

भाडशाला से निकलकर शीघ्र भगवान् के पास आए। उन्होंने गोशालक के साथ हुई सारी बातचीत भगवान् के सामने रखी। वे भगवान् की शक्ति को जानते थे, फिर भी उनके मन मे एक प्रकंपन पैदा हो गया। वे कपित स्वर में बोले—'भंते ! क्या गोशालक अपनी तैजस शक्ति से भस्म करने में समर्थ है ?'

भगवान ने कहा—'वह समर्थ है पर अर्हत् को भस्म नहीं कर सकता। उन्हें केवल परितप्त कर सकता है। आनन्द ! तुम जाओ और सभी श्रमणों को सावधान कर दो कि यदि गोशालक यहां आए तो कोई उससे वाद-विवाद न करे, पूर्व घटना की स्मृति न दिलाए और उसका तिरस्कार न करे।'

आनन्द ने सब श्रमणों को भगवान् के आदेश की सूचना दे दी। वे अपना काम पूरा कर भगवान् के पास आ रहे थे, इतने में आजीवक सघ के साथ गोशालक वहां आ पहुंचा। उसने आते ही कहा—'ठीक है आयुष्मान् काश्यप ! तुमने मेरे बारे मे यह कहा—गोशालक मेरा शिष्य है। पर मैं तुम्हारा शिष्य नहीं हू। जो तुम्हारा शिष्य था वह मर चुका। आयुष्मान् काश्यप ! मैं सात शरीरान्त प्रवेश कर चुका हूं—

१. सातवें मनुष्य भव मे मैं उदायी कुडियान था। राजगृह नगर के बाहर मण्डिकुक्ष-चैत्य मे उदायी कुडियान का शरीर छोडकर मैंने ऐणेयक के शरीर मे प्रवेश किया और बाईस वर्ष उसमे रहा।

२ उद्दंडपुर नगर के चन्द्रावतरण-चैत्य में ऐणेयक का शरीर छोडा और मल्लराम के शरीर मे प्रवेश किया। बीस वर्ष उसमे रहा।

३ चम्पा नगर के अगमन्दिर-चैत्य मे मल्लराम का शरीर छोडकर मंडित के शरीर मे प्रवेश किया और अठारह वर्ष उसमे रहा।

४. वाराणसी नगरी मे काममहावन मे माल्यमडित का शरीर छोडकर रोह के शरीर मे प्रवेश किया और उन्नीस वर्ष उसमे रहा।

५. आलभिया नगरी के पत्तकालाय-चैत्य मे रोह के शरीर का त्याग कर भरद्वाज के शरीर मे प्रवेश किया और अठारह वर्ष उसमें रहा।

६. वैशाली नगरी के कोडिन्यायन-चैत्य में गौतम-पुत्र अर्जुन के शरीर मे प्रवेश कर सतरह वर्ष उसमे रहा।

७. श्रावस्ती मे हालाहला की भाडशाला मे अर्जुन के शरीर को छोडकर इस गोशालक के शरीर मे प्रवेश किया। इस शरीर मे सोलह वर्ष रहने के पश्चात् सर्व दुःखो का अन्त करके मुक्त हो जाऊंगा।

इस प्रकार आयुष्मान् काश्यप ! एक सौ तेईस वर्ष में मैंने सात शरीरान्त-परावर्तन किया है।'

गोशालक की बात सुनकर भगवान् बोले—'गोशालक ! यह ठीक वैसे ही है, जैसे कोई चोर भाग रहा है। पकड़ने वाले लोग उसका पीछा कर रहे हैं। उसे

छिपने के लिए कोई गढ़ा, दरी, गुफा, कुआं, पहाड़, निम्नस्थल या विषमस्थल नहीं मिल रहा है। उस समय वह एकाध ऊन के रेशे, सन के रेशे, रुई के रेशे या तृण के अग्रभाग से अपने को ढककर—ढका हुआ न होने पर भी—वह माने कि मैं ढंका हुआ हूं। तुम दूसरे न होते हुए भी 'मैं दूसरा हूं' कहकर अपने आपको छिपाना चाहते हो। गोशालक ! ऐसा मत करो। ऐसा करना उचित नहीं है।'

भगवान् महावीर की बात सुनकर गोशालक क्रुद्ध हो गया। उसने भगवान् से अनेक आक्रोशपूर्ण बातें कहीं। फिर बोला—'मुझे लगता है अब तुम नष्ट हो गए, विनष्ट हो गए, भ्रष्ट हो गए। इसमें कोई संदेह नहीं तुम नष्ट, विनष्ट और भ्रष्ट—तीनो एक साथ हो गए। पता नही आज तुम बच पाओगे या नहीं। अब मेरे हाथों तुम्हारा अप्रिय होने वाला है।'

गोशालक वो क्षण मौन रहा। उस समय भगवान् महावीर का पूर्वदेशीय शिष्य सर्वानुभूति नाम का अनगार उठा। उसका भगवान् के प्रति अत्यन्त धर्मानुराग था इसलिए वह अपने को रोक नहीं सका। वह गोशालक के पास आकर बोला—'गोशालक ! कोई व्यक्ति किसी श्रमण या ब्राह्मण के पास एक भी धार्मिक वचन सुनता है, वह उसे वन्दना करता है, उसकी उपासना करता है। फिर भगवान् महावीर ने तो तुम्हें प्रव्रजित किया, बहुश्रुत किया और तुम उन्ही के साथ ऐसा व्यवहार कर रहे हो ? गोशालक ! ऐसा मत करो। ऐसा करना उचित नहीं है।'

सर्वानुभूति की बात सुन गोशालक उत्तेजित हो उठा। उसने अपनी तैजस शक्ति का प्रयोग किया और सर्वानुभूति को, भगवान् के देखते-देखते, भस्म कर दिया।

सर्वानुभूति को भस्म कर गोशालक फिर भगवान् को कोसने लगा। उस समय अयोध्या से प्रव्रजित सुनक्षत्र नाम का अनगार उठा। उसने गोशालक को समझाने का प्रयत्न किया। सुनक्षत्र की बातें सुन गोशालक फिर उत्तेजित हो गया। उसने फिर तैजस शक्ति का प्रयोग किया और सुनक्षत्र को भस्म कर डाला।

अब भगवान् स्वयं बोले—'गोशालक ! मैंने तुम्हें प्रव्रजित किया, बहुश्रुत किया और तुम मेरे ही साथ ऐसा व्यवहार कर रहे हो ? गोशालक ! ऐसा मत करो। ऐसा करना उचित नहीं है।'

भगवान् का प्रयत्न अनुकूल परिणाम नहीं ला सका। गोशालक और अधिक क्षुब्ध हो गया। वह सात-आठ चरण पीछे हटा। उसने पूरी शक्ति लगा भगवान् पर तैजस शक्ति का प्रयोग किया। उस आकस्मिक प्रयोग ने भगवान् के शिष्यों को हतप्रभ-सा कर दिया। वातावरण में भयानक सन्नाटा छा गया। चारों ओर धुआं और आग की लपटें उछलने लगीं। दूर-दूर के लोग एक साथ चीत्कार कर उठे।

उस आग ने भगवान् के शरीर में घुसने का प्रयत्न किया पर वह घुस नही सकी। वह भगवान् के शरीर के पास चक्कर काटती रही। उससे भगवान् का शरीर झुलस गया। वह शक्ति आकाश मे उछली और लौटकर गोशालक के शरीर को प्रज्वलित करती हुई उसी मे प्रविष्ट हो गई।

गोशालक ने कहा—'आयुष्मान् काश्यप ! तुम मेरे तप-तेज से दग्ध हो चुके हो। अब तुम पित्तज्वर और दाह से पीडित होकर छह मास के भीतर असर्वज्ञदशा मे ही मर जाओगे।'

भगवान् बोले—'गोशालक ! मैं छह मास के भीतर नही मरूगा। अभी सोलह वर्ष तक जीवित रहूगा।'

इधर कोष्ठक-चैत्य मे यह सलाप चल रहा था और उधर श्रावस्ती के राजमार्गों और बाजारो मे इसी की चर्चा हो रही थी। कोई अपने मित्र से कह रहा था—'आज महावीर और गोशालक—दोनो तीर्थंकरो के बीच सलाप हो रहा है।' कोई कह रहा था—'महावीर के सामने गोशालक क्या टिकेगा ?' कोई कह रहा था—'ऐसी बात नही है। गोशालक भी बहुत शक्तिशाली है। यह बराबर की भिडन्त है, देखे क्या होता है।' जितनी टोलिया, उतनी ही बातें। कोई टोली महावीर का समर्थन कर रही थी और कोई गोशालक का।

सवाद पहुचा कि गोशालक ने अपने तप-तेज से महावीर के दो साधुओ को भस्म कर दिया। लोग गोशालक की जय-जयकार करने लगे। फिर सवाद पहुचा कि गोशालक ने महावीर को भस्म करने का प्रयत्न किया पर वह कर नही सका। उसकी तैजस शक्ति लौटकर उसी के शरीर मे चली गई। वह आकुल-व्याकुल हो गया। लोग महावीर की जय-जयकार करने लगे। जन-साधारण चमत्कार देखता है। वह धर्म को नही देखता। यदि महावीर मे रागात्मक प्रवृत्ति होती तो वे अपने दो शिष्यो को कभी नही जलने देते। उनमे जब रागात्मक प्रवृत्ति थी तब उन्होने गोशालक को नही जलने दिया। वैश्यायन तपस्वी ने गोशालक पर तैजस शक्ति का प्रयोग किया। उस समय भगवान् महावीर ने शीतल तैजस शक्ति से उसकी शक्ति को निर्वीर्य बना दिया। पर अब महावीर वीतराग हो चुके थे। अब वे धर्म की उस भूमिका पर पहुच चुके थे जहा उनके सामने जीवन और मृत्यु का भेद समाप्त हो चुका था, स्व और पर का भेद मिट चुका था। वे शक्तिप्रयोग की भूमिका से ऊपर उठ चुके थे। उनके सामने केवल धर्म ही था, चमत्कार कतई नहीं। जो लोग चिंतनशील थे, उन पर दो मुनियो को जलाने के सवाद का बहुत बुरा प्रभाव पडा। वे धर्म को रागात्मक प्रवृत्तियो से बचने का साधन मानते थे। वे मानते थे कि धर्म सार्वभौम प्रेम है। उसकी मर्यादा मे कोई किसी का शत्रु होता ही नही। धर्म के क्षेत्र मे रागात्मक प्रवृत्तिया घुस आती हैं, तब धर्म के नाम पर सघर्ष प्रारम्भ हो जाते हैं। भगवान् महावीर ने अपनी वीतरागता तथा गोशालक

की शक्ति को स्वयं झेलकर संघर्ष को समाप्त कर दिया। गोशालक शान्त होकर अपने स्थान पर चला गया। वातावरण जैसे उत्तेजित हुआ, वैसे ही शान्त हो गया।

भगवान् श्रावस्ती से विहार कर मेंढिय ग्राम पहुंचे। वहां शाणकोष्ठक-चैत्य में ठहरे। भगवान् के शरीर में पित्तज्वर और दाह का भयंकर प्रकोप हो गया। साथ-साथ रक्तातिसार भी हो गया। भगवान् के रोग की चर्चा सुन चारों वर्णों के लोग कहने लगे—भगवान् महावीर गोशालक के तप-तेज से पराभूत हो गए हैं। गोशालक की भविष्यवाणी सही होगी। वे छह मास मे मर जाएगे, ऐसा प्रतीत हो रहा है। यह चर्चा दूर-दूर तक फैली। शाणकोष्ठक-चैत्य के पास ही मालुयाकच्छ था। वहा भगवान् महावीर का अतेवासी सिंह नाम का अनगार तप और ध्यान की साधना कर रहा था। यह चर्चा उसके कानो तक पहुची। वह मानसिक व्यथा से अभिभूत हो गया। वह आतापनभूमि से उतरा और मालुयाकच्छ मे आकर जोर-जोर से रोने लगा।

भगवान् महावीर ने कुछ श्रमणो को बुलाकर कहा—'तुम जाओ, मालुयाकच्छ मे मेरा अतेवासी सिंह नाम का अनगार मेरी मृत्यु की आशका से आशकित होकर रो रहा है। उसे यहा बुलाकर ले आओ।' श्रमणो ने भगवान् महावीर को वदना की। वे वहा से चले और मालुयाकच्छ मे पहुचे। उन्होने देखा सिंह अनगार सिसक-सिसक कर रो रहा है। वे सिंह को सम्बोधित कर बोले—'सिंह ! तुम्हें भगवान् बुला रहे है।' उसे थोडा आश्वासन मिला। वह कुछ सभला। वह आए हुए श्रमणो के साथ भगवान् के पास पहुचा। भगवान् बोले—'सिंह ! तू मेरे रोग का सवाद सुन मेरी मृत्यु की आशका से आशकित हो गया। तेरे मन मे सशय पैदा हो गया कि कही गोशालक की बात सच न हो जाए। तू सशय से अभिभूत होकर रोने लग गया। क्यो, सच है न ?'

'भते ! ऐसा ही हुआ।'

'सिंह ! तू चिंता को छोड। आशका को मन से निकाल दे। मैं अभी सोलह वर्ष तक तुम्हारे बीच रहूगा।'

भगवान् की वाणी सुन सिंह का चित्त हर्षोत्फुल्ल हो गया। उसका चेहरा खिल उठा। उसने भगवान् के रोग पर चिंता प्रकट की। भगवान् से दवा लेने का अनुरोध किया। भगवान् ने कहा—'काल का परिपाक होने पर रोग अपने आप शान्त हो जाएगा।' सिंह ने कहा—'नही, भते ! कुछ उपाय कीजिए।' भगवान् ने कहा—'सिंह ! तुम गृहपत्नी रेवती के घर जाओ। उसने मेरे लिए कुम्हडे का पाक तैयार किया है। वह तुम मत लाना। उसने अपने घर के लिए बिजौरापाक बनाया है, वह ले आओ।' सिंह रेवती के घर गया। रेवती ने मुनि को वन्दना की और आने का प्रयोजन पूछा। सिंह ने सारी बात बता दी। रेवती ने आश्चर्य की मुद्रा मे

कहा—'भंते ! मेरे मन की गुह्य बात किसने बताई?' 'भगवान् महावीर ने'—सिंह ने उत्तर दिया। रेवती ने भगवान् के ज्ञान को वन्दना की और बिजौरापाक मुनि को दिया। वह उसे ले भगवान् के पास गया। भगवान् ने उसे खाया। रोग थोड़े समय में शान्त हो गया। भगवान् पूर्ण स्वस्थ हो गए। भगवान् के स्वास्थ्य का संवाद पाकर श्रमण तुष्ट हुए, श्रमणियां तुष्ट हुईं, श्रावक तुष्ट हुए, श्राविकाएं तुष्ट हुईं और क्या, समूचा लोक तुष्ट हो गया।[1]

---

1 देखें—भगवती शतक पन्द्रहवां।

४६

निर्वाण

भगवान् महावीर जितने अतर् मे सुन्दर थे, उतने ही बाहर मे सुन्दर थे। उनका आन्तरिक सौन्दर्य जन्म-लब्ध था और साधना ने उसे शिखर तक पहुंचा दिया। उनका शारीरिक सौन्दर्य प्रकृति-प्राप्त था और स्वास्थ्य ने उसे शतगुणित और चिरजीवी बना दिया। भगवान् अपने जीवन-काल मे बहुत स्वस्थ रहे। उन्होंने अपने जीवन मे एक बार चिकित्सा की। वह भी किसी रोग के कारण नहीं की। गोशालक की तैजस शक्ति से उनका शरीर झुलस गया था, तब उन्होंने औषधि का प्रयोग किया। इस घटना को छोड़कर उन्होंने कभी औषधि नही ली। उनके स्वास्थ्य के मूल आधार तीन थे—

१. आहार-सयम।

२. शरीर और आत्मा के भेदज्ञान की सिद्धि।

३. राग-द्वेष की ग्रन्थि का विमोचन।

भोजन की अधिक मात्रा, शारीरिक और मानसिक तनाव—ये शरीर को अस्वस्थ बनाते हैं। भगवान् इन सबसे मुक्त थे, इसलिए वे सदा स्वस्थ रहे।

भगवान् गृहवास मे भी स्वाद पर विजय पा चुके थे। उनके भोजन की दो विशेषताएं थीं—मित मात्रा और मित वस्तुएं। भगवान् के साधनाकाल में उपवास के दिन अधिक हैं, भोजन के दिन कम। इन उपवासो ने उनके शरीर में रासायनिक परिवर्तन कर दिया। उपवास की लम्बी शृंखला के कारण उनका शरीर कृश अवश्य हुआ, किन्तु उनकी रोग-निरोधक क्षमता इतनी बढ़ गई कि कोई रोग उस पर आक्रमण नहीं कर सका। आयुर्वेद के आचार्यों ने लघन को बहुत महत्त्वपूर्ण बताया है। अश्विनीकुमार योगी का रूप बनाकर घूम रहे थे। वे वाग्भट के पास पहुच गए। उन्होने वाग्भट से पूछा—

'वैद्य! मुझे उस औषधि का नाम बताओ जो भूमि और आकाश में उत्पन्न

नहीं है, पथ्य, रसशून्य और सर्वशास्त्र-सम्मत है।"[1]

वाग्भट ने उत्तर की भाषा मे कहा—

'आयुर्वेद के आचार्यों ने लघन को परम औषध बतलाया है। वह भूमि और आकाश मे उत्पन्न नही है, पथ्य, रसशून्य और सर्वशास्त्र सम्मत है।'[2]

आयुर्वेद का लघन यदि परम औषधि है तो उपवास चरम औषधि है। जैन आचार्यों ने लघन और उपवास मे बहुत अन्तर बतलाया है। लघन का अर्थ केवल अनाहार है किन्तु उपवास का अर्थ बहुत गहरा है। केवल आहार न करना ही उपवास नही है। उसका अर्थ है आत्मा की सन्निधि मे रहना, चित्तातीत चेतना का उदय होना। इस दशा मे रोग की सभावना ही नही हो सकती।

भगवान् ने साधना-काल मे कुछ महीनो तक रूक्ष और अरस भोजन के प्रयोग किए। शरीरशास्त्रियो का मत है कि पूरे तत्त्व न मिलने पर शरीर रुग्ण हो जाता है। पर भगवान् कभी रुग्ण नही हुए। चेतना के उच्च विकास ने शरीर की आतरिक क्रिया पूरी तरह बदल दी। उनका प्रभु पूर्णभाव से जागृत हो गया। फिर यह देह-मन्दिर कैसे स्वस्थ, सुन्दर और सशक्त नही रहता ?

कैवल्य प्राप्त होने पर भगवान् की साधना सम्पन्न हो गई। फिर उन्होने नैरतरिक उपवास नही किए। उपवास अपने आप मे कोई लक्ष्य नही है। वह लक्ष्य-पूर्ति का एक साधन है। लक्ष्य की पूर्ति होने पर साधन असाधन बन गया।

स्कन्दक परिव्राजक भगवान् के पास गया। उस समय भगवान् प्रतिदिन आहार करते थे। इससे उनका शरीर बहुत पुष्ट, दीप्तिमान् और अलकार के बिना भी विभूषित जैसा लग रहा था। वह भगवान् के शारीरिक सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया।

श्वेताम्बर मानते हैं कि केवली होने के बाद भी भगवान् आहार करते थे। दिगम्बर मानते हैं कि केवली होने के बाद भगवान् आहार नही करते थे। वास्तविकता क्या है, यह नही कहा जा सकता। सिद्धान्तत दोनो वास्तविकता से परे नही हैं। कैवल्य और आहार मे कोई विरोध नही है। इसलिए भगवान् आहार करते थे—यह श्वेताम्बर मान्यता अयथार्थ नही है। शक्ति-सपन्न योगी खाए बिना भी शरीर धारण कर सकता है। इसलिए भगवान् आहार नही करते थे—यह दिगम्बर मान्यता भी अयथार्थ नही है।

भगवान् बहत्तरवें वर्ष मे चल रहे थे। उस अवस्था मे भी वे पूर्ण स्वस्थ थे। वे

---

१ अभूमिजमनाकाशं, पथ्य रसविवर्जितम्।
सम्मतं सर्वशास्त्राणा, वद वैद्य ! किमौषधम् ?

२ अभूमिजमनाकाशं, पथ्य रसविवर्जितम्।
पूर्वाचार्यैं समाख्यात, लघनं परमौषधम्॥

राजगृह से विहार कर अपापा पुरी मे आए। वहां की जनता और राजा हस्तिपाल ने भगवान् के पास धर्म का तत्त्व सुना। भगवान् के निर्वाण का समय बहुत समीप आ रहा था। भगवान् ने गौतम को आमन्त्रित कर कहा—'गौतम ! पास के गाव मे सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण है। उसे धर्म का तत्त्व समझाना है। तुम वहा जाओ और उसे सम्बोधि दो।' गौतम भगवान् का आदेश शिरोधार्य कर वहां चले गए।

भगवान् ने दो दिन का उपवास किया। वे दो दिन-रात तक प्रवचन करते रहे।[1] भगवान् ने अपने अंतिम प्रवचन मे पुण्य और पाप के फलो का विशद विवेचन किया।[2] भगवान् प्रवचन करते-करते ही निर्वाण को प्राप्त हो गए। उस समय रात्रि चार घडी शेष थी।[3]

वह ज्योति मनुष्य लोक से विलीन हो गई जिसका प्रकाश असख्य लोगो के अन्त करण को प्रकाशित कर रहा था। वह सूर्य क्षितिज के उस पार चला गया जो अपने रश्मिपुज से जन-मानस को आलोकित कर रहा था।

मल्ल और लिच्छवि गणराज्यो ने दीप जलाए। कार्तिकी अमावस्या की रात जगमगा उठी। भगवान् का निर्वाण हुआ उस समय क्षणभर के लिए समूचे प्राणी-जगत् मे सुख की लहर दौड गई।

ईसा पूर्व ५९९ (विक्रम पूर्व ५४२) मे भगवान् का जन्म हुआ।
ईसा पूर्व ५६६ (विक्रम पूर्व ५१२) में भगवान् श्रमण बने।
ईसा पूर्व ५५७ (विक्रम पूर्व ५००) मे भगवान् केवली बने।
ईसा पूर्व ५२७ (विक्रम पूर्व ४७०) मे भगवान् का निर्वाण हुआ।

---

१. सौभाग्यपचम्यादि पर्वकथा सग्रह, पत्र १००।
२. समवाओ, ५५।४।
३ कल्पसूत्र, सूत्र १४७, सुबोधिका टीका—चतुर्घटिकावशेषायां रात्रौ।

४७

परम्परा

सोमशर्मा ब्राह्मण प्रतिबुद्ध हो गया। गौतम अपने कार्य मे सफल होकर भगवान् के पास आ रहे थे। उनका मन प्रसन्न था। वे सोच रहे थे—'मैं भगवान् को अपने उद्देश्य मे सफल होने की बात कहूगा। उन्हे इसका पता है, फिर भी मैं अपनी ओर से बताऊगा।' वे अपनी कल्पना का ताना-बाना बुन रहे थे। इतने मे उन्हे सवाद मिला कि भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया।

उनकी वाणी मौन, पैर स्तब्ध और शरीर निश्चेष्ट हो गया। उन्हें भारी आघात लगा। उन्होने कल्पना भी नही की थी कि जीवन भर शरीर के साथ छाया की भाति भगवान् के साथ रहने वाला गौतम निर्वाण के समय उनसे बिछुड जाएगा। उन्हे भगवान् के शारीरिक वियोग पर जितना दु ख हुआ, उससे भी अधिक दु.ख इस बात का हुआ कि वे निर्वाण के समय भगवान् के पास नही रह सके। वे भावावेश मे भगवान् को उलाहना देने लगे—'भते ! आपने मेरे साथ विश्वासघात किया। आपने मुझे अतिम समय मे सोमशर्मा को प्रतिबोध देने क्यो भेजा ? यह कार्य चार दिन बाद भी किया जा सकता था। लगता है, मेरा अनुराग एकपक्षीय था। मैं आपसे अनुराग कर रहा था, आप मुझसे अनुराग नही कर रहे थे। भला एकपक्षीय अनुराग कब तक चल सकता है ? एक दिन उसे टूटना ही पड़ता है। आपने मेरे चिरकालीन सम्बन्ध को कच्चे धागे की भांति तोड डाला। आप चले गए। मैं पीछे रह गया।'

कुछ क्षणो के लिए गौतम भान भूल गए। उनकी अन्तरात्मा जागृत हुई। वे सभले। उन्होने सोचा—मैं वीतराग को राग की भूमिका पर लाने का प्रयत्न कर रहा हू। क्यो नही मैं उनकी भूमिका पर चला जाऊं ? गौतम की दिशा बदल गई। वे वीतराग के पथ पर चल पड़े। सही दिशा, सही पथ और दीर्घकालीन साधना—सबका योग मिला। गौतम ध्यान के उच्च शिखर पर पहुंचे। उनका राग क्षीण

हुआ। वे केवली हो गए। उन्हें महावीर के जीवनकाल में जो नहीं मिला, वह उनके निर्वाण के बाद मिल गया।

अग्निभूति, वायुभूति, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास—इन पांच गणधरों का भगवान् से पहले निर्वाण हो चुका था। व्यक्त, मंडित, मौर्यपुत्र और अकंपित—इन चार गणधरों का निर्वाण भगवान् के निर्वाण के कुछ महीनो बाद हुआ। इन्द्रभूति भगवान् के पश्चात् साढ़े बारह वर्ष और सुधर्मा साढ़े बीस वर्ष जीवित रहे। ये दोनो पचास वर्ष तक गृहवास मे रहे। भगवान् का निर्वाण हुआ तब ये ८० वर्ष के थे। गौतम का निर्वाण ६२ वर्ष की तथा सुधर्मा का निर्वाण १०० वर्ष की अवस्था मे हुआ।

भगवान् महावीर तीर्थंकर थे। वे परम्परा के कारण हैं, पर परम्परा मे नहीं हैं। तीर्थंकर की परम्परा नही होती। वह किसी का शिष्य नही होता और उसका शिष्य तीर्थंकर नही होता। इस दृष्टि से भगवान् महावीर के धर्म-शासन मे प्रथम आचार्य सुधर्मा हुए। वे भगवान् के उत्तराधिकारी नही थे। भगवान् ने अपना उत्तराधिकार किसी को नही सौंपा। भगवान् के धर्म-सघ के अनुरोध पर सुधर्मा ने धर्म-शासन का सूत्र सभाला।

गौतम भगवान् के सबसे ज्येष्ठ शिष्य थे। उनकी श्रेष्ठता भी अद्वितीय थी। पर भगवान् के निर्वाण के तत्काल बाद वे केवली हो गये। इसलिए वे आचार्य नही बने। केवली किसी का अनुसरण नही करता। वह जनता को यह नही कहता कि महावीर ने ऐसा कहा, इसलिए मैं यह कह रहा हूं। उसकी भाषा यह होती है कि मैं ऐसा देख रहा हू, इसलिए यह कह रहा हूं। भगवान् महावीर का धर्म-शासन चलाना था। उनकी अनुभूति वाणी को फैलाने का गुरुतर दायित्व सभालने मे सुधर्मा सक्षम थे, इसलिए धर्म-सघ ने उन्हें आचार्यपद पर स्थापित किया।

बौद्ध पिटको मे मिलता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद उनके धर्म-सघ मे फूट पड गयी। मज्झिमनिकाय मे लिखा है—

'एक बार भगवान् शाक्य जनपद के समागम मे विहार कर रहे थे। पावा मे कुछ समय पूर्व ही निग्गठ नातपुत्त की मृत्यु हुई थी। उनकी मृत्यु के अनन्तर ही निग्गठो मे दो पक्ष हो गए। लड़ाई, कलह और विवाद होने लगा। निग्गठ एक दूसरे को वचन-बाणो से पीड़ित करते हुए कह रहे थे—तू इस धर्म-विनय को नहीं जानता, मैं इसको जानता हू। तू इस धर्म-विनय को कैसे जान सकेगा? तू मिथ्या प्रतिपन्न है, मैं सम्यग्-प्रतिपन्न हूं। मेरा कथन हितकारी है, तेरा कथन अहितकारी है। पूर्व कथनीय बात तूने पीछे कही और पश्चात् कथनीय बात पहले कही। तेरा वाद आरोपित है। तू वाद मे पकड़ा जा चुका है। अब तू उससे छूटने का प्रयत्न कर। यदि तू समर्थ है तो इस वाद को समेट ले। उस समय नातपुत्तीय निग्गठों में युद्ध-सा हो रहा था।'

निग्गठ नातपुत्त के श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य भी नातपुत्तीय निग्गठो मे वैसे ही विरक्तचित्त हैं, जैसे कि वे नातपुत्त के दुराख्यात, दुष्प्रवेदित, अनैर्यानिक अनृ-उपशम-सवर्तनिक, अ-सम्यक्-सबुद्ध-प्रवेदित, प्रतिष्ठा-रहित, भिन्नस्तूप, आश्रय रहित धर्म विनय मे थे।

चुन्द समणुद्देश पावा मे वर्षावास समाप्त कर सामगाम मे आयुष्मान् आनन्द के पास आए और उन्हे निग्गठ नातपुत्त की मृत्यु तथा निग्गठो मे हो रहे विग्रह की विस्तृत सूचना दी। आयुष्मान् आनन्द बोले—आवुस चुन्द ! भगवान् के दर्शन के लिए यह कथा भेंट रूप है। आओ, हम भगवान् के पास चलें और उन्हे निवेदित करें।'

दोनो भगवान् के पास आए और अभिवादन कर एक ओर बैठ गए। आनन्द ने सारा घटना-वृत्त भगवान् बुद्ध को सुनाया।

जैन आगमो मे उक्त घटना का कोई उल्लेख नही है। भगवान् महावीर के जीवनकाल मे सघर्ष की दो घटनाए घटित हुई थी। भगवान् ५६ वर्ष के थे उस समय भगवान् के शिष्य जमालि ने सघ-भेद की स्थिति उत्पन्न की थी। जमालि के साथ पाच सौ श्रमण थे। उनमे से कुछेक जमालि का समर्थन कर रहे थे और कुछ उसका विरोध कर रहे थे। हो सकता है, उस घटना की स्मृति और काल की विस्मृति ने इस घटना को जन्म दिया हो।

भगवान् जब ५८ वर्ष के थे, उस समय उनके शिष्य गौतम और भगवान् पार्श्व के शिष्य केशी मे वाद हुआ था। उसमे धर्म, वेशभूषा आदि अनेक विषयो पर चर्चा हुई थी। बहुत सभव है कि पिटको मे यही घटना काल की विस्मृति के साथ उल्लिखित हुई हो।

४८

जीवन का विहंगावलोकन

१ कर्तृत्व के मूलस्रोत

१. से वीरिएण पडिपुण्णवीरिए।[1]
—भगवान् वीर्य से परिपूर्ण थे।

२. खेयण्णए से कुशले मेधावी।[2]
—भगवान् आत्मज्ञ, कुशल और मेधावी थे।

३ अणतणाणी य अणतदसी।[3]
—भगवान् अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी थे।

४ गथा अतीते अभए अणाऊ।[4]
—भगवान् सब ग्रन्थो से अतीत, अभय और अनायु थे।

५ वइरोयणिदे व तम पगासे।[5]
—भगवान् सूर्य की भाति अधकार को प्रकाश मे बदल देते थे।

---

१. सूयगडो १।६।६।
२ सूयगडो १।६।३।
३. सूयगडो : १।६।३।
४ सूयगडो : १।६।५।
५ सूयगडो : १।६।६।

२. श्रमण जीवन का ज्ञानपूर्वक स्वीकार

६. किरियाकिरिय वेणइयाणुवायं,
अण्णाणियाण पडियच्च ठाण ।
से सव्ववाय इह वेयइत्ता,
उवट्ठिए सम्म स दीहराय ।।[1]

—भगवान् क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद—इन वादो को जानकर फिर मोक्ष-साधना मे उपस्थित हुए । साधना का सकल्प अवस्थित हो जाता है, उसका भग नही हो सकता । साधना के जिस तल पर पहुच हो जाती है, उसके नीचे नही उतरा जा सकता, प्रगति के बाद प्रतिगति नही हो सकती । इस सिद्धान्त के अनुसार भगवान् आजीवन मोक्ष के लिए समर्पित हो गए ।

३. तप और ध्यान

७. उवहाणव दुक्खखयट्ठयाए ।[2]
—भगवान् ने पूर्व-अर्जित दु खो को क्षीण करने के लिए तपस्या की ।

८. अणुत्तर झाणवर झियाइ ।[3]
—भगवान् ने सत्य की प्राप्ति के लिए ध्यान किया ।

९ अदु पोरिसि तिरियभित्ति, चक्खु मासज्ज अतसो झाई ।[4]
—भगवान् ने प्रहर-प्रहर तक तिरछी भित्ति पर आंख टिकाकर ध्यान किया ।

१० मीसीभाव पहाय मे झाई ।[5]
—भगवान् जन-सकुल स्थानो को छोडकर एकान्त मे ध्यान करते थे ।

---

१ सूयगडो १।६।२७ ।
२ सूयगडो १।६।२८ ।
३ सूयगडो १।६।१६ ।
४. आयारो . ६।१।५ ।
५ आयारो ६।१।७ ।

११. अविझाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं ।
उड्ढमहेतिरियं च, लोए झायइ समाहिमपडिन्ने ॥[1]
—भगवान् विविध आसनों मे स्थिर होकर ध्यान करते थे । वे ऊर्ध्व-लोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक को ध्येय बनाकर ध्यान करते थे ।

४. मौन

१२. पुट्ठो वि णाभिभासिसु ।[2]
—भगवान् पूछने पर भी प्राय नही बोलते थे ।

१३. रीयइ माहणे अबहुवाई ।[3]
—भगवान् बहुत नहीं बोलते थे । अनिवार्यता होने पर कुछेक शब्द बोलते थे ।

१४ अयमतरसि को एत्थ ? अहमसित्ति भिक्खू आहट्टु ।[4]
—'यहा भीतर कौन है ?' ऐसा पूछने पर भगवान् उत्तर देते—'मै भिक्षु हू ।'

५ निद्रा

१५ णिद्दंपि णो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए ।
जग्गावती य अप्पाण, ईसिं साई यासी अपडिन्ने ॥[5]
—भगवान् विशेष नीद नही लेते थे । वे बहुत बार खडे-खडे ध्यान करते तब भी अपने आपको जागृत रखते थे । वे समूचे साधना-काल मे बहुत थोड़े सोए । साढे बारह वषो मे मुहूर्त्त भर भी नही सोए ।

१६. णिक्खम्म एगया राओ, बहिं चकमिया मुहुत्ताग ।[6]
—कभी-कभी नीद सताने लगती तब भगवान् चक्रमण कर उस पर विजय पा लेते । वे निरन्तर जागरूक रहने का प्रयत्न करते ।

---

१. आयारो ९।१।१४ ।
२. आयारो . ९।१।७ ।
३. आयारो . ९।२।१० ।
४. आयारो : ९।२।१२ ।
५. आयारो : ९।२।५ ।
६. आयारो · ९।२।६ ।

साढे बारह वर्षों मे केवल कुछेक मिनटो की नीद लेना सामान्य प्रकृति के अनुकूल नही लगता। पर योगी के लिए यह असम्भव नहीं है। जो योगी अपनी चेतना को चिर-जागृत कर लेता है, जिसका सूक्ष्म शरीर सक्रिय हो जाता है, उसको नीद की आवश्यकता नही होती है या कम होती है। शारीरिक परिवर्तन से भी कभी-कभी ऐसी घटनाए घटित हो जाती हैं। आरमाण्ड जैक्विस लुहरवेट का जन्म ईसवी सन् १७६१ मे फ्रांस मे हुआ था। वे दो वर्ष के थे तब उनके सिर पर कोई वस्तु गिरी। चोट गहरी लगी। उन्हे अस्पताल ले जाया गया। वे कई दिनो तक मूर्च्छित रहे। कुछ दिनो के उपचार के बाद उनकी चेतना वापस आई। चोट से कोई शारीरिक परिवर्तन हो गया। उनकी नीद समाप्त हो गई। उन्हे नीद लाने वाली औषधिया दी गई, पर नीद नही आई।

नीद शरीर की सामान्य प्रकृति है। किन्तु चेतना की चिर-जागृति और शारीरिक परिवर्तन के द्वारा उस प्रकृति मे परिवर्तन होना सम्भावित है और काल के अविरल प्रवाह मे समय-समय पर ऐसा हुआ भी है।

६. आहार

१७ मायण्णे असणपाणस्स।[1]

—भगवान् भोजन और पानी की मात्रा को जानते थे और उनका मात्रा के अनुरूप ही प्रयोग करते थे।

१८. ओमोयरिय चाएति, अपुट्ठेवि भगव रोगेहिं।[2]

—भगवान् स्वस्थ होने पर भी कम खाते थे। रोग से स्पृष्ट मनुष्य अधिक नही खा सकते। भगवान् रुग्ण नही थे, फिर भी अधिक नही खाते थे।

१९. नाणुगिद्धे रसेसु अपडिन्ने।[3]

—भगवान् सरस भोजन मे आसक्त नही थ।

२०. अदु जावइत्थ लूहेण, ओयण-मथु-कुम्मासेण।[4]

—भगवान् भोजन के विविध प्रयोग करते थे। एक बार उन्होने रूक्ष भोजन का प्रयोग किया। वे कोरे ओदन, मथु और कुल्माष खाते रहे।

---

१ आयारो ९।२।२०।
२ आयारो ९।४।१।
३. आयारो : ९।१।२०।
४. आयारो : ९।४।४।

२१. एयाणि तिन्नि पडिसेवे, अट्ठ मासे य जावए भगवं ।[1]
—भगवान् ने आठ मास तक उक्त तीन वस्तुओं के आधार पर जीवन चलाया ।

२२. अपिइत्थ एगया भगवं, अद्धमासं अदुवा मासं पि ?[2]
२३ अवि साहिए दुवे मासे, छप्पि मासे अदुवा अपिवित्ता ।।[3]
—भगवान् उपवास मे पानी भी नही पीते थे । एक बार उन्होने एक पक्ष तक पानी नही पिया । एक मास, दो मास और छह मास तक भी पानी पिए बिना रहे ।

सामान्य धारणा है कि खान-पान के बिना जीवन नही चलता । खाए बिना मनुष्य कुछ दिन रह सकता है पर पानी पिए बिना लम्बे समय तक नही रहा जा सकता । पर भगवान् महावीर ने छह मास तक भोजन-जल न लेकर यह प्रमाणित कर दिया कि मनुष्य सकल्प और प्राणशक्ति के आधार पर भोजन और जल के बिना लम्बे समय तक जीवित रह सकता है ।

७ देहासक्ति विसर्जन

२४ पुट्ठे वा से अपुट्ठे वा, णो से सातिज्जति तेइच्छं ।[4]
—भगवान् रोग से स्पृष्ट होने या न होने पर चिकित्सा की इच्छा नही करते थे ।

२५ दुक्खसहे भगवं अपडिन्ने ।[5]
—भगवान् कष्टो को सहन करते थे ।

२६. अचले भगवं रीइत्था ।[6]
—भगवान् चचलता से मुक्त होकर विहार करते थे ।

---

१. आयारो ६।४।५ ।
२. आयारो ६।४।५ ।
३ आयारो ६।४।६ ।
४. आयारो ६।४।१ ।
५ आयारो ६।३।१२ ।
६. आयारो ६।३।१३ ।

२७. अच्छि पि णो पमज्जिया, णोवि य कंडूयये मुणी गायं ।[1]
—भगवान् आंख का प्रमार्जन नहीं करते थे, शरीर को खुजलाते भी नहीं थे ।

२८. पसारित्तु बाहुं परक्कमे, णो अवलंबिया ण कंधंसि ।[2]
—भगवान् शिशिर ऋतु में भी भुजाओ को फैलाकर रहते थे । वे भुजाओं से वक्ष को ढांक कर नहीं रहते ।

२९. जसिप्पेगे पवेयति, सिसिरे मारुए पवायते ।
तसिप्पेगे अणगारा, हिमवाए णिवायमेसति ॥
सघाडिओ पविसिस्सामो, एहा य समादहमाणा ।
पिहिया वा सक्खामो, अतिदुक्खं हिमगसफासा ॥
तसि भगव अपडिण्णे, अहे वियडे अहियासए दविए ।
णिक्खम्म एगदा राओ, चाएइ भगव समियाए ॥[3]
—शिशिर की ठडी हवा मे जब लोग कापते थे, कुछ मुनि भी बर्फीली हवाओ के चलने पर गर्म स्थानो को खोजते थे, सघाटियो मे सिमटकर रहते थे, अग्नि तपते थे और किवाड़ बन्द कर बैठते थे, उस समय भगवान् खुले स्थान मे रहकर ध्यान करते थे—न कोई आवरण और न कोई प्रावरण ।

८. सहिष्णुता

३०. कुक्कुरा तत्थ हिंसिसु णिवतिंसु ॥
अप्पे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए दसमाणे ।
छुछुकारति आहंसु, समणं कुक्कुरा डसतुत्ति ॥
एलिक्खए जणे भुज्जो, बहवे वज्जभूमि फरुसासी ।
लट्ठि गहाय णालीय, समणा तत्थ एव विहरिंसु ॥
एव पि तत्थ विहरता, पुट्ठ-पुव्वा अहेसि सुणएहिं ।
सलुंचमाणा सुणएहिं, दुच्चरगाणि तत्थ लाढेहिं ॥[4]
—लाढ देश मे भगवान् को कुत्ते काटने आते । कुछ लोग कुत्तो को हटाते । कुछ लोग उन्हे काटने के लिए प्रेरित करते । उस प्रदेश मे घूमने वाले श्रमण

---

१ आयारो · ९।१।२० ।
२ आयारो ९।१।२२ ।
३ आयारो ९।२।१३-१५ ।
४ आयारो . ९।३।३-६ ।

लाठी रखते, फिर भी उन्हें कुत्ते काट खाते। भगवान् के पास न लाठी थी, न कोई बचाव। वे अपने आत्मबल के सहारे वहां परिव्रजन कर रहे थे।

३१. अह गामकंटए भगव, ते अहियासए अभिसमेच्चा।[१]
—भगवान् को लोग गालियां देते। भगवान् उन्हे कर्मक्षय का हेतु मानकर सह लेते।

३२. हयपुव्वो तत्थ दडेण, अदुवा मुट्ठिणा अदु कुंताइ-फलेण।
अदु लेलुणा कवालेण, हता हता बहवे कंदिसु ॥[२]
—लाढ देश मे कुछ लोग भगवान् को दड, मुष्टि, भाले, फलक, ढेले और कपाल से आहत करते थे।

३३. मंसाणि छिन्नपुव्वाइ।[३]
—कुछ लोग भगवान् के शरीर का मांस काट डालते।

३४. उट्ठुभंति एगया काय।[४]
—कुछ लोग भगवान् पर थूक देते।

३५. अहवा पसुणा अवकिरिंसु।[५]
—कुछ लोग भगवान् पर धूल डाल देते।

३६. उच्चालइय णिहणिसु।[६]
—कुछ लोग मखौल करते और भगवान् को उठाकर नीचे गिरा देते।

३७. अदुवा आसणाओ खलइसु।[७]
—भगवान् आसन लगाकर ध्यान करते। कुछ लोगो को बड़ा विचित्र लगता। वे आकर भगवान् का आसन भग कर देते। भगवान् इन सबको वैसे सहन करते मानो शरीर से उनका कोई सम्बन्ध न हो।

---

१. आयारो ९।३।७।
२. आयारो : ९।३।१०।
३. आयारो ९।३।११।
४. आयारो ९।३।११।
५. आयारो. ९।३।११।
६. आयारो. ९।३।१२।
७. आयारो : ९।३।१२।

९. समत्व या प्रेम

३८ पुढविं च आउकायं, तेउकायं च वाउकायं च।
पणगाइं बीयहरियाइं, तसकायं च सव्वसो णच्चा॥
एयाइं संति पडिलेहे, चित्तमंताइं से अभिण्णाय।
परिवज्जिया ण विहरित्था, इति संखाए से महावीरे॥[1]
—भगवान् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, पनक, बीज, हरियाली और त्रस—इन सबको चेतन-युक्त जानकर इन्हे किसी प्रकार क्लान्त नही करते थे।

३९ अविसाहिए दुवे वासे, सीतोद अभोच्चा णिक्खते।[2]
—भगवान् गृहस्थ जीवन के अंतिम दो वर्षों मे सजीव जल नही पीते थे। उनके अन्त करण मे करुणा या प्रेम का स्रोत प्रवाहित होने लग गया था।

१० अध्यात्म

४०. गच्छइ णायपुत्ते असरणाए।[3]
—भगवान् कष्टो से बचने के लिए किसी की शरण मे नही जाते थे। समय-समय पर उन्हे मनुष्य, तिर्यंच आदि कष्ट देते। कुछ व्यक्ति उन्हे कष्ट से बचाने के लिए अपनी सेवाए समर्पित करने का अनुरोध करते। पर भगवान् ऐसे हर अनुरोध को ठुकरा देते। उनका मत था कि किसी की शरण मे रहकर अपने आपको नही पाया जा सकता। अध्यात्म दूसरो की शरण मे जाने की स्वीकृति नही देता। अध्यात्म का पहला लक्षण है अपने आप मे शरण की खोज।

४१ एगत्तगए पिहियच्चे।[4]
—भगवान् अकेले थे। उनका शरीर ढका हुआ था। भगवान् गृहस्थ जीवन मे भी अकेले रहने का अभ्यास कर चुके थे। अध्यात्म सबके बीच रहने पर भी अपने आपको अकेला अनुभव करने की दृष्टि, मति और धृति देता है। अध्यात्म का दूसरा लक्षण है—अकेलापन। अध्यात्म का

---

१ आयारो ९।१।१२,१३।
२ आयारो ९।१।११।
३ आयारो ९।१।१०।
४ आयारो ९।१।११।

तीसरा लक्षण है—सवरण—ढांकना। भौतिक दृष्टि वाला व्यक्ति अपनी शारीरिक प्रचेष्टाओ, इन्द्रियो और मन को ढककर नही रख सकता।

४२. से अहिण्णायदंसणे सते।[1]

—भगवान् का दर्शन समीचीन था। शान्ति उनके कण-कण में विराजमान थी।

अध्यात्म का चौथा लक्षण है—सम्यग दर्शन। भगवान् विश्व के सभी पदार्थों, विचारो और घटनाओ को अनेकान्तदृष्टि से देखते थे। इसलिए सत्य उन्हे सहजभाव से उपलब्ध हो जाता। जिसे सत्य उपलब्ध होता है, उसे अशान्ति नही होती। अध्यात्म का पाचवा लक्षण है—शान्ति।

४३ राइ दिव पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति।[2]

—भगवान रात और दिन—हर क्षण जागरूक रहते थे। अप्रमाद (सतत जागरण) अध्यात्म का छठा लक्षण है। अध्यात्म का सातवां लक्षण है—समाधि।

११ धर्म की मौलिक आज्ञाए

४४ से णिच्च णिच्चेहि समिक्ख पण्णे, दीवे व धम्म समिय उदाहु।[3]

—भगवान् ने कैवल्य प्राप्त कर विश्व को नित्य और अनित्य—दोनो दृष्टियो से देखा और धर्म का प्रतिपादन किया। उस धर्म की मूल आज्ञाए इस प्रकार है—

४५ सव्वे पाणा ण हतव्वा।[4]

—किसी प्राणी को आहत मत करो।

४६. सव्वे पाणा ण अज्जावेयव्वा।[5]

—किसी प्राणी पर शासन मत करो। उसे पराधीन मत करो।

---

१ आयारो · ६।१।११।
२ आयारो ६।२।४।
३ सूयगडो १।६।४
४. आयारो ४।१।
५ आयारो : ४।१।

४७. सव्वे पाणा ण परिघेतव्वा ।[1]
—किसी प्राणी का परिग्रह मत करो—उन्हें दास-दासी मत बनाओ।

४८. सव्वे पाणा ण परितावेयव्वा ।[2]
—किसी प्राणी को परितप्त मत करो।

४९. सव्वे पाणा ण उद्दवेयव्वा ।[3]
—किसी प्राणी के प्राणो का बियोजन मत करो।

५०. कोहो ण सेवियव्वो ।[4]
—क्रोध का सेवन मत करो।

५१ लोभो ण सेवियव्वो ।[5]
—लोभ का सेवन मत करो।

५२. न भाइयव्व ।[6]
—भय मत करो—व्याधि, जरा और मौत से भी मत डरो।

५३. हास न सेवियव्व ।[7]
—हास्य मत करो।

५४. न···पावग किंचि वि झायव्व ।[8]
—बुरा चिंतन मत करो।

५५. ण मुसं बूया ।[9]
असत्य मत बोलो।

---

१ आयारो . ४।१।
२. आयारो ४।१।
३ आयारो : ४।१।
४ पण्हावागरणाइं ७।१८।
५ पण्हावागरणाइ ७।१६।
६ पण्हावागरणाइं, ७।२०।
७ पण्हावागरणाइं, ७।२१।
८ पण्हावागरणाइ, ६।१८।
९ सूयगडो १।८।२०।

५६. बंभचेरं चरियव्वं ।[1]
—ब्रह्मचर्य का आचरण करो।

५७. णिव्वाणं संधए ।[2]
—निर्वाण का संधान करो।

५८. अदिण्ण पि य णातिए ।[3]
—अदत्त मत लो—चोरी मत करो।

५९. अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।[4]
—आसक्ति को छोड़ो—सग्रह मत करो।

६०. साहरे हत्थपाए य, मण सव्विदियाणि य ।[5]
—हाथ, पैर, मन और इन्द्रियों का अपने आप मे समाहार करो।

१२. भगवान् का निर्वाण

६१ अणुत्तरग परम महेसी, असेसकम्म स विसोहइत्ता ।
सिद्धि गति साहमणत पत्ते, णाणेण सीलेण य दंसणेण ।[6]
—भगवान् ज्ञान, दर्शन और शील के द्वारा अशेष कर्मों का विशोधन कर सिद्धि को प्राप्त हो गए। इस लोक मे उससे परम कुछ नही है।

---

१. पण्हावागरणाइ ६।३।
२ सूयगडो १।६।३६
३. सूयगडो . १।८।२०
४. सूयगडो : १।८।१३
५. सूयगडो : १।८।१७
६. सूयगडो . १।६।१७

वंदना

१ हत्थीसु एरावणमाहु णाते, सीहो मिगाण सलिलाण गगा।
पक्खीसु या गरुलं वेणुदेवे, णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ।।[1]

जैसे—हाथियो मे ऐरावत,
पशुओ मे सिंह,
नदियो मे गगा,
पक्षियो मे वेणुदेव गरुड श्रेष्ठ हैं,
वैसे ही निर्वाणवादियो मे महावीर श्रेष्ठ हैं।

२ जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु।
खत्तीण सेट्ठे जह दतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ।।[2]

जैसे—योद्धाओ मे वासुदेव,
पुष्पो मे अरविन्द,
क्षत्रियो मे दतवाक्य श्रेष्ठ है,
वैसे ही ऋषियो मे महावीर श्रेष्ठ हैं।

३ थणित व सद्दाण अणुत्तर उ, चदे व ताराण महाणुभावे।
गधेसु वा चदणमाहु सेट्ठ, एव मुणीण अपडिण्णमाहु ।।[3]

---

१ सूयगडो १।६।२१ वदनाकार सुधर्मा (भगवान् के सहचारी)
२ सूयगडो १।६।२२।
३ सूयगडो १।६।१९।

जैसे—शब्दो में मेघ का गर्जन,
तारागों में चन्द्रमा,
गध वस्तुओ मे चन्दन श्रेष्ठ है,
वैसे ही मुनियो मे महावीर श्रेष्ठ हैं।

४. जहा सयभू उदहीण सेट्ठे, णागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठं।
खोओदए वा रस वेजयंते, तहोवहाणे मुणि वेजयते॥[1]
जैसे—समुद्रो मे स्वयम्भू,
नागदेवो मे धरणेन्द्र,
रसो मे इक्षु रस श्रेष्ठ है,
वैसे ही तपस्वियो मे महावीर श्रेष्ठ हैं।

५ वणेसु या णदणमाहु सेट्ठ, णाणेण सीलेण य भूतिपण्णे।[2]
जैसे—वनो मे नन्दनवन श्रेष्ठ है,
वैसे ही ज्ञान और शील से महावीर श्रेष्ठ हैं।

६ दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण, सच्चेसु या अणवज्ज वयति।
तवेसु वा उत्तम बभचेर, लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते॥[3]
जैसे—दानो मे अभयदान,
सत्य मे निरवद्य वचन,
तप मे ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है,
वैसे ही श्रमणो में महावीर श्रेष्ठ हैं।

७ निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि णाणी।[4]
जैसे—धर्मों मे निर्वाणवादी धर्म श्रेष्ठ है,
वैसे ही ज्ञानियो मे महावीर श्रेष्ठ हैं। उनसे अधिक कोई ज्ञानी नही है।

---

१ सूयगडो · १।६।२०।
२. सूयगडो : १।६।१८।
३. सूयगडो . १।६।२३।
४ सूयगडो . १।६।२४।

८. कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एत्ताणि वंत्ता अरहा महेसी, ण कुव्वई पाव ण कारवेइ॥[1]
—भगवान् क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों अध्यात्म दोषो को नष्ट कर अर्हत हो चुके थे। वे पाप न करते थे और न करवाते थे।

निक देवपुत्र भगवान् महावीर का उपासक था। उसने भगवान बुद्ध के सामने भगवान् महावीर की स्तुति मे यह गाथा कही—

९. जेगुच्छी निपको भिक्खु, चातुयाम सुसवुतो।
दिट्ठं सुतं च आचिक्खं, न हि नून किब्बिसी सिया॥[2]
पापो से घृणा करने वाले, चतुर् भिक्षु,
चारो यामो मे सुसवृत रहने वाले,
देखे-सुने को कहते हुए,
उनमे भला क्या पाप हो सकता है ?

१० जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरु जगाणदो।
जगणाहो जगबधू, जयइ जगपियामहो भगव॥[3]
—जगत् की जीव योनियो को जानने वाले, जगद्गुरु, जगत् को आनन्द देने वाले, जगन्नाथ, जगद्बन्धु और जगत् पितामह भगवान् महावीर की जय हो।

११. जयइ सुयाण पभवो, तित्थयराण अपच्छिमो जयइ।
जयइ गुरू लोगाण, जयइ महप्पा महावीरो॥[4]
—श्रुत के मूलस्रोत, चरम तीर्थंकर, लोकगुरु महात्मा महावीर की जय हो।

१२ सो जयइ जस्स केवलणाणुज्जलदप्पणम्मि लोयालोयं।
पुढ पदिबिंब दीसइ, वियसियसयवत्तगब्भगउरो वीरो॥[5]
—जिसके केवलज्ञान रूपी उज्ज्वल दर्पण मे लोक और अलोक प्रतिबिम्ब की भांति दीख रहे हैं, जो विकसित कमल-गर्भ के समान उज्ज्वल और तप्त स्वर्ण के समान पीत वर्ण है, उस भगवान् महावीर की जय हो।

---

१. सूयगडो : १।६।२६।
२ सयुक्तनिकाय, भाग १, पृ० ६५।
३ नदी, गाथा १। वदनाकार—देववाचक।
४. नदी, गाथा २। वदनाकार—देववाचक।
५ जयधवला, ३ : मगलाचरण। वंदनाकार—आचार्य वीरसेन।

१३. तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः,
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पञ्च व्रतानीत्यपि ।।
चारित्रोपहित त्रयोदशतय पूर्वं न दृष्टं परैः,
आचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरान् नमामो वयम् ।।[1]
—तीन गुप्तिया—मन की गुप्ति, वचन की गुप्ति और काया की गुप्ति,
पाच समितियां—गमन की समिति, भाषा की समिति, आहार की समिति, उपकरण की समिति और उत्सर्ग की समिति,
पाच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इस तेरह प्रकार के चारित्र-धर्म का, जो पूर्ववर्ती तीर्थंकरो द्वारा प्रतिपादित नही था, प्रतिपादन किया, उस महावीर को हम नमस्कार करते हैं ।

१४. देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगद् दुग्धाम्बुराशाविव,
ज्ञानज्योतिषि च स्फुटत्यतितरां ओंभूर्भुव. स्वस्त्रयी ।
शब्दज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासत्यमी,
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायास्तु नः ।।[2]
—क्षीर समुद्र मे मज्जन की भाति जिसकी देहज्योति मे जगत् मज्जन करता है, जिसकी ज्ञानज्योति मे त्रिलोकी स्फूर्त होती है, दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाति जिसकी शब्दज्योति मे पदार्थ प्रतिभाषित होते हैं वह देवार्चित महावीर हमे तीनो ज्योतियो की उपलब्धि का मार्गदर्शन दे ।

१५. पन्नगे च सुरेन्द्रे च, कौशिके पादसस्पृशि ।
निर्विशेषमनस्काय, श्रीवीरस्वामिने नमः ।।[3]
—इन्द्र चरणो मे नमस्कार कर रहा था और चण्डकौशिक नाग पैर को डस रहा था । उन दोनो के प्रति जिसका मन समान था उस महावीर को मैं नमस्कार करता हूं ।

---

१ चारित्र भक्ति, श्लोक ७ । वंदनाकार—आचार्य पूज्यपाद ।
२. तत्त्वानुशासन प्रशस्ति श्लोक २५९ । वंदनाकार—आचार्य रामसेन ।
३ योगशास्त्र १/२ । वंदनाकार—आचार्य हेमचन्द्र ।

१६. निशि दीपोम्बुधौ द्वीपं, मरौ शाखी हिमे शिखी ।
कलौ दुराप. प्राप्तोऽयं, त्वत्पादाब्जरज.कण: ।।[१]
—रात्रि मे भटकते व्यक्ति को दीप, समुद्र मे डूबते व्यक्ति को द्वीप, जेठ की दुपहरी में मरु मे धूप से संतप्त व्यक्ति को वृक्ष और हिम मे ठिठुरते व्यक्ति को अग्नि की भांति तुम्हारे चरण-कमल का रजकण इस कलिकाल मे प्राप्त हुआ है ।

१७ युगान्तरेषु भ्रान्तोस्मि, त्वद्दर्शनविनाकृत: ।
नमोस्तु कलये यत्र, त्वद्दर्शनमजायत ।।[२]
—प्रभो ! तुम्हारा दर्शन प्राप्त नही हुआ तब मैं युगो तक भटकता रहा । इस कलिकाल को मेरा नमस्कार है । इसी मे मुझे तुम्हारा दर्शन प्राप्त हुआ है ।

१८ द्वय विरुद्ध भगवन् !, तव नान्यस्य कस्यचित् ।
निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्तिता ।।[३]
—भगवान् तुम्हारे जीवन मे दो विरुद्ध बाते मिलती हैं– उत्कृष्ट निर्ग्रन्थता और उत्कृष्ट चक्रवर्तित्व ।

१९. शमोद्भुतोद्भुत रूप, सर्वात्मसु कृपाद्भुता ।
सर्वाद्भुतनिधीशाय, तुभ्य भगवते नम ।।[४]
—प्रभो ! तुम्हारी शान्ति अद्भुत है, अद्भुत है तुम्हारा रूप । सब जीवो के प्रति तुम्हारी कृपा अद्भुत है । तुम सब अद्भुतो की निधि के ईश हो । तुम्हे नमस्कार हो ।

२०. अनाहूतसहायस्त्व, त्वमकारणवत्सल ।
अनभ्यर्थितसाधुस्त्व, त्वमसम्बन्धबान्धव. ।।[५]
—भगवन् ! तुम अनामंत्रित सहायक हो, अकारण वत्सल हो, अभ्यर्थना न करने पर भी हितकर हो, सम्बन्ध न होने पर भी बन्धु हो ।

---

१ वीतरागस्तव ६/६ ।
२. वीतरागस्तव, ६।७ ।
३ वीतरागस्तव, १०।६ ।
४. वीतरागस्तव, १०।८ ।
५. वीतरागस्तव १३।१ ।

२१. तथा परे न रज्यन्ते, उपकारपरेऽपरे।
यथापकारिणि भवान्, अहो। सर्वमलौकिकम् ॥[1]
—भगवन् ! दूसरे लोग उपकार करने वालो पर भी वैसी करुणा प्रदर्शित नही करते जैसी तुमने अपकार करने वालो पर प्रदर्शित की। यह सब अलौकिक है।

२२. एकोह नास्ति मे कश्चिन्, न चाहमपि कस्यचित्।
त्वदह्रिशरणस्थस्य, मम दैन्य न किचन ॥[2]
—मैं अकेला हूं। मेरा कोई नही है। मैं भी किसी का नही हूं। फिर भी तुम्हारे चरण की शरण मे स्थित हू, इसलिए मेरे मन मे किंचित् भी दीनता नही है।

२३ तव चेतसि वर्तेह, इति वार्तापि दुर्लभा।
मच्चित्ते वर्तसे चेत्त्वमलमन्येन केनचित् ॥[3]
—मैं तुम्हारे चित्त मे रहू, यह बात दुर्लभ है। तुम मेरे चित्त मे रहो, यह हो जाए तो फिर मुझे और कुछ नही चाहिए।

२४ वीतराग ! सपर्यात, तवाज्ञापालन परम्।
आज्ञाराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥
आकालमियमाज्ञा ते, हेयोपादेयगोचरा।
आस्रवः सर्वथा हेय, उपादेयश्च सवर ॥[4]
—वीतराग ! तुम्हारी पूजा करने की अपेक्षा तुम्हारी आज्ञा का पालन करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज्ञा की आराधना मुक्ति के लिए और उसकी विराधना बधन के लिए होती है। तुम्हारी शाश्वत आज्ञा है कि हेय और उपादेय का विवेक करो। आश्रव (बन्धन का हेतु) सर्वथा हेय है और सवर (बन्धन का निरोध) सर्वथा उपादेय है।

---

१. वीतरागस्तव १४।५।
२ वीतरागस्तव १७।७।
३. वीतरागस्तव १९।१।
४. वीतरागस्तव १९।४।

२५. सर्वान्तवत्तद्‌गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥[1]
—जिसमें मुख्य की अर्पणा और गौण की अनर्पणा के कारण सबका निश्चय होता है और जहां परस्पर निरपेक्ष वस्तु निश्चयशून्य होती है, वह सब आपदाओं का अन्त करने वाला तुमारा तीर्थ ही सर्वोदय है—सबका उदय करने वाला है।

२६. बन्धुर्न नः स भगवानरयोपि नान्ये,
साक्षान्न दृष्टतर एकतमोऽपि चैषाम्।
श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग् विशेषं,
वीरं गुणातिशयलोलतया श्रिताः स्मः ॥[2]
—महावीर हमारे भाई नही हैं और कणाद आदि हमारे शत्रु नही है। हमने किसी को भी साक्षात् नहीं देखा है किन्तु महावीर के आचारपूर्ण वचन सुनकर हम उनके अतिशय गुणों मे मुग्ध हो गए और उनकी शरण मे आ गए।

२७. नास्माकं सुगतः पिता न रिपवस्तीर्थ्या धनं नैव तै-
र्दत्तं नैव तथा जिनेन संहृतं किंचित् कणादादिभिः।
किन्त्वेकान्तजगद्धितः स भगवान् वीरो यतश्चामलं,
वाक्यं सर्वमलोपहर्तृ च यतस्तद्‌भक्तिमन्तो वयम् ॥[3]
—तीर्थंकर हमारा पिता नही है और कणाद आदि हमारे शत्रु नही हैं। तीर्थंकर ने हमे कोई धन नहीं दिया है और कणाद आदि ने हमारे धन का अपहरण नहीं किया है। किन्तु महावीर एकान्ततः जगत् के लिए हितकर हैं। उनके अमल वाक्य सब मलों को क्षीण करने वाले है, इसलिए हम महावीर के भक्त हैं।

२८. पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥[4]
—महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नही है और कपिल आदि के प्रति मेरा द्वेष नही है। जिसका वचन युक्तियुक्त है, उसे मैं स्वीकार करता हू।

---

१. युक्त्यनुशासन ६१। वन्दनाकार—आचार्य समन्तभद्र।
२. लोकतत्त्वनिर्णय। ३२ वन्दनाकार—आचार्य हरिभद्र।
३. लोकतत्त्वनिर्णय ३३।
४. लोकतत्त्वनिर्णय ३८।

२९. क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वच ।
स्वभावनियता: प्रजा: समयतंत्रवृत्ता: क्वचित् ॥
स्वयंकृतभुज: क्वचित् परकृतोपभोगा: पुन-
र्न वाविशदवाददोषमलिनोऽस्यहो विस्मय: ॥[1]
—महावीर प्रभो ! तुम्हारा वचन कहीं नियति का पक्षपात कर रहा है, कही जनता को स्वभाव से अनुशासित बता रहा है, कही कालतंत्र के अधीन कर रहा है, कही लोगों को स्वयंकृत कर्म भुगतने वाले और कही परकृत कर्म भुगतने वाले बता रहा है। फिर भी आश्चर्य है कि तुम विरुद्धवाद के दोष से मलिन नहीं हो।

३०. उदधाविव सर्वसिन्धव:, समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टय: ।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधि ॥[2]
—जैसे समुद्र मे सारी नदिया मिलती हैं, वैसी ही तुम्हारे दर्शन मे सारी दृष्टिया मिली हुई है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों मे तुम नही दीखते जैसे नदियो मे समुद्र नही दीखता।

३१. स्वत एव भव प्रवर्तते, स्वत एव प्रविलीयते पि च ।
स्वत एव च मुच्यते भवात्, इति पश्यंस्त्वमिवाभवो भवेत् ।[3]
—यह आत्मा स्वय भव का प्रवर्तन करता है, स्वय उसमे विलीन होता है और स्वय ही उससे मुक्त होता है, यह देखते हुए तुम अभव हो गए।

३२ यत्र तत्र समये यथा तथा, योसि सोस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुष. स चेद् भवान्, एक एव भगवान् नमोस्तु ते ॥[4]
—जिस किसी समय मे, जिस किसी रूप मे, जो कोई जिस किसी नाम से प्रसिद्ध हो, यदि वह वीतराग है तो वह तुम एक ही हो। बाह्य के विभिन्न रूपो मे अभिन्न मेरे भगवान् ! तुम्हे नमस्कार हो।

---

१. द्वात्रिंशिका ३।८। वदनाकार—सिद्धसेन दिवाकर ।
२, द्वात्रिंशिका ४।१५।
३. द्वात्रिंशिका ४।२६।
४. अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका २६। वदनाकार—आचार्य हेमचन्द्र ।

३३. न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्व परीक्षया तु, त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्म.।।[१]
—श्रद्धा के कारण तुम्हारे प्रति मेरा पक्षपात नही है। द्वेष के कारण दूसरो के प्रति अरुचि नही है। मैंने आप्तत्व की परीक्षा की है। उसी के आधार पर मेरे प्रभो महावीर ! मैं तुम्हारी शरण मे आया हूं।

३४ न विद्युद् यच्चिन्ह न च तत इतोऽभ्रे भ्रमति यो,
न सौव सौभाग्य प्रकटयितुमुच्चै· स्वनति च।
पराद् याचावृत्या मलिनयति नाङ्ग क्वचिदपि,
सता शान्ति पुष्यात् सदपि जिनतत्वाम्बुदवर.।।[२]
—जिसमे बिजली की चमक नही है, जो आकाश मे इधर-उधर नही घूमता, जो अपना सौभाग्य प्रकट करने के लिए जोर-जोर से गर्जारव नही करता, जो दूसरे के सामने याचना का हाथ फैलाकर अपने अग को कभी भी मलिन नही करता, वह महावीर के तत्त्व का जलधर सत्यनिष्ठ लोगो की शान्ति को पुष्ट करे।

३५ य स्याद्वादी वदनसमये योप्यनेकान्तदृष्टि·,
श्रद्धाकाले चरणविषये यश्च चारित्रनिष्ठ।
ज्ञानी ध्यानी प्रवचनपटु कर्मयोगी तपस्वी,
नानारूपो भवतु शरण वर्धमानो जिनेन्द्र·।।[३]
—जो बोलने के समय स्याद्वादी, श्रद्धाकाल मे अनेकान्तदर्शी, आचरण की भूमिका मे चरित्रनिष्ठ, प्रवृत्तिकाल मे ज्ञानी, निवृत्तिकाल मे ध्यानी, बाह्य के प्रति कर्मयोगी और अन्तर् के प्रति तपस्वी है, वह नानारूपधर भगवान् वर्द्धमान मेरे लिए शरण हो।

३६ अदृश्यो यदि दृश्यो न, भक्तेनापि मया प्रभो !
स्याद्वादस्ते कथ तर्हि, भावी मे हृदयङ्गम.।[४]
—प्रभो ! मै तुम्हारा भक्त हू। तुम अदृश्य हो। किन्तु मेरे लिए तुम यदि दृश्य नही बनते हो तो तुम्हारा स्याद्वाद मेरे हृदयगम कैसे होगा ?

---

१ अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका ३१।
२ जैन सिद्धान्त दीपिका, प्रशस्ति श्लोक २। वंदनाकर—आचार्य तुलसी।
३ वीतरागाष्टक ४। वदनाकार—मुनि नथमल।
४ वीतरागाष्टक ४। वदनाकार—मुनि नथमल।

३७. त्वदास्यलासिनी नेत्रे, त्वदुपास्तिकरौ करौ ।
त्वद्गुणश्रोत्रिणी श्रोत्रे, भूयास्तां सर्वदा मम ॥[1]
—मेरे नेत्र तुम्हारे मुख को सदा निहारते रहे । मेरे हाथ तुम्हारी उपासना मे संलग्न और मेरे कान तुम्हारे गुणो को सुनने मे सदा लीन रहे ।

३८. कुण्ठापि यदि सोत्कण्ठा, त्वद्गुणग्रहणं प्रति ।
ममैषा भारती तर्हि, स्वस्त्यै तस्यै किमन्यया ॥[2]
—मेरी वाणी कुंठित होने पर भी तुम्हारे गुणो को गाने के लिए उत्कठित है तो उसका कल्याण है । मुझे दूसरी नही चाहिए ।

३९. तव प्रेष्योस्मि दासोस्मि, सेवकोस्म्यस्मि किङ्करः ।
ओमिति प्रतिपद्यस्व, नाथ ! नातः परं ब्रुवे ॥[3]
—मैं तुम्हारा प्रेष्य हू, दास हू, सेवक हू, किंकर हू । तुम इसे स्वीकार कर लो । उससे आगे मेरी कोई माग नही है ।

४०. वाक्गुप्तेस्त्वत्स्तुतौ हानि:, मनोगुप्तेस्तव स्मृतौ ।
कायगुप्तेः प्रणामे ते, काममस्तु सदापि न ॥[4]
—प्रभो ! तुम्हारी स्तुति करने मे वचनगुप्ति की हानि होती है । तुम्हारी स्मृति करने मे मनोगुप्ति की हानि होती है । तुम्हे प्रणाम करने मे कायगुप्ति की हानि होती है । प्रभो ! ये भले हो, मैं तुम्हारी स्तुति, स्मृति और वदना सदा करूगा ।

---

१ वीतरागस्तव २०।६ ।
२ वीतरागस्तव : २०।७ ।
३. वीतरागस्तव . २०।८ ।
४ महापुराण ७६।२ । वंदनाकार—आचार्य जिनसेन ।

परिशिष्ट

१ परम्परा-भेद
२. चातुर्मास
३. विहार और आवास-स्थल
४. जीवनी के प्रामाणिक
स्रोतों का निर्देश
५. घटना-क्रम
६. नामानुक्रम

१

परम्परा-भेद

दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओ मे भगवान् महावीर के जीवनवृत्त विषयक आम्नाय-भेद इस प्रकार है—

	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	भगवान् महावीर की माता त्रिशला चेटक की बहन थी।	भगवान् महावीर की माता त्रिशला चेटक की पुत्री थी।
२	राजकुमार महावीर का विवाह वसतपुर नगर के महासामत समरवीर की पुत्री यशोदा के साथ हुआ।[1]	राजकुमार महावीर के सामने कलिंग नरेश जितशत्रु की पुत्री यशोदा के साथ विवाह करने का प्रस्ताव आया पर उन्होने विवाह नही किया।
३	दीक्षा के पूर्व भगवान् के माता-पिता दिवगत हो चुके थे।	दीक्षा के समय भगवान् के माता-पिता विद्यमान थे।
४	भगवान् महावीर का प्रथम धर्मोपदेश वैशाख शुक्ला ११, मध्यम पावापुरी मे हुआ।	भगवान् महावीर का प्रथम धर्मोपदेश श्रावण कृष्णा १, विपुलाचल पर्वत पर हुआ।
५	भगवान् महावीर वाणी द्वारा उपदेश देते थे।	भगवान् महावीर दिव्य ध्वनि द्वारा उपदेश देते थे।
६	भगवान् महावीर केवली होने के पश्चात् भी आहार करते थे।	भगवान् महावीर केवली होने के पश्चात् आहार नही करते थे।
७	भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् प्रथम आचार्य सुधर्मा हुए।	भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् प्रथम आचार्य गौतम हुए।

१ मैंने इस पुस्तक मे 'यशोदा' जितशत्रु की पुत्री थी, इस मान्यता को स्वीकार किया है।

२

चातुर्मास

भगवान् महावीर ने कुल बयालीस चातुर्मास किए। उनमे प्रथम बारह छद्मस्थ अवस्था मे और शेष तीस केवली अवस्था मे किए थे।

१. अस्थिकग्राम
२. नालन्दा
३. चम्पा
४. पृष्ठचम्पा
५. भद्दियानगर
६. भद्दियानगर
७. आलभिया
८ राजगृह
९. वज्रभूमि
१०. श्रावस्ती
११ वैशाली
१२. चम्पा
१३. राजगृह
१४. वैशाली
१५ वाणिज्यग्राम
१६. राजगृह
१७ वाणिज्यग्राम
१८ राजगृह
१९ राजगृह
२० वैशाली
२१. वाणिज्यग्राम
२२ राजगृह
२३. वाणिज्यग्राम
२४. राजगृह
२५ मिथिला
२६. मिथिला
२७ मिथिला
२८ वाणिज्यग्राम
२९. राजगृह
३०. वाणिज्यग्राम
३१ वैशाली
३२. वैशाली
३३. राजगृह
३४. नालन्दा
३५ वैशाली
३६ मिथिला
३७. राजगृह
३८. नालन्दा
३९. मिथिला
४० मिथिला
४१. राजगृह
४२. पावा

१. राजगृह में ११ वर्षावास
२. वैशाली मे ६ वर्षावास
३. मिथिला मे ६ वर्षावास
४. वाणिज्यग्राम मे ६ वर्षावास
५. नालन्दा मे ३ वर्षावास
६. चम्पा मे २ वर्षावास
७ भद्दियानगर मे २ वर्षावास

शेष छह स्थानो मे एक-एक वर्षावास।

विहार और आवास-स्थल

पहला वर्ष

कुडग्राम
ज्ञातखंडवन
कर्मारग्राम
कोल्लाग सन्निवेश
मोराक सन्निवेश
दूईज्जतग आश्रम
अस्थिकग्राम

दूसरा वर्ष

मोराक सन्निवेश
दक्षिण वाचाला
कनकखल आश्रमपद
उत्तर वाचाला
श्वेताम्बी
सुरभिपुर
थूणाक सन्निवेश
राजगृह
नालन्दा

तीसरा वर्ष

कोल्लाग सन्निवेश
सुवर्णखल
ब्राह्मणग्राम
चम्पा

चौथा वर्ष

कालाय सन्निवेश
पत्तकालाय
कुमाराक सन्निवेश
चौराक सन्निवेश
पृष्ठचम्पा

पाचवां वर्ष

कयगला सन्निवेश
श्रावस्ती
हलेद्दुक ग्राम
नगला ग्राम (वासुदेव मदिर मे)
आवर्त्त (बलदेव मदिर मे)

चौराक सन्निवेश
कलबुकासन्निवेश
लाढ देश
पूर्णकलश ग्राम
भद्दिया नगरी

छठा वर्ष

कदली समागम
जम्बूसड
तम्बाय सन्निवेश
कूपिय सन्निवेश
वैशाली (कम्मारशाला मे)
ग्रामाक सन्निवेश
(विभेलक यक्ष-मंदिर मे)
शालीशीर्ष
भद्दिया नगरी

सातवां वर्ष

मगध के विभिन्न भाग
आलभिया

आठवां वर्ष

कुडाक सन्निवेश (वासुदेव के मंदिर मे)
भद्दन्न सन्निवेश (बलदेव के मंदिर मे)
बहुसालगग्राम (शालवन के उद्यान मे)
लोहार्गला
पुरिमताल (शकटमुख उद्यान मे)
उन्नाग
गोभूमि
राजगृह

नवां वर्ष

लाढ (राढ-देश)
वज्रभूमि
सुम्हभूमि

दसवां वर्ष

सिद्धार्थपुर
कूर्मग्राम
सिद्धार्थपुर
वैशाली
वाणिज्यग्राम
श्रावस्ती

ग्यारहवां वर्ष

सानुलट्ठिय सन्निवेश
दृढभूमी
पेढाल ग्राम (पोलाश चैत्य मे)
बालुका
सुयोग
सुच्छेता
मलय
हस्तिशीर्ष
तोसलिगाव
मोसलि
सिद्धार्थपुर
वज्रगाम
आलभिया
सेयविया
श्रावस्ती
कौशाम्बी
वाराणसी
राजगृह
मिथिला
वैशाली (समरोद्यान के बलदेव मंदिर मे)

बारहवां वर्ष

सुंसुमारपुर
भोगपुर
नन्दग्राम

मेढियग्राम
कौशाम्बी
सुमगल
सुच्छेता
पालक
चम्पा (यज्ञशाला मे)

तेरहवां वर्ष

जभियग्राम
मेढियग्राम
छम्माणि
मध्यमपावा
जभियग्राम
राजगृह

चौदहवां वर्ष

ब्राह्मणकुण्ड ग्राम (बहुशाल के चैत्य मे)
विदेह जनपद
वैशाली

पन्द्रहवां वर्ष

वत्सभूमि
कौशाम्बी
कोशल जनपद
श्रावस्ती
विदेह जनपद
वाणिज्यग्राम

सोलहवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह

सत्रहवां वर्ष

चम्पा
विदेह जनपद
वाणिज्यग्राम

अठारहवां वर्ष

बनारस
आलभिका
राजगृह

उन्नीसवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह

बीसवां वर्ष

वत्स जनपद
आलभिया
कौशाम्बी
वैशाली

इक्कीसवां वर्ष

मिथिला
काकन्दी
श्रावस्ती
अहिच्छत्रा
राजपुर
कापिल्य
पोलासपुर
वाणिज्यग्राम

बाईसवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह

तेईसवां वर्ष

कयगला

श्रावस्ती
वाणिज्यग्राम

चौबीसवां वर्ष

ब्राह्मणकुडग्राम (बहुशाल चैत्य)
वत्स जनपद
मगध जनपद
राजगृह

पचीसवां वर्ष

चम्पा
मिथिला
काकन्दी
मिथिला

छब्बीसवां वर्ष

अग जनपद
चम्पा
मिथिल

सताईसवां वर्ष

वैशाली
श्रावस्ती
मेढियग्राम (सालकोष्ठक चैत्य)

अठाईसवां वर्ष

कौशल-पाचाल
श्रावस्ती
अहिच्छत्रा
हस्तिनापुर
मोकानगरी
वाणिज्यग्राम

उनतीसवां वर्ष

राजगृह

तीसवां वर्ष

चम्पा
पृष्ठचम्पा
विदेह
वाणिज्यग्राम

इकतीसवां वर्ष

कौशल-पाचाल
साकेत
श्रावस्ती
कापिल्य
वैशाली

बत्तीसवां वर्ष

विदेह जनपद
कौशल जनपद
काशी जनपद
वाणिज्यग्राम
वैशाली

तेतीसवां वर्ष

मगध
राजगृह
चम्पा
पृष्ठचम्पा
राजगृह

चौंतीसवां वर्ष

राजगृह (गुणशील चैत्य मे)
नालन्दा

पैंतीसवां वर्ष

विदेह जनपद
वाणिज्यग्राम
कोल्लाग सन्निवेश
वैशाली

छत्तीसवां वर्ष

कोशल जनपद
पाचाल जनपद
सूरमेन जनपद
साकेत
कापिल्यपुर
सौर्यपुर
मथुरा
नन्दीपुर
विदेह जनपद
मिथिला

सैंतीसवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह

अड़तीसवा वर्ष

मगध जनपद
राजगृह
नालन्दा

उनतालीसवां वर्ष

विदेह जनपद
मिथिला

चालीसवां वर्ष

विदेह जनपद
मिथिला

इकतालीसवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह

बयालीसवा वर्ष

राजगृह
पावा

४

जीवनी के प्रामाणिक स्रोतों का निर्देश

१ १. उत्तरज्झयणाणि, २३।७५-७८ .

अन्धयारे तमे घोरे चिट्ठन्ति पाणिणो बहू।
को करिस्सइ उज्जोय सव्वलोगमि पाणिण ?॥
उग्गओ विमलो भाणू सव्वलोगप्पभकरो।
सो करिस्सइ उज्जोय सव्वलोगमि पाणिण ॥
भाणू य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेव बुवत तू गोयमो इणमब्बवी ॥
उग्गओ खीणससारो सव्वन्नू जिणभक्खरो।
सो करिस्सइ उज्जोय सव्वलोयमि पाणिण ॥

२ १. कल्पसूत्र, सूत्र ३३-४७ :

· त रयणि च ण सा तिसलाखत्तियाणि···एमेयारुवे ओराले चोद्दस महासुमिणे पासित्ता ण पडिबुद्धा। ·पेच्छइ जालुज्जलणग अबर व कत्थइ पयत अइवेगचचल सिंहि।

३ २ कल्पसूत्र, सूत्र ६४-७८ .

·· खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अट्ठ गमहानिमित्तसुत्तत्थ-

पारए विविहसत्थकुसले सुविणलक्खणपाढए सद्दावेइ ।
··विपुल जीवियारिहं पीइदाणं दलइत्ता पडिविसज्जेइ ।

४ १ (क) **कल्पसूत्र, सूत्र ९६-१००** ·

नगरगुत्तीए सद्दावेत्ता एवं वयासी।···उस्सुक, उक्कर, उक्किट्ठं अदेज्ज, अमेज्ज, अभडप्पवेस, अडडकोडडिम अधरिम · एव वा विहरइ।

(ख) **कल्पसूत्र, टिप्पनक पृ० १२, १३**

· "'माणुम्माण' इह मान—रस-धान्यविषयम् उन्मान-तुलारूपम्। 'उस्सुक' उच्छुल्कम्, शुल्क तु विक्रय-भाण्ड प्रति राजदेयद्रव्य मण्डपिकायामिति। 'उक्कर' ति उन्मुक्तकरम्, करस्तु गवादीन् प्रति प्रतिवर्ष राजदेय द्रव्यम्। 'उक्किट्ठ' उत्कृष्ट—प्रधानम्, लभ्येऽप्याकर्षणनिषेधाद्वा। 'अदेज्ज' विक्रेयनिषेधेनाविद्यमानदातव्य जनेभ्य। 'अम्मेज्ज विक्रेय-निषेधादेवाविद्यमानमातव्य अमेय देयमिति। 'अभड' अविद्यमानो भटाना—राजाज्ञादायिना पुरुषाणा प्रवेश कुटुम्बिगृहेषु यस्मिन्। 'अदडकोदडिम' दण्ड—लभ्यद्रव्यम्, दण्ड एव कुदण्डेन निर्वृत्त द्रव्य कुदण्डिमम्, तन्नास्ति यस्मिन् तद् अदण्डकुदण्डिमम्। तत्र दण्ड·—अपराधानुसारेण राजग्राह्य द्रव्यम्, कुदण्डस्तु—कारणिकाना प्रज्ञापराधान्महत्यप्यपराधिनि अल्प राजग्राह्य द्रव्यमिति। 'अधरिम' अविद्यमानधारणीय-द्रव्यम्, रिणमुत्कलनात्।

५ १. **कल्पसूत्र, सूत्र ८५-८६** .

ज रयणि च ण समणे भगव महावीरे नायकुलसि साहरिए त रयणि च ण नायकुल हिरण्णेण वड्ढित्ता···अईव अईव अभिवड्ढित्था। तए ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ··गोन्न गुणनिप्फन्न नामधिज्ज करिस्सामो वद्धमाणो त्ति।

२. **आवश्यकचूर्णि, पूर्व भाग, पृ० २४६ :**

भगव च पमदवणे चेडरूवेहिं सम सुकलिकडएण (सं०वृक्षक्रीडया) अभिरमति। · ताहे सामिणा अमूढेण वामहत्थेण सत्ततले उच्छूढो।

६ १ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४६, २४७.

अभिरूपअट्ठवासजाते भगवं···अम्मापिऊहिं लेहायरियस्स उवणीते।···ताहे सक्को करतलकतजलिपुडो पुच्छति (उपोद्घातपदपदार्थक्रमगुरुलाघवसमासविस्तरसक्षेपविषयविभागपर्यायवचनाक्षेपपरिहारलक्षणया व्याख्यया व्याकरणार्थं) अकारादीण य पज्जाए भगे गमे य पुच्छति, ताहे सामी वागरेति अणेगप्पगार· तप्पभिति च ण एन्द्रं व्याकरण सवृत्त ते य विह्मिता,·· तिणाणोवगतोत्ति।

७ २ आयारचूला, १५।२५.

समणस्स ण भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था।

८ १. आयारचूला, १५।१६

समणे भगव महावीरे कासवगोत्ते। तरस णं इमे तिण्णि णामधेज्जा एवमाहिज्जति, त जहा—(१) अम्मापिउसतिए "वद्धमाणे" (२) सहसम्मुइए "समणे" (३) "भीम भयभेरव उराल अचेलय परिसह सहइ" त्ति कट्टु देवेहिं से णाम कय "समण भगव महावीरे"।

२ आयारचूला, १५।१७

समणस्स ण भगवओ महावीरस्स पिआ कासवगोत्तेण। तस्स ण तिण्णि णामधेज्जा एवमाहिज्जति, त जहा—(१) सिद्धत्थे ति वा, (२) सेज्जसे ति वा, (३) जससे ति वा।

३ आयारचूला, १५।१८:

समणस्स ण भगवओ महावीरस्स अम्मा वासिट्ठ-सगोत्ता। तीसेण तिण्णि णामधेज्जा एवमाहिज्जंति, त जहा—(१) तिसला ति वा, (२) विदेहदिण्णा ति वा, (३) पियकारिणी ति वा।

४. आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १६४:

जेट्ठा कुडग्गामे वद्धमाणसामिणो जेट्ठस्स नंदिवद्धणस्स दिण्णा।

५ आयारचूला १५।१६-२१ :

समणस्स ण भगवओ महावीरस्स पित्तियए 'सुपासे' कासवगो-त्तेण । · जेट्ठे भाया 'णदिवद्धणे' कासवगोत्तेण । 'जेट्ठाभइणी 'सुदसणा' कासवगोत्तेण ।

१२ **१. आयारचूला, १५।२५ ·**

समणस्स ण भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था। तेण बहूइ वासाइ समणोवासग-परियाग पालइत्ता,···भत्त पच्चक्खाइत्ता अपच्छिमाए मारण-तियाए सरीर-सलेहणाए सोमियसरीरा कालमासे काल किच्चा त सरीर विप्पजहित्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णा ।

१३ **१. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग पृ० २४६ .**

भगव अट्ठावीसतिवरिसो जातो, एत्थतरे अम्मापियरा कालगता ।

२ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २४६

पच्छा सामिणदिवद्धणसुपासपमुह सयण आपुच्छति। ··ताहे सणियपज्जोयादयो कुमारा पडिगया, वा एम चक्किकत्ति ।

१७ **१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २४६ ·**

पच्छा सामी णदिवद्धणसुपासपमुह सयण आपुच्छति, समत्ता पतिन्नत्ति, ताहे ताणि बिगुणसोगाणि भणति मा भट्टारगा ! सव्वजगदपिता परमबधू एक्कसराए चेव अणाहाणि होमुत्ति, इमेहि कालगतेहि तुब्भेहि विणिक्खमवन्ति खते खार पक्खेव, ता अच्छह कचि काल जाव अम्हे विसोगाणि जाताणि ।

१८ १ (क) **आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २४६**

अम्ह पर बिहि सवत्सरेहि रायदेविसोगो णासिज्जति ।

(ख) **आचारांगचूर्णि, पृ० ३०४**

अम्ह पर बिहि सवच्छरेहि रायदेविसोगा णासिज्जति ।

१६ १. आयारो ९।१।११-१५ :

अविसाहिए दुवे वासे, सीतोद अभोच्चा णिक्खते।
एगत्तगए पिहियच्चे, से अहिण्णायदंसणे संते ।।
पुढवि च आउकाय, तेउकाय च वाउकाय च।
पणगाइ बीय-हरियाइ, तसकाय च सव्वसो णच्चा ।।
एयाइ संति पडिलेहे, चित्तमताइ से अभिण्णाय।
परिवज्जिया ण विहरित्था, इति सखाए से महावीरे।।
अदु थावरा तसत्ताए, तसजीवा य थावरत्ताए।
अदु सव्वजोणिया सत्ता, कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला ।।
भगव च 'एव मन्नेसि', सोवहिए हु लुप्पती बाले।
कम्म च सव्वसो णच्चा, त पडियाइक्खे पावग भगव ।।

२. आयारो, ६।१।११

एगत्तगए।

आचारागचूर्णि, पृ० ३०४.

एगत्तिगतो णाम णमे कोति णाहमवि कस्सइ।

२० १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २४६

ताहे पडिस्सुत्त तो णवर अच्छामि जति अप्पच्छदेण भोयणादि-किरिय करेमि, ताहे समत्थित, अतिसयरूवपि ताव से कचि काल पसामो, एव सय निक्खमणकाल णच्चा अवि साहिए दुवे वासे सीतोदगमभोच्चा णिक्खते, अप्फासुग आहार राइभत्त च अणाहारेतो बभयारी असजमवावाररहितो ठिओ, ण य फासुगेणवि ण्हातो' हत्थपादसोयण आयमण च, पर णिक्खमणमहाभिसेगे अप्फासुगेण ण्हाणितो, ण य बधवेहिवि अतिणेह कतव ।

२३ १. आयारचूला, १५।३२

तओ ण समणे भगव महावीरे दाहिणेण दाहिण वामेण वाम पचमुट्ठिय लोय करेत्ता सिद्धाण णमोक्कार करेइ, करेत्ता, "सव्व मे अकरणिज्ज पावकम्म" त्ति कट्टु सामाइय चरित्त पडिवज्जई ।

२ आयारचूला, १५।३४ :

तओ ण समणे भगव महावीरे···एयारूव अभिग्गह अभिगिण्हइ —"बारसवासाइ वोसट्ठकाए चत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जति, त जहा—दिव्वा वा, माणुसा वा, तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पण्णे समाणे 'अणाइले अव्वहिते अद्दीणमाणसे तिविह मणवयणकायगुत्ते' सम्म सहिस्सामि खमिस्सामि अहियासइस्सामि ।"

२६ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६८-२७० :

तए ण सामी अहासनिहिए सव्वे नायए आपुच्छित्ता णायसडबहिया चउब्भागऽवसेसाए पोरुसीए कमारग्गाम पहावितो, तत्थ एगो गोवो सो दिवस बइल्ले वाहेत्ता गामसमीव पत्तो,·· ताहे सो आगतो पेच्छति तत्थेव निविट्ठे, ताहे आसुरुत्तो, एतेण दामएण हणामि, एतेण मम चोरिता एते बइल्ला, पभाए घेत्तु वच्चीहामि।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २७० :

ताहे सक्को भणति —भगव ! तुब्भ उवसग्गबहुल तो अह बारस वासाणि वेयावच्च करेमि, ताहे सामिणा भन्नति—नो खलु सक्का ! एव भूअ वा ३ ज ण अरिहता देविंदाण वा असुरिंदाण वा नीसाए केवलणाण उप्पाडेति उप्पाडेसु वा ३ तव वा करेमु वा ३ सिद्धि वा वच्चिमु वा ३, णण्णत्थ सएण उट्ठाणकम्मबलविरियपुरिसक्कारपरक्कमेण ।

२८ १. आयारो, ९।२।२,३ :

आवेसण-'सभा-पवासु,' पणियसालासु एगदा वासो ।
अदुवा पलियट्ठाणेसु, पलालपुजेमु एगदा वासो ।।
आगतारे आरामागारे, गामे णगरेवि एगदा वासो ।
सुसाणे सुण्णगारे वा, रुक्खमूले वि एगदा वासो ।।

३० १. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग, पृ० २७१, २७२ :

ताहे सामी विहरमाणो गतो मोराग सनिवेस, तत्थ दूइज्जतगा णाम पासडत्था, तेसिं तत्थ आवासा, तेसिं च कुलवती भगवतो

पितुमित्तो, ताहे सो सामिस्स सागतेणं उवगतो, ताहे सामिणा पुव्वपतोगेण तस्स सागतं दिन्नं, सो भणति—अत्थि घरं एत्थ कुमारवर ! अच्छाहि, तत्थ सामी एगंतराइं वसिऊण पच्छा गतो विहरति, तेण भणिय—विवित्ताओ वसहीओ, जदि वासारत्तो कीरति तो आगमेज्जाह, ताहे सामी अट्ठ उउबद्धिए मासे विहरित्ता वासावासे उवगते त चेव दूइज्जतगगाम एति, तत्थेगमि मढे वासावासं ठितो, पढमपाउसे य गोरूवाणि चारिं अलभताणि जुण्णाणि तणाणि खायति, ताणि य घराणि उव्वेल्लेति, पच्छा ते वारेति, सामी ण वारेइ, पच्छा ते दूइज्जतगा तस्स कुलवइस्स साहेति, जहा एस एताणि ण वारेति, ताहे सो कुलवती त अणुसासेति, भणति—कुमारवरा ! सउणीवि ताव णेड्ड रक्खति, तुमपि वारेज्जासित्ति सप्पिवासं भणति, ताहे सामी अचितत्तोग्गहोत्ति निग्गतो, इमे य तेण पच अभिग्गहा गहिता, त जहाअचियत्तोग्गहे ण वसितव्व, निच्च वोसट्ठे काए मोण च, पाणीसु भोतव्व 'गिहत्थी वदियव्वो न अब्भुट्ठेयव्वोत्ति ।

३२ १ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २७३, २७४ :

एव सो अट्ठितगामो जातो। तत्थ पुण वाणमतरघरे जो रत्तिं परिवसति तत्थ सो सूलपाणी सनिहितो त रत्तिं वाहेत्ता पच्छा मारेति,' इतो य तत्थ सामी आगतो दूइज्जतगाण पासातो ···ताहे गता एगकोणे पडिम ठितो, ताहे सो वाणमतरो जाहे सद्देण ण बीहेति ताहे हत्थिरूवेण उवसग्ग करेति पिसायरूवेण य, एतेहिवि जाहे ण तरति खोभेउ ताहे पभायसमए सत्तविह वेयण करेति ।

३५ १ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २७७, २७९

ताहे सामी उत्तरवाचाल वच्चति, तत्थ अतरा कणकखलं णाम आसमपद, दो पथा उज्जुओ य वको य, जो सो उज्जुओ सो कणगखलमज्झेण वच्चति, वंको परिहरंतो, सामी उज्जुएण पधाइतो।···भगव च गतूण तत्थ पडिम ठितो, आसुरुत्तो ममं ण जाणसित्ति सूरिएणाज्झाइत्ता पच्छा सामिं पलोएति जाव सो ण उज्झति जहा अन्ने, एव दो तिन्नि वारे, ताहे गंतूण डसति, डसित्ता सरति अवक्कमति मा मे उवरिं पडिहिति, तहवि ण

मरति एव तिन्नि पलोएतो अच्छति अमरिसेण, तस्स त एव पलोएतस्स ताणि अच्छीणि विज्झाताणि···अन्नाओ य घयविक्किणियातो त सप्प घतेण मक्खति, फरुसोति सो पिपीलियाहि गहितो, त वेयण सम्म अहियासेति, अद्धमासस्स कालगतो सहस्सारे उववन्नो।

३७ १ (क) आयारो, ९।२।११,१२.

स जणेहि तत्थ पुच्छिसु, एगचरा वि एगदा राओ।
अव्वाहिए कसाइत्था, पेहमाणे समाहि अपडिण्णे॥
अयमतरसि को एत्थ, अहमसि त्ति भिक्खू आहट्टु।
अयमुत्तम से धम्मे तुसिणीए स कसाइए झाति॥

(ख) आचारागचूर्णि, पृ० ३१६ :

एगा चरति एग चरा उब्भामिया, उब्भामगपुच्छत्ति, एत्थ को आगओ आसी पुरिसो वा ? इत्थि पुच्छति अहवा दोवि ण, जणाइ आगम पुच्छति—अत्थि एत्थ कोयी देवज्जओ कप्पाडिओ वा ? तुसिणीओ अच्छइ, दट्ठु वा भणति—को तुम ? तत्थवि मोण अच्छति, ण तसि उब्भामइल्लाण वाय पि देति, पच्छा त अच्चाहिते कम्मइ, एत्थ पुच्छिज्जतो वि वाय ण देइत्तिकाऊण रुस्सति पिट्टति य, उब्भामिया य उब्भामग सो ण साहतित्तिकाउ, कि आगतो आसि ? णागतोत्ति, अव्वाहिते कसाइय भण्णति—अक्खाहि धम्मे। ते चेव एगचरा आगतु दट्ठूण भणति—अयमतरसि, अय अस्मिन् अतरे अम्हसतगे को एत्थ ? एव वुत्ते हि अह भिक्खुत्ति एव वुत्तेवि रुस्सति, केण तव दिन्न ? कि वा तुम अम्ह विहारट्ठाणे चिट्ठसि ? अक्कोसहिति वा, कम्मारगस्स वा ठाओ सामिएण दिन्नो होज्जा, पच्छा रण्णो भणति को एस ? सामिट्ठितो, तुसिणीओ चिट्ठति।

३८ १ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९०, २९६

(क) भगव चितति—बहु कम्म निज्जरेयव्व लाढाविसय वच्चामि, ते अणारिया, तत्थ निज्जरेमि, तत्थ भगव अत्थारियदिट्ठत हिदए करेति, ततो भगव निग्गतो लाढाविसय पविट्ठो।

(ख) तत्थ अट्ठमं वासारत्तं चाउम्मासखमणं, विचित्ते य अभिग्गहे, बाहिं पारित्ता सरदे समतीए दिट्ठ त करेति, सामी चिंतेति—बहु कम्म 'ण' सक्का णिज्जरेउ, ताहे सतेमेव अत्थारियदिट्ठ त पडिकप्पेति, जहां एगस्स कुडबियस्स साली जाता, ताहे सो कप्पडियपथिए भणति—तुब्भ हियच्छितं भत्त देमि मम लुणह, पच्छा भे जहासुह वच्चह, एव सो ओवातेण लुणावेति, एव चेव ममेवि बहुं कम्म अच्छति, एतं तडच्छारिएहि णिज्जरावेयव्वति अणारियदेसेसु, ताहे लाढावज्जभूमि सुद्धभूमिं च वच्चति।

२ आयारो, ९।३।२ :

अह दुच्चर-लाढमचारी, वज्जभूमि च सुब्भभूमि च।
पत सेज्ज सेविंसु आसणगाणि चेव पताइ ॥

३ (क) आचारांगचूर्णि, पृ० ३१९

एव तत्थ छम्मासे अच्छितो भगव।

(ख) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९६

तत्थ य छम्मासे अणिच्चजागरिय विहरति।

(ग) आचारागवृत्ति, पत्र २८२ :

तत्र चैवविधे जनपदे भगवान् षण्मासावधि काल स्थितवानिति।

४ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ २९० ·

··लाढाविसय पविट्ठो·· पच्छा ततो णीति, तत्थ पुन्नकलसो णाम अणारियगामो ··एव विहरता भद्दिय णगरी गता, तत्थ वासारत्ते चाउम्मासखमणेण अच्छति।

५ आचारांगचूर्णि, पृ० ३१८ ·

अणगरजणवओ पाय सो विसओ, ण तत्थ नगरादीणि सति, लूसगेहिं सो कट्ठमुट्ठिप्पहारादिएहिं अणेगेहिं य लूसति, एगे आहु—दतेहि खायतेत्ति, किंच—अहा लूहदेसिए भत्ते, तद्देसे पाएण रुक्खाहारा तैलघृतविवर्जिता रूक्षा, भक्तदेस इति वत्तव्वे बधाणुलोमओ उवक्कमकरण, णेह गोवांगरससीरहिणि, रूक्ष गोवालहलवाहादीण सीतकूरो, आमंतेणऊणं अविलेण अलोणेण

एए दिज्जंति मज्झण्हे लुक्खएहिं, माससहाएहिं तं पिणाति प्रकाम, ण तत्थ तिला संति, ण गवीतो बहुगीतो, कप्पासो वा, तणपाउणातो ते, परुक्खाहारत्ता अतीव कोहणा, हस्सिता अक्कोसादी य उवसग्गे करेंति।

४० १ आचारांगचूर्णि, पृ० ३२० :

कारणेण गाममणियंतिय गामब्भासते लाढा पडिणिक्खमेत्तु लूसेंति, णग्गा तुम किं अम्ह गाम पविससि ?

२ (क) आयारो, ९।३।८ :

''अलद्धपुव्व वि एगया गामो।

(ख) आचारांगचूर्णि, पृ० ३२० .

एगया कदायि, गामि पविट्ठेण णिवासो ण लद्धपुव्वो, जेण उवस्सतो ण लद्धो तेण गामो ण लद्धो चेव भवति।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २९६ :

तदा य किर वासारत्तो, तमि जणवए केणइ दइवनिओगेण लेहट्ठो आसी वसहीवि न लब्भति।

४. आयारो, ९।३।३-६ :

लाढेंहि तस्सुवसग्गा, बहवे जाणवया लूसिसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंसिसु णिवतिसु॥
अप्पे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए दसमाणे।
छुछुकारंति आहंसु, समणं कुक्कुरा डसंतु त्ति॥
एलिक्खए जणे भुज्जो, बहवे वज्जभूमि फरुसासी।
लट्ठिं गहाय णालीयं, समणा तत्थ एव विहरिंसु॥
एवं पि तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं।
संलुंचमाणा सुणएहिं, दुच्चरगाणि तत्थ लाढेहिं॥

४१ १. आयारो, ९।३।१०,११ :

हयपुव्वो तत्थ दंडेण, अदुवा मुट्ठिणा अदु कुंताइ-फलेणं।
अदु लेलुणा कवालेण, हंता हंता बहवे कंदिसु॥
मसाणि छिन्नपुव्वाइं, उट्ठुभंति एगयाकायं।
परीसहाइं लुंचिसु, अहवा पंसुणा अवकिरिंसु॥

२ (क) आयारो, ९।३।१२ :

उच्चालइय णिहणिंसु अदुवा आसणाओ खलइंसु ।
वोसट्ठकाए पणयासी, दुक्खसहे भगव अपडिण्णे ।।

(ख) आचारांगचूर्णि, पृ० ३२० :

केइ आसणातो खलयति आयावणभूमीतो वा जत्थ वा अन्नत्थ ठिओ णिसण्णो वा, केति पुण एव वेवमाणो हणेत्ता आसणाती वा खलित्ता पच्छा पाएसु पडितु खामिति ।

३. आचारांगाचूर्णि, पृ० ३२० :

ज लाढा तारिसेण रूवेण तज्जति, बुवति ते तु चिरु विघायण, तारिसे रूवे रज्जति, सरिसासरिसु रमति ।

४५ १ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८१, २८२ :

ततो भगव उदगतीराए पडिक्कमित्तु पत्थिओ गगामट्टियाए य तेण मधुसित्थेण लक्खणा दीसंति, तत्थ पूसो णाम सामुद्दो सो ताणि सोचिते लक्खणाणि पासति, ताहे—एस चक्कवट्टी एगागी गतो वच्चामिण वागरेमि तो मम एत्तो भोगवत्ती भविस्सति, सेवामि ण कुमारत्ते । सामिवि थूणागसनिवेसस्स बाहिं पडिम ठितो, ··ततो सामी रायगिह गतो ।

४७ १, २ आयारो, ६।२।५ :

णिद्द पि णो पगामाए, सेवइ भगव उट्ठाए ।
जग्गावती य अप्पाण, ईसि साई या सी अपडिण्णे ।।

३ आचारांगचूर्णि, पृ० ३१३ :

गिम्हे अतिणिद्दा भवति हेमते वा जिघांसुरादिसु, ततो पुव्वरत्ते अवररत्ते वा पुव्वपडिलेहियउवासयगतो,तत्थ णिद्दाबिमोयणहेतु मुहुत्तागं चकमिओ, णिद्द पविणेत्ता पुणो अतो पविस्स पडिमागतो ज्झाइयवान् ।

४८ २. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग पृ० २७४ :

सामी य देसूणचत्तारि जाये अतीव परितावितो समाणो पभायकाले मुहुत्तमेत्त निद्दापमावं गतो, तत्थिमे दस महासुमिणे पासित्ताण पडिबुद्धो, तं जहा—तालपिसाओ हतो १ सेयसउणो

चित्तकोइलो य दोवेते पज्जुवासंता दिट्ठा २-३ दामदुग च सुरभिकुसुममय ४ गोवग्गो य पज्जुवासंतो ५ पउमसरो विउद्धपकओ ६ सागरो यमिणितित्थिणोत्ति ७ सूरो य पइन्न-रस्सिमडलो उग्गमतो ८ अतेहिय मे माणुसुत्तरो वेढिओत्ति ९ मदर चारूढोमित्ति। १०।

४९ १. **आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, २९२-२९३ :**

सामी गामाय सनिवेस एति, तत्थ उज्जाणे बिभेलओ णाम जक्खो, सो भगवतो पडिम ठितस्स पूय करेति, ततो सामी सालिसीसय णाम गामो तहिं गतो, तत्थ उज्जाणे पडिम ठितो, माहमासो य वट्टति, तत्थ कडपूयणा वाणमतरी सामी दठ्ठूण तेय असहमाणी पच्छा तावसरूव विउव्वित्ता वक्कलणियत्था जडाभारेण य सव्व सरीर पाणिएण ओल्लेत्ता दहमि उवरि ठिता सामिस्स अगाणि धुणति वाय च विउव्वति, जदि पागतो सो फुट्टितो होन्तो, सा य किल तिविट्ठुकाले अंतेपुरिया आसि, ण य तदा पडियरियत्ति पदोस वहति, त दिव्व वेयण अहियासतस्स भगवतो ओही विगसिओ सव्व लोग पासितु मारद्धो, सेस काल गब्भातो आढवेत्ता जाव सालिसीस ताव सुरलोगप्पमाणे ओही एक्कारस य अगा सुरलोगप्पमाणमेत्ता, जावतिय देवलोगेसु पेच्छिताइत्ता। सावि वतरी पराजिता सता ताव उवसता पूय करेति।

५० १. **आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० ३०४, ३०५ :**

ततो सामी दढभूमी गतो, तीसे बाहिं पेढाल नाम उज्जाण, तत्थ पोलासं चेतिय, तत्थ अट्ठमेण भत्तेण अप्पाणएण ईसिंपब्भारगतेण, ईसिंपब्भारगतो नाम ईसिं ओणओ काओ, एगपोग्गलनिरुद्धदिट्ठि अणिमिसणयणो तत्थ वि जे अचित्त-पोग्गला तेसु दिट्ठि निवेसेति, सचित्तेहिं दिट्ठी अप्पाइज्जति,··· इतो य सगमको···अज्जेव ण अह चालेमेत्ति···सो आगतो।

· जहा जहा उवसग्ग करेति तहा तहा सामी अतीव ज्झाणेण अप्पाण भावेति, जहा—तुमए चेव कतमिणं, ण सुद्धचारिस्स दिस्सए दडो। जाहे ण सक्को ताहे विच्चुए विउव्वति, ते खायंति। तह वि ण सक्का, ताहे णउले विउव्वति, ते तिक्खाहिं दाढाहिं दसति, खडखंडाइ च अवणेंति, पच्छा सप्पे

विसरोससंपन्ने उग्गविसे डाहजरकारए''' न सक्को एस मारेउंति अणुलोमे करेमि।

५१. १ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ५२८-५३६, दीपिका पत्र १०७-१०८ :

जो य तवो अणुचिण्णो, वीरवरेण महाणुभावेण।
छउमत्थकालियाए, अहकम्म कित्तइस्सामि॥
नव किर चाउम्मासे, छक्किर दोमासिए उवासीय।
बारस य मासियाइ, बावत्तरि अद्धमासाइ॥
एग किर छम्मास, दो किर तेमासिए उवासीय।
अड्ढाइज्जा दुवे, दो चेव दिवड्ढमासाइ॥
भद्द च महाभद्दं, पडिम तत्तो अ सव्वओभद्दं।
दो चत्तारि दसेव य दिवसे ठासीय अणुबद्ध॥
गोयरमभिग्गहजुय, खमण छम्मासिय च कासीय।
पचदिवसेहि ऊण, अव्वहियो वच्छनयरीए॥
दस दो य किर महप्पा, ठाइ मुणी एगराइए पडिमे।
अट्ठमभत्तेण जई, एक्केक्क चरमराईय॥
दो चेव य छट्ठसए, अउणातीसे उवासिया भगव।
न कयाइ निच्चभत्त, चउत्थभत्त च से आसि॥
बारस वासे अहिए, छट्ठ भत्त जहण्णय आसि।
सव्वं च तवोकम्म, अपाणय आसि वीरस्स॥
तिण्णि सए दिवसाण, अउणावण्ण तु पारणाकालो।
उक्कुडुयनिसेज्जाण, ठियपडिमाण सए बहुए॥

५२ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७०

ततो बीयदिवसे छट्ठपारणए कोल्लाए सन्निवेसे घतमधुसजुत्तेण परमन्नेण बलेण माहणेण पडिलाभितो।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७६

पच्छा सामी उत्तरवाचाल गतो तत्थ पक्खखमणपारणए अतिगतो, तत्थ णागसेणेण गाहावतिणा खीरभोयणेण पडिलाभितो।

५३ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८३, २८४ :

ताहे सामी बभणागाम पत्तो, तत्थ णदो उवणदो य दोन्नि भातरो,

गामस्स दो पाडगा, तत्थ एगस्स एगो इतरस्सवि एगो, तत्थ सामी नंदस्स पाडगं पविट्ठो अंतरं च तत्थ दवि दोसीणेण य पडिलाभितो नंदेण ।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३००, ३०१ :

पच्छा तासु सम्मत्तासु आणंदस्स गाहावतिस्स घरे बहुलियाए दासीए महाणसिणीए भायणाणि खणीकरेंतीए दोसीण छड्डेउकामाए सामी पविट्ठो, ताहे भन्नति किं भगव ! एतेण अट्ठो ? सामिणा पाणी पसारितो, ताए परमाए सद्धाए दिन्नं ।

४. आयारो, ९।४।४, ५, १३ .

आयावई य गिम्हाण, अच्छइ उक्कुडुए अभिवाते ।
अदु जावइत्थ लूहेण ओयण-मंथु-कुम्मासेण ।।४।।
एयाणि तिण्णि पडिसेवे, अट्ठ मासे य जावए भगव ।
अपिइत्थ एगया भगव, अद्धमास अदुवा मास पि ।।५।।
अवि सूइय व सुक्क वा, सीयपिंड पुराणकुम्मास ।
अदु बक्कस पुलाग वा, लद्धे पिंडे अलद्धए दविए ।।१३।।

५५ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६८ :

तए ण सामी अहासन्निहिए सव्वे नायए आपुच्छित्ता णायसंडबहिया चउब्भागावसेसाए पोरुसीए कमारग्गाम पहावितो···सामी पालीए जा वच्चति ताव पोरुसी मुहुत्तावसेसा जाता, सपत्तो य त गाम, तस्स बाहिं सामी पडिम ठितो ।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३०१ :

ईसिपब्भारगतो नाम ईसिं ओणओ काओ, एगपोग्गल-निरुद्धदिट्ठी अणिमिसणयणो तत्थवि जे अचित्तपोग्गला तेसु दिट्ठिं निवेसेति, सचित्तेहिं दिट्ठी अप्पाइज्जति, जहा दुब्बाए, जहासभव सेसाणिवि भासियब्वाणि । अहापणिहितेहिं गत्तेहिं सव्विदिएहिं गुत्तेहिं दोवि पादे साहट्टु वग्घारियपाणी एगराइय महापडिम ठितो ।

५६ १ (क) आयारो, ९।१।५ :

अदु पोरिसि तिरिय भित्तिं, चक्खुमासज्ज अतसो झाइ ।

(ख) आचारांगचूर्णि, पृ० ३००, ३०१ :

पुरतो तिरियं पुर्ण भित्ति, सणिमसा दिट्ठी, को अत्थो ? पुरतो सकुडा अंतो वित्थडा सा तिरियभित्तिसंठिता वुच्चति, सगडुद्धि-संठिता वा, जतिवि ओहिणा वा पासति तहावि सीसाणं उद्देसतो तहा करेति जेण निश्चलं मति दिट्ठि, ण य णिच्चकालमेव ओधीणाणोवओगो अत्थि,…यदुक्तं भवति—पुरओ अतो मज्झे यातीति पश्यति, तदेव तस्स ज्झाण ज रिउवयोगे अणिमिसाए दिट्ठीए बद्धेहिं अच्छीहिं, त एवं बद्धअच्छी जुगतरणिरिक्खणं दट्ठुं ।

३. आवश्यकनियुक्ति, गाथा ४९८

दृढभूमीए बहिआ, पेढालं नाम होइ उज्जाणं ।
पोलास चेइयमि, ठ्ठिएगराईमहापडिम ॥

५७ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३०० :

ततो साणुलट्ठित णाम गामं गतो, तत्थ भद्दं पडिम ठाति, केरिसिया भद्दा ?, पुव्वाहुत्तो दिवस अच्छति, पच्छा रत्ति दाहिणहुत्तो अवरेण दिवस उत्तरेण रत्ति, एव छट्ठेण भत्तेण णिट्ठिता। तहवि ण चेव पारेति, अपारितो चेव महाभद्दं ठाति सा पुण पुव्वाए दिसाए अहोरत्त, एवं चउसुवि चत्तारि अहोरत्ता एव दसमेण णिट्ठिता। ताहे अपारितो चेव सव्वातोभद्दं पडिमं ठाति, सा पुण सव्वतोभद्दा इदाए अहोरत्त, पच्छा अग्गेयाए, एव दससुवि दिसासु सव्वासु, विमलाए जाइ उड्ढलोतियाणि दव्वाणि ताणि झाति, तमाए हिट्ठिल्लाइ, चउरो दो दिवसा दो रातिओ, अट्ठ चत्तारि दिवसा चत्तारि रातीतो, बीसं दस दिवसा दस राईओ, एवं एसा दसहिं दिवसेहिं बावीसइमेण णिट्ठाति ।

२. (ख) आयारो, ९।४।१४ .

अवि झाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं ।
उड्ढमहे तिरियं च, पेहमाणो समाहिमपडिण्णे ॥

३. आचारांगचूर्णि, पृ० ३२४ :

उड्ढं अहेयं तिरियं च, सव्वलोए झायति समितं, उड्ढलोए जे अहेवि तिरिएवि, जेहि वा कम्मादाणेहिं उड्ढ गमति एव अहे तिरियं च, अहे ससार ससारहेउं च कम्मविपाग च ज्झायति,

एव मोक्खं मोक्खहेऊ मोक्खसुहं च ज्झायति, पेच्छमाणो आयसमाहिं परसमाहिं च अहवा नाणादिसमाहिं।

५८ १. (क) **आचारांगचूर्णि, पृ० ३२४ :**

आसण उक्कुडुओ वा वीरासणेण वा।

(ख) **आचारांगवृत्ति, पत्र २८३**

'आसनात्' गोदोहिकोत्कटुकासनवीरासनादिकात्।

५९ १. (क) **आचारांगचूर्णि, पृ० २९९ :**

स हि भगवा दिव्वेहिं गोसीसाइएहिं चदणेहिं चुन्नेहिं य वासेहि य पुप्फेहि य वासितदेहोऽपि णिक्खमणाभिसेगेण य अभिसित्तो विसेसेण इदेहिं चदणादिगधेहिं वा वासितो, जओ तस्स पव्वइयस्सवि सओ चत्तारि साधिगे मासे तहावत्थो, ण जाति, आगममग्गसिरा आरद्ध चत्तारि मासा सो दिव्वो गधो न फिडिओ, जओ से सुरभिगधेण भमरा मधुकरा य पाणजातीया बहवो आगमेति दूराओवि, पुप्फितेवि लोहकदादिवणसडे चइत्ता, दिव्वेहिं गधेहिं आगरिसिता ·· आरुसित्ताण तत्थ हिंसिसु।

(ख) **आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, २६६, २६९ :**

स हि भगवान् दिव्वेहिं···अतो से सुरभिगधेण भमरा मधुकरा य···विधति य।

२. (क) **आचारागचूर्णि, पृ० ३०० :**

जे वा अजितेदिया ते गधे अग्घात तरुणइत्ता त गधमुच्छिता भगवत भिक्खायरियाए हिंडत गामाणुगाम दूइज्जंत अणुगच्छता अणुलोम जायति देहि अम्हवि एत गधजुर्ति, तुसिणीए अच्छमाणे पडिलोमा उवसग्गे करेंति, देहि वा, किं वा पिच्छसित्ति, एव पडिमाट्ठियंपि उवसग्गेंति।

(ख) **आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६९ :**

जे वा अजितिदिया···उवसग्गेति।

६० १. (क) **आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६६, ३१० :**

एव इत्थियाओऽवि तस्स भगवतो गात रयस्वेदमलेहिं विरहित निस्साससुगध च मुहं अच्छीणि य निसग्गेण चेव नीलुप्पलपला-

सोभमाणि बीयअसुविरहियाणि दट्ठु भणंति सामि—कहिं तुब्भे वसहिं उवेह ? पुच्छति भणति अन्नमन्नाणि ।

(ख) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१० :

ताहे अविलित्ता कामाण मेथुणसपगिद्धा य मोहभरिया पइरिक्क काऊण पत्तेय पत्तेय मधुरेहि य सिंगारएहि य कलुणेहि य उवसग्गेहि उवसग्गेउ पवत्ता यावि होत्था । अम्हे अणाहा अवयक्खितुं. तुज्झ चलणओवायकारिया गुणसकर ! अम्हे तुम्हे विहूणा ण समत्था जीवितु खणपि, किं वा तुज्झ इमेण गुणसमुदएण ?···एव सप्पणयमधुराइ पुणो कलुणगाणि जपमाणीओ सरभसउवगूहिताइं बिब्बोयविलसिताणि य विहसितसकडक्खदिट्ठुणिस्ससितभणितउवललितललितधियमणपणयखिज्जियपसादिताणि य पकरेमाणीओवि जाहे न सक्का ताहे जामेव दिस पाउब्भूया जाव पडिगता ।

६१ १. आचारांगचूर्णि, पृ० ३०३

से तंति चोएन्तो अच्छति, भगव च हिंडमाणो आगतो, सो त आगत पेच्छेत्ता भणइ—भगव देवेज्जगा ! इम ता सुणेहि, अमुग कल वा पेच्छाहि । तत्थवि मोणेण चेव गच्छति ।

२. आचारांगचूर्णि, पृ० ३०३

णट्टं णच्चते, त पुण इत्थी पुरिसो वा णच्चति ।

६३ २. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९० .

ततो भगव निग्गतो लाढाविसय पविट्ठो।···तत्थ पुन्नकलसा णाम अणारियगामो, तत्थतरा दो तेणा लाढाविसय पविसितुकामा, ते अवसउणो एतस्सेव वहाए भवतुत्तिकट्टु असि कड्ढिऊण सीस छिंदामीत्ति पहाविता ।

४. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९२

सामीवि वेसालिं गतो, तत्थ कम्मारसालाए अणुन्नवेत्ता पडिम ठितो, सा साहारणा, जे साधीणा ते अणुन्नविता, अन्नदा तत्थ एगो कम्मारो छम्मासा पडिभग्गतो, आढत्तो सोभणतिधिकरणे आयोज्जाणि गहाय आगतो, सामिं च पडिम ठितं पासति, अमगलति सामिं आहणामित्ति चम्मट्ठेण पहाविती ।

६४ २. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९९ :

भगवपि वेंसालिं णगरिं संपत्तो, तत्थ संखो णाम गणराया, सिद्धत्थरन्नो मित्तो, सो तं पूजेति, पच्छा वाणियग्गाम पधावितो, तत्थंतरा गंडइता णदी, तं सामी णावाए उत्तिन्नो, ते णाविया सामिं भणति—देहि मोल्लं, एवं वाहृति, तत्थ संखरन्नो भाइणेज्जो चित्तो णाम दूइक्काए गएल्लओ णावाकडएण एति, ताहे तेण मोइतो महितो य।

६७ १ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७३, २७५

तत्थ [अत्थियगामे] सामी आगतो...एगकोणे पडिमं ठितो... तत्थ य उप्पलो नाम पच्छाकडो परिव्वाओ पासावच्चिज्जो नेमित्तिओ उप्पलो वि सामिं दट्ठु पहट्ठो वदति, ताहे भणति सामी ! तुब्भेहि अतिमरातीए इमे सुमिणा दिट्ठा, तेसिं इमं फलं ति—जो तालपिसाओ हतो तमचिरेण मोहणिज्जं उम्मूलेहिसि १, जो य सेयसउणो तं सुक्कज्झाणं झाहिमि २, जो विचित्तो तं कोइलो दुवालसंगं पन्नवेहिसि ३, गोवग्गफलं च ते चउव्विहो समणसंघो भविस्सति ४, पउमसरो चउव्विहु देवसंघातो भविस्सति ५, जं च सागरं तिन्नो तं संसारमुत्तरिहिसि ६, जो य सूरो तमचिरा केवलणाणं ते उप्पज्जिहिति ७, जं च अंतेहिं माणुसुत्तरो वेढितो तं ते निम्मलजसकित्तिपयाया सयले तिहुयणे भविस्सति ८, जं च मंदरसमारूढोसि तं सीहासणत्थो सदेवमणुयासुराए परिसाए धम्मं पन्नवेहिसित्ति ९, दामं दुगं पुण ण जाणामि। सामी भणति—'हे उप्पला ! जं ण तुमं न याणासि तं अहं दुविहमगाराणगारियं धम्मं पन्नवेहामित्ति १०। ततो वंदित्ता गतो।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३००

ताहे वाणियगामं गतो, तस्स बाहिं पडिमं ठितो, तत्थ आणंदो नाम समणोवासगो छट्ठं छट्ठेण आतावेति, तस्स य ओहिन्नाणं उप्पन्नं, जाव तित्थगरं पेच्छति, तं वदति णमंसति भणति य— अहो सामी परीसहा अधियासिज्जति वागरेति य जहा एच्चिरेण कालेण तुब्भं केवलणाणं उप्पज्जिहिति पूजेति य।

६६ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७४, २७७ :

पच्छा सरदे निग्गओ मोराय नाम सन्निवेस गओ, तत्थ सामी बहिं उज्जाणे ठिओ, तत्थ य मोरागए सन्निवेसे अच्छंदगा नाम पासंडत्था, तत्थ एगो अच्छंदओ तत्थ गामे अच्छइ, सो पुण तत्थ गामे कोंटलवेंटलेण जीवति, सिद्धत्थगो एकल्लओ अच्छतओ अद्धितिं करेति बहुसमोइतो य, भगवतो य पूय अपेच्छतो, ताहे सो वोलेंत गोह सद्दावेत्ता वागरेति, जहिं पज्जावितो ज जिमितो ज पथे दिट्ठ जे य सुविणगा दिट्ठा, ताहे सो आउट्टो गाम गतुं मित्तपरिजिताण परिकहेति, सव्वहिं गामे फुसितं एस देवज्जतो उज्जाणे अतीतवट्टमाणाणागत जाणति, ताहे अन्नोऽवि लोओ आगतो, सव्वस्स वागरेति, लोगो तहेव आउट्टो महिम करेति सो लोगेण अविरहितो अच्छति, ताहे सो लोगो भणई—एत्थ अच्छंदओ नाम जाणतओ, सिद्धत्थो भणति से ण किंचि जाणति, ताहे लोगो मंतुं भणति—तुमं ण किंचि जाणसि, देवज्जतो जाणति, सो लोगमज्झे अप्पाणं ठाविउकामो भणति—एह जामो, जदि मज्झ जाणति, ताहे लोगेण परिवारितो एति, भगवतो पुरतो ट्ठितो, तण गहाय भणति—किं एत छिज्जिहिति ? जई भणिहिइ तो ण छिंदिस्सं, अह भणिहिति णवि तो छिंदिस्सामि ।

···एव तस्स (अच्छंदगस्स) उड्डाहो जातो जहा तस्य कोऽवि भिक्खपि ण देति, ताहे सो अप्पसागारिय आगतो भणति—भगव ! तुब्भे अण्णत्थवि जुज्जह, अह कहिं जामि ? ताहे अचियत्तग्गहो त्ति काऊण सामी निग्गतो ।

७१ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८०, २८१:

ततो सुरभिपुर गतो, तत्थ गंगा उत्तरियव्विया, तत्थ सिद्धजत्तो णाम णाविओ, खेमिलो नेमित्तियो, तत्थ य णावाए लोगो विलग्गति, तत्थ य कोसिएण महासउणेण वासित, तत्थ सो नेमित्तिओ वागरेति—जारिसं सउणेण भणियं तारिस अम्हेहि मारणंतियं पाविअव्वं, किं पुण इमस्स महरिसिस्स पभावेण मुच्चीहामो, सा य णावा पहाविता,·· सो सवट्टगवातं विउव्वित्ता णावं उब्बोलेतु इच्छति ततो सामीवि उत्तिण्णो ।

७२ २. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८८ :

ताहे सामी हलेदुता णाम गामो त गतो, तत्थ महतिमहप्पमाणो हलेदुगरुक्खो, तत्थ सावत्थीओ अन्नो लोगो एतो तत्थ वसति सत्थनिवेसो, तत्थ सामी पडिम ठितो, तेहिं सत्थिएहिं रत्ति सीयकाले अग्गी जालिओ, ते पभाए संते उट्ठेत्ता गया, सो अग्गी तेहि न विज्झाविओ, सो डहतो २ सामिस्स पास गतो, सो भगव परितावेति, गोसालो भणति—भगव णासह एस अग्गी एइ, सामिस्स पादा दड्ढा, गोसालो णट्ठो ।

७३ १. आयारो ९।२।१३-१६ :

जसिप्पेगे पवेयति, सिसिरे मारुए पवायते ।
तसिप्पेगे अणगारा, हिमवाए णिवायमेसति ।।
सघाडिओ पविसिस्सामो, एहा य समादहमाणा ।
पिहिया वा सक्खामो, अतिदुक्ख हिमग-सफासा ।।
तसि भगव अपडिण्णे, अहे वियडे अहियासए दविए ।
णिक्खम्म एगदा राओ, चाइए भगव समियाए ।।
एस विही अणुक्कतो, माहणेण मईमया ।
अपडिण्णेण वीरेण, कामवेण महेसिणा ।।

७६ २. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७९, २८०

पच्छा सेयविय गतो, तत्थ पग्मी राया समणोवासए, सो महेति सक्कारेति, ततो सुरभिपुर वच्चति, तत्थ अतराए णेज्जगा रायाणो पचहिं रहेहिं एति पएसिस्स रन्नो पास, तेहि तत्थ गतेहि सामी पूतितो य वदितो य।

७७ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९४, २९५

ततो पुरिमताल एति, तत्थ वग्गुरो णाम सेट्ठी, तस्स भारिया वज्झा अवियाउरी जाणुकोप्परमाता, देवसतोवाइयाणि काउ परिसता, अन्नया सगडमुहे उज्जाणियाए गताणि, तत्थ पासति जुन्नदेउल सडितपडित, तत्थ मल्लिसामिणो पडिमा, त णमसति तेहि भणित —जदि अम्ह दारओ वा दारिया वा पयाति ता एत देउल्न करेमो, एतब्भत्ताणि य होमो, एवं णमसित्ता गयाणि तत्थ य अहासन्निहियाए वाणमंतरी देवयाए पाडिहेर कत,

आहूतो गब्भो, जं चेव आहूतो तं चेव देवउलं काउमारद्धाणि अतीव पूजं तिसंज्झ करेंति, पव्वइया य अल्लियंति, एव सो मावओ जातो। इतो य सामी विहरमाणो सगडमुहस्स उज्जाणस्स णगरस्स य अंतरा पडिमं ठितो।···वग्गुरो य तं कालं ण्हातो ओल्लपडसाडओ सपरिजणो महता इड्ढीए विविहकुसुमहत्थगतो त आयतणमच्चतो जाति, तं च वितिवयमाण ईसाणिदो पासति, भणति य—भो! वग्गुरा! तुब्भ पच्चक्खतित्थगरस्स महिमं ण करेसि, तो पडिमं अच्चतो जासि, जा एस महतिमहावीरवद्धमाणसामी जगनाहेति लोगपुज्जेति, सो आगतो मिच्छादुक्कडं काउं खामेति महिमं करेति।

७७ ३. (क) आयारो. ९।१।५:

अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं, चक्खुमासज्ज अंतसो झाइ।
अह चक्खु-भीया सहिया तं "हंता हंता" बहवे कंदिंसु॥

(ख) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९६

भगवं पि वेसालिं णगरिं संपत्तो, तत्थ संखो णाम गणराया, सिद्धत्थरन्नो मित्तो, सो तं पूजेति।

७८ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८६,२८७

ताहे सामी ततो चोरागसन्निवेसं गता, तत्थ चारियत्तिकाऊण ओलबालग अगडे पज्जिज्जति, पुणो य उत्तरिज्जति, तत्थ ताव पढमं गोसालो, सामी ण ताव, तत्थ य सोमाजयंतीओ उप्पलस्स भगिणीओ पासावच्चिज्जाओ दो परिव्वाइयातो ण तरंति पव्वज्जं काऊण ताहे परिव्वाइयत्तं करेंति, ताहे सुतं—कोवि दो जणा ओबालए पज्जिज्जिंति, ताओ पुण जाणंति—जहा चरिमतित्थयरो पव्वतितो, तो ताओ तत्थ गताओ जाव पेच्छंति, ताहिं मोइओ, ते य ओद्धसिया—अहो विणस्सिउकामत्थ, तेहिं भएण खमिता, महितो य।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ०-२९०:

पच्छा ते लवुग गता, तत्थ दो पच्चंतिया भायरो मेहो य कालहत्थी य, सो कालहत्थी चोरेहिं समं उद्धाइयो, इमे य दुयगे पेच्छंति, ते भणंति—के तुब्भे ?, सामी तुसिणीओ अच्छति, ते

तत्थ हम्मति ण य साहेतित्ति, तेण ते बंधिऊण महल्लस्स भालुगस्स पेसिया, तेण जं चेव भगव दिट्ठो त चेव उट्ठेत्ता पूतितो खामितो य, तेण सामी कुंडग्गामे दिट्ठेल्लओ, ततो मुक्को समाणो...।

७६ २. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६१,२६२ :

ततो पच्छा कूविया णाम सनिवेसो, तत्थ गता तेहिं चारियत्ति-काऊण घेप्पति, तत्थ वज्झति पिट्टिज्जति य, तत्थ लोग-समुल्लावो अपडिरूवो देवज्जतो रूवेण य जोव्वणेण य चारियोत्ति गहिओ, तत्थ विजया पगब्भा य दोन्नि पासतेवासिणीओ, परिव्वाइया सोऊण लोगस्स तित्थगरो इतो वच्चामो ता पुलएमो, को जाणति होज्जा ?, ताहिं मोतितो दुरप्पा ! ण जाणह चरिमतित्थकर सिद्धत्थरायसुत, अज्ज भे सक्को उवालभतित्ति ताहे मुक्का खामिया य ।

४. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९४ :

ततो निग्गता गता लोहग्गल रायहाणि, तत्थ जियसत्तू राया, सो य अन्नेण राइणा समं विरुद्धो, तस्स चारपुरिसेहिं गहिता पुच्छिज्जता ण साहति, तत्थ य चारियत्ति रन्नो अत्थाणीवर-गतस्स उवट्ठाविता, तत्थ उप्पलो अट्ठियग्गामतो, सो य पुव्वामेव अतिगतो, सो य ते आणिज्जते दट्ठूण उट्ठितो तिक्खुतो वंदति, पच्छा सो भणति—ण एस चरितो, एस सिद्धत्थरायसुतो धम्मवरचक्कवट्टी, एस भगव, लक्खणाणि से पेच्छह, तत्थ सक्कारेऊण मुक्को ।

८१ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१२ :

तादे सामी तोसलिं गतो, बाहिं पडिम ठितो, सो देवो चिंतेति—एस ण पविसति, तो एत्थवि से ठियस्स करेमि, ताहे खुड्डगरूव विउव्वित्ता संधि छिंदति, उवगरणेहिं गहिएहिं, वसीए तत्थ गहितो, सो भणति—मा म हणह, अहं किं जाणामि ? आय-रितेण अहं पेसितो । कहिं सो ? एस बाहिं असुगउज्जाणे, तत्थ हम्मति बज्झति य, मारिज्जतुत्ति वज्झो णीणिओ, तत्थ भूतिलो णाम इंदजालितो, तेण सामी कुंडग्गामे दिट्ठतो, ताहे सो मोएति, साहति य जहा—एस रायसिद्धत्थपुत्तो, मुक्को खामितो य ।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१३ :

तती भगवं मोसलिं गतो, बाहिं पडिम ठितो, इमो खुड्डगरूवं विउव्वित्ता खत्तं खणति, तत्थवि तहेव घेप्पति, बंधिऊणं मारिज्जइत्ति, तत्थ सुमागधो णाम रट्ठिओ सामिस्स पितुवयसो, सो मोएति।

५. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१३ :

तती भगव तोसलि गतो, तत्थवि बाहिं पडिम ठितो, तत्थवि देवो खुड्डरूव विउव्वित्ता संधिमग्ग सोहेति, पडिलेहेति य, सामिस्स पासे सव्वाणि खत्तोवकरणाणि विगुव्वति, ताहे सो खुड्डओ गहितो, तुम कीस एत्थ सोहेसि ? सो साहति—मम धम्मायरियो रत्ति मा कटए भज्जावेंहिति, सो रत्ति खणओ णीहिति, सो कहिं ? कहितो, गता, दिट्ठो सामी, ताणि य परिपेरतेण पासति, गहितो, आणीतो, ताहे उक्कलबितो, एक्कसि रज्जू छिन्नो, एव सत्त वारा छिन्नो, ताहे सिट्ठ तस्स तोसलियस्स खत्तियस्स, सो भणति—मुयह एस अचोरो, निद्दोसो।

८७. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१६, ३१७ :

ततो कोसंबि गतो। तत्थ य सयाणिओ राया, तस्स मिगावती देवी, तच्चावादी णाम धम्मपाढओ, सुगुत्तो अमच्चो, णदा से महिला सा समणोवासिया, सा सड्ढत्ति मिगावतीए वयसिया, तत्थेव णगरे धणावहो सेट्ठी, तस्स मूला भारिया, एव ते सकम्मसपउत्ता अच्छति। सामी य इम एतारूव अभिग्गहं अभिगेण्हति, चउव्विहं—दव्वतो ४, दव्वतो—कुमासे सुप्पकोणेणं, खित्तओ एलुग विक्खभइत्ता, कालओ नियत्तेसु भिक्खायरेसु, भावतो जदि रायधूया दासत्तण पत्ता णियल-बद्धा मुंडियसिरा रोयमाणी अब्भत्तट्ठिया, एव कप्पति, सेसं ण कप्पति, कालो य पोसबहुलपाडिवओ।

६१ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१६-३२०

ततो कोसंबि गतो। तत्थ य सयाणिओ राया,···एयं सगोवाहिं जाव सामिस्स नाण उप्पज्जति, एसा पढमा सिस्सिणी सामिस्स, ताहे कण्णंतेपुरं छूढा संवड्ढति, छम्मासा तदा पंचहिं दिवसेहिं ऊणगा जद्दिवसं सामिणा भिक्खा लद्धा, सावि मूला लोगेणं अबाडिता हीलिया य।

९३ १. आयारचूला, १५।३८, ३९ :

तओ ण समणस्स भगवओ महावीरस्स एएण विहारेण विहरमाणस्स बारसवासा विइक्कता, तेरसमस्स य वासस्स परियाए वट्टमाणस्स जे से गिम्हाणं दोच्चे मासे चउत्थे पक्खे— वइमाहसुद्धे, तस्सण वइसाहसुद्धस्स दसमी पक्खेण, सुव्वएण दिवसेण, विजएण मुहुत्तेण, हत्थुत्तराहि णक्खत्तेण जोगोवगतेण, पाईणगामिणीए छायाए, वियत्ताए पोरिसीए, जभियगामस्स णगरस्स बहिया णईए उजुवालियाए उत्तरे कूले, सामागस्स गाहावइस्स कट्ठकरणंसि, वेयावत्तस्स चेइयस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, सालरुक्खस्स अदूरसामते, उक्कुडुयस्स, गोदोहियाए आयावणाए आयावेमाणस्स छट्ठेण भत्तेण अपाणएण, उड्ढजाणुअहोसिरस्स, धम्मज्झाणोवगयस्स, झाणकोट्ठोवगयस्स सुक्कज्झाणतरियाए वट्टमाणस्स, निव्वाणे, कसिणे, पडिपुण्णे, अव्वाहए, णिरावरणे, अणते, अणुत्तरे, केवलवरणाणदसणे समुप्पण्णे।

से भगव अरिह जिणे जाए, केवली सव्वण्णू सव्वभावदरिसी, सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पज्जाए जाणइ, त जहा—आगति गति ठिति चयण उववाय भुत्त पीय कड पडिसेविय आवीकम्म रहोकम्म लविय कहिय मणोमाणसिय सव्वलोए सव्वजीवाण सव्वभावाइ जाणमाणे पासमाणे, एव च विहरइ।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३२४ :

ताहे सामी तत्थ मुहुत्त अच्छति जाव देवा पूय करेति, एस केवलकप्पो किर ज उप्पन्ने नाणे मुहुत्तमेत्त अच्छियव्व।

९४ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० ३२३, ३२४ :

वइसाहसुद्धदसमीए···केवलवरनाणदसणे समुप्पन्ने। 'एव जाव मज्झिमाए णगरीए महसेणवण उज्जाण सपत्तो। तत्थ देवा बितिय समोसरण करेति, महिम च सुरुग्गमणे, एग जत्थ नाण बितिय इम चेव।

१०७ १. उत्तरज्झयणाणि, २६।१२

पढम पोरिसिं सज्झाय बीय झाण झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीए सज्झायं॥

१०६ १. (क) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१ :

तो केई इच्छति—सपत्तो धम्मो पन्नवेयव्वोत्ति तेण पढमपारणगे परपत्ते भुत्त, तेण परं पाणिपत्ते।

(ख) आचारांगचूर्णि, पृ० ३०६ :

तहा सपत्त तस्स पाणिपत्त, सेस परपत्त, तत्थ ण भुजितं, तो केइ इच्छति—सपत्तो धम्मो पण्णवेयव्वुत्ति तेण पढमपारण परपत्ते भुत्तं, तेण पर पाणिपत्ते।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१ .

गोसालेण किर ततुवायसालाए भणिय—अह तव भोयणं आणामि, गिहिपत्ते काउ, तपि भगवया नेच्छियं।

४. (क) आचारांगचूर्णि, पृ० ३०६ :

उप्पण्णनाणस्स लोहज्जो आणेति।

(ख) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१

उप्पन्नणाणस्स उ लोहज्जो आणेति—
धन्नो सो लोहज्जो खतिखमो पवरलोहसरिवन्नो।
जस्स जिणो पत्ताओ इच्छइ पाणीहिं भोत्तु जे॥
(गणधर सुधर्मा का अपर नाम 'लोहार्य' था—'तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण'— जबूदीवपण्णत्ती १-१०।)

११० १. दसवेआलिय, ६।३।३ :

राइणिएसु विणय पउजे, डहरा वि य जे परियायजेट्ठा।
नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई, ओवायव वक्ककरे स पुज्जो॥

२. उपदेशमाला, श्लोक १५, १६ :

वरिससयदिक्खियाए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू।
अभिगमण - वदण - नमसणेण विणएण सो पुज्जो॥
धम्मो पुरिसप्पभवो, पुरिसवरदेसिओ पुरिसजिट्ठो।
लोए वि पहू पुरिसो, किं पुण लोगुत्तमे धम्मे॥

११२ १. नायाधम्मकहाओ, १।१५२-१५४ :

जंदिवसं च णं मेहे कुमारे मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए, तस्स णं दिवसस्स पच्चावरण्हकालसमयंसि समणाणं निग्गंथाणं अहाराइणियाए सेज्ज-संथारएसु विभज्जमाणेसु मेहकुमारस्स दारमूले सेज्जा-संथारए जाए यावि होत्था।

तए णं समणा निग्गंथा पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्माणुजोगचिंताए य उच्चारस्स वा पासवणस्स वा अइगच्छमाणा य निग्गच्छमाणा य अप्पेगइया मेहं कुमारं हत्थेहिं संघट्टेंति अप्पेगइया पाएहिं संघट्टेंति अप्पेगइया सीसे संघट्टेंति अप्पेगइया पोट्टे संघट्टेंति अप्पेगइया कायंसि संघट्टेंति अप्पेगइया ओलंडेंति अप्पेगइया पाय-रय-रेणु-गुंडियं करेंति। एमहालियं च रयणिं मेहे कुमारे नो संचाइए खणमवि अच्छिं निमीलित्तए।

तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था— तं सेयं खलु मज्झं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते समणं भगवं महावीरं आपुच्छित्ता पुणरवि अगारमज्झावसित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ।

२. नायाधम्मकहाओ, ८।१८

खणलवतवच्चियाए, वेयावच्चे समाहीए ॥२॥
....।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ सो उ ॥३॥

३. ठाणं, ४।४१२

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आतवेयावच्चकरे णाममेगे णो परवेयावच्चकरे, परवेयावच्चकरे णाममेगे णो आतवेयावच्चकरे, एगे आतवेयावच्चकरेवि परवेयावच्चकरेवि, एगे णो आतवेयावच्चकरे णो परवेयावच्चकरे।

११४ १. ब्रह्मसूत्र, अ० २, पा० १, अधि० ३, सू० ११, शांकरभाष्य :

प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थंकराणां कपिलकणभुकप्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्।

११८ १. उत्तरज्झयणाणि, ३२।५ :

न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥

११९ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७० :

ततो बीयदिवसे छट्ठपारणए कोल्लाए सन्निवसे घतमधुसंजुत्तेणं परमन्नेणं बलेण माहणेण पडिलाभितो।

१२१ १. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग, पृ० ३२०, ३२१ :

ततो सामी चंपं नगरिं गतो, तत्थ सातिदत्तमाहणस्स अग्गिहोत्तवसहिं उवगतो, तत्थ चाउम्मासं खमति, तत्थ पुण्णभद्दमाणिभद्दा दुवे जक्खा रत्तिं पज्जुवासति, चत्तारिवि मासे रत्तिं रत्तिं पूयं करेंति, ताहे सो माहणो चिंतेति—किं एस जाणति तो णं देवा महेंति? ताहे विन्नासणनिमित्तं पुच्छति—को ह्यात्मा? भगवानाह—योऽहमित्यभिमन्यते, स कीदृक्? सूक्ष्मोऽसौ, किं तत्सूक्ष्मं? यन्न गृह्णीमः, ननु शब्दगंधानिलाः किम्? न, ते इन्द्रियग्राह्या, तेन ग्रहणमात्मा, ननु ग्राहयिता हि स।

१२२ २. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २८३ :

ततो सामी रायगिहं गतो, तत्थ णालंदाए बाहिरियाए तंतुवायसालाए एगदेससि अहापडिरूवं उग्गहं अणुन्नवेत्ता पढमं मासक्खमणं विहरति, एत्थंतरा मखली एति।

··ताहे सामी तेण (गोसालेण) समं वासावगमाओ सुवन्नखलयं वच्चति, तत्थंतरा गोवालगा वइयाहिंतो खीरं गहाय महल्लीए थालीए णवएहिं चाउलेहिं पायसं उवक्खडेंति, ताहे गोसालो भणति—एह एत्थ भुंजामो, ताहे सिद्धत्थो भणति—एस निम्माणं चेव ण गच्छति, एस उरुभज्जिहित्ति, ताहे सो असद्दहंतो ते गोवए भणइ—एस देवज्जतो तीताणागतजाणतो भणति—एस थाली भज्जिहिति, तो पयत्तेण सारवेह, ताहे पयत्तं करेंति, वंसविदलेहि य थाली बद्धा, तेहिं अतिबहुया तंदुला छूढा, सा फुट्टा पच्छा गोवा जं जेण कभल्लं आसाइतं सो तत्थ चेव पजिमितो, तेण ण लद्धं, ताहे सुट्ठुतरं नियती गहिता।

१२३ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९७-२९८ :

ततो निग्गता पढमसरयदे, सिद्धत्थपुरं गता, सिद्धत्थपुराओ य कुमागाम सपत्थिया, तत्थ अंतरा एगो तिलथभओ, त दट्ठूण गोसालो भणति—भगवं ! एस तिलथभओ किं निप्फज्जिहिति नवत्ति ? सामा भणइ-निप्फज्जिही, एते य सत्त पुप्फजीवा ओद्दाइत्ता एतस्सेव तिलथभस्स एगाए सिबलियाए पच्चायाहिति तेण असद्दहतेण अवक्कमित्ता सलेट्ठुओ उप्पाडितो एगंते य एडिओ, अहासनिहितेहि य देवेहि मा भगव मिच्छावादी भवतु त्ति वुट्ठ, आसत्थो बहुला य गावी आगता तेण य पएसेण, ताए खुरेण निक्खतो, तो पट्ठितो पुप्फा य पच्चायाता, ताहे कुमागाम सपत्ता। 'अन्नदा सामी कुमग्गामाओ सिद्धत्थपुर सपत्थितो, पुणरवि तिलथभस्स अदूरसामतेण जाव वतिवयति ताहे पुच्छइ। भगव ! जहा न निप्फण्णो, भगवता कहित—जहा निप्फणो, त एव वणप्फईण पउट्टपरिहारो, पउट्टपरिहारो नाम परावर्त्य परावर्त्य तस्मिन्नैव सरीरके उववज्जति त, सो असद्दहतो गतूण तिलसेंगलिय हत्थे पप्फोडेत्ता ते तिले गणेमाणो भणति—एव सव्वजीवावि पयोट्टपरिहारति, णितितवाद धणितमवलबित्ता त करेति ज भगवत्ता उवदिट्ठ।

३. भगवई, १५।६०-६८ :

तएण अह गोयमा ! गोसालेण मखलिपुत्तेण सद्धि जेणेव कुम्मग्गामे नगरे तेणेव उवागच्छामि। तऐण तस्स कुम्मग्गामस्स नगरस्स बहिया वेसियायणे नाम बालतवस्सी छट्ठं छट्ठेण अणिक्खित्तेण तवोकम्मेण उड्ढ बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ। आइच्चतेय-तवियाओ य से छप्पदीओ सव्वओ समता अभिनिस्सवति, पाण भूय-जीव-सत्तदयट्ठयाए च ण पडियाओ-पडियाओ 'तत्थेव-तत्थेव' भुज्जो भुज्जो पच्चोरुभइ।

तए ण से गोसाले मखलिपुत्ते बालतवस्सि एव वयासी—किं भव मुणी ? मुणीए ? उदाहु जूयासेज्जायरए ? तएण से वेसियायणे···आसुरुत्ते रुट्ठे···तेयासमुग्घाएण समोहण्णइ, समोहणित्ता सत्तट्ठपयाइ पच्चोसक्कइ पच्चोसक्किता गोसालस्स मखलिपुत्तस्स बहाए सरीरगसि तेयं निसिरइ।

तएणं अहं गोयमा ! गोसालस्स अणुकंपणट्ठाए···सीयलियं तेयलेस्सं निसिरामि, जाए सा ममं सीयलियाए तेयलेस्साए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स उसिणा तेयलेस्सा पडिहया।

१२४ १. भगवई, १५।६६, ७०, ७६ :

तएण से गोसाले मखलिपुत्ते ममं अतियाओ एयमट्ठं सोच्चा निसम्म भीए तत्थे तसिए उव्विग्गे सजायभए मम वंदइ नमसइ वंदित्ता नमसित्ता एवं वयासी—कहण्णं भंते! सखित्तविउलतेय लेस्से भवति ? तएण अहं गोयमा ! गोसाल मखलिपुत्त एव वयासी—जेण गोसाला ! एगाए सणहाए कुम्मासपिडियाए एगेण य वियडासएण छट्ठछट्ठेण अणिक्खित्तेण तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ। से ण अतो छण्ह मासाणं सखित्तविउल-तेयलेस्से भवइ।

·· तएण से गोसाले मखलिपुत्ते अतो छण्हं मासाण संखित्तविउल-तेयलेस्से जाए।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८५,२८६

ततो कुमाराय सन्निवेस गता, तस्स बहिया चपरमणिज्जं णाम उज्जाण, तत्य भगव पडिम ठिओ, तत्थ कुमाराए संन्निवेसे कूवणओ णाम कुभगारो तस्स कुंभारावणे पासावच्चिज्जा मुणिचदा णाम थेरा बहुसुता बहुपरिवारा, से तत्थ परिवसति, तेय जिणकप्पपरिकम्म करेति सीस गच्छे ठवेत्ता, ते सत्तभावणाए अप्पाण भावेति· 'गोसालो य भगवं भणति—'एह वेसकालो हिंडामो' सिद्धत्थो भणति—अज्ज अम्हं अंतर, सो हिंडंतो ते पासावच्चिज्जे थेरे पेच्छति, भणति के—तुब्भे ? ते भणंति—समणा निग्गंथा। सो भणति—अहो निग्गंथा इमो भे एत्तिओ गथो, कहिं तुब्भे निग्गथा? ताहे सो गतो सामिस्स साहति—अज्ज मए सारंभा सपरिग्गहा दिट्ठा · सव्वं साहित। ताहे सिद्धत्थेण भणितो—ते पासावच्चिज्जा थेरा साधू।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९१ :

पच्छा तबाय णाम गाम एंति, तत्थ णंदिसेणा णाम थेरा बहुस्सुया बहुपरिवारा, ते तत्थ जिणकप्पस्स पडिकम्मं करेंति,

पासावच्चिज्जा, इमे वि ताहिं पडिमं ठिता। गोसालो अतिगतो, तहेव पेच्छति पव्वतिते, तस्थ पुणो खिंसति,ते आयरिया तद्दिवसं चउक्के पडिम ठायंति। पच्छा तहिं आरक्खियपुत्तेण हिंडतेणं चोरोत्ति भल्लएण आहतो।

१२६ १. सूयगडो १।६।२७ :

किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्ववायं इह वेयइत्ता, उवट्ठिए सम्म स दीहरायं॥

१२८. १. भगवई १५।५-६ :

तएणं तस्स गोसालस्स मखलिपुत्तस्स अण्णदा कदाइ इमे छ दिसाचरा अंतियं पाउब्भवित्था, तं जहा—साणे, कणियारे, अच्छिदे, अग्गिवेसायणे, अज्जुणे, गोमायुपुत्ते।
तए णं ते छ दिसाचरा अट्ठविहं पुव्वगयं मग्गदसमं 'मएहिं-सएहिं' मतिदसणेहिं निज्जूहति निज्जूहित्ता गोसालं मखलिपुत्तं उवट्ठाइसु। तए णं से गोसाले मखलिपुत्ते तेणं अट्ठगस्स महानिमित्तस्स · इमाइं छ अणइक्कमणिज्जाइं वागरणाइं वागरेति, तं जहा—लाभं, अलाभं, सुहं, दुक्खं, जीवियं, मरणं तहा।

१३० १. (क) पण्हावागरणाइं, ६।३.

जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं।

(ख) पण्हावागरणाइं, ६।२.

जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं संभग्गं···।

१३३ १. नायाधम्मकहाओ, १।१५० :

तए णं समणे भगवं महावीरे मेहं कुमारं सयमेव पव्वावेइ·· धम्ममाइक्खइ—एवं देवाणुप्पिया! गंतव्वं, एवं चिट्ठियव्वं, एवं निसीयव्वं, एवं तुयट्टियव्वं एवं भुंजियव्वं, एवं भासियव्वं एवं उट्ठाए उट्ठाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमियव्वं, अस्सि च णं अट्ठे नो पमाएयव्वं।

१४३ २. ठाणं, ४।४१९ :

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—रूवं णाममेगे जहति णो धम्मं, धम्मं णाममेगे जहति णो रूवं, एगे रूवंपि जहति धम्मंपि, एगे णो रूव जहति णो धम्मं ।

१४६ १. ठाणं, ४।४२०

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—धम्मं णाममेगे जहति णो गणसठिंति, गणसठिंति णाममेगे जहति णो धम्म, एगे धम्मवि जहति गणसठिंतिवि, एगे णो धम्म जहति णो गणसठिंति ।

१५० २. दसवेआलियं, ९।३।६ .

सक्का सहेउ आसाए कटया, अओमया उच्छहया नरेण ।
अणासए जो उ सहेज्ज कटए, वईमए कण्णसरे स पुज्जो ।।

१५१. १. भगवई, ६।१५, १६

जीवा ण भते ! किं महावेदणा महानिज्जरा ? महावेदणा अप्पनिज्जरा ? अप्पवेदणा महानिज्जरा ? अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ?

गोयमा ! अत्थेगतिया जीवा महावेदणा महानिज्जरा, अत्थेगतिया जीवा महावेदणा अप्पनिज्जरा, अत्थेगतिया जीवा अप्पवेदणा महानिज्जरा, अत्थेगतिया जीवा अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ।

से केणट्ठेण ?

गोयमा ! पडिमापडिवन्नए अणगारे महावेदणे महानिज्जरे । छट्ठ-सत्तमासु पुढवीसु नेरइया महावेदणा अप्पनिज्जरा । सेलेसिं पडिवन्नए अणगारे अप्पवेदणे महानिज्जरे । अणुत्तरोववाइया देवा अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ।

१५३ १. भगवई, ८।२९६ ·

गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—कुलपडिणीए, गणपडिणीए, परलोगपडिणीए, दुहओलोगपडिणीए ।

वृत्ति, पत्र ३८२ :

तत्रेहलोकस्य—प्रत्यक्षस्य मानुषत्वलक्षणपर्यायस्य प्रत्यनीक इन्द्रियार्थप्रतिकूलकारित्वात् पंचाग्नितपस्विवद् इहलोकप्रत्यनीक:, परलोको जन्मान्तर तत्प्रत्यनीक:—इन्द्रियार्थतत्पर, द्विधालोकप्रत्यनीकश्च चौर्यादिभिरिन्द्रियार्थसाधनपर.।

१५५ १· सूयगडो, २।६।५२-५५ :

सवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणेण मारेउ महागय तु।
सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वय वित्ति पकप्पयामो ।।
सवच्छरेणावि य एगमेग, पाण हणता अणियत्तदोसा।
सेसाण जीवाण वहेण लग्गा, सिया य थोव गिहिणो वि तम्हा ।।
सवच्छरेणावि य एगमेग, पाण हणते समणव्वते ऊ।
अयाहिए से पुरिसे अणज्जे, ण तारिस केवलिणो भणति ।।
बुद्धस्स आणाए इम समाहिं, अस्सि सुठिच्चा तिविहेण ताई।
तरिउ समुद्द व महाभवोघ, आयाणव धम्ममुदाहरेज्जासि ।।

१५९ १. भगवई, ७।१९७ ·

तए ण से वरुणे नागनत्तुए रहमुसल सगाम ओयाए समाणे अयमेयारूवं अभिग्गह अभिगेण्हइ—कप्पति मे रहमुसल सगामं सगामेमाणस्स जे पुव्वि पहणइ से पडिहणित्तए, अवसेसे नो कप्पतीति···।

१६० १. भगवई, ७।१९४-२०२ :

तए ण से वरुणे नागनत्तुए···जेणेव रहमुसले संगामे तेणेव उवागच्छइ···तए ण से पुरिसे वरुण नागनत्तुय एवं वदासी—पहण भो वरुणा ··तए ण से वरुणे नागनत्तुए त पुरिस एव वदासी—नो खलु मे कप्पइ देवाणुप्पिया! पुव्वि अहयस्स पहणित्तए, तुम चेव ण पुव्वि पहणाहि। तए ण से पुरिसे··· वरुण नागनत्तुयं गाढप्पहारीकरेइ। तए ण से वरुणे नागनत्तुए···त पुरिस एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोवेइ।

१६४ १. उत्तराध्ययन, सुखबोधा, पत्र, २५४ :

···पज्जोओ···सुवन्नगुलिय···गहाय उज्जेणि पडिगओ।···
सो य करी ज ज पाय उक्खिवइ तत्थ-तत्थ उदायणो सरे छुभइ, जाव हत्थी पडितो। उयरतो बद्धो पज्जोतो, निलाडे य से अको कतो 'दासीपइ' त्ति। उदायणराया य पच्छा नियगनयर पट्ठावितो। पडिमा नेच्छइ। अतरा वासेण ओरुद्धो ठितो। ताहे ओखदयभयेण दस वि रायाणो धूलिपायारे करेत्ता ठिया। ज च राया जिमेइ त च पज्जोयस्स वि विज्जइ। नवर पज्जो-सवणाए सूएण पुच्छितो—कि अज्ज जेमिसि ?। सो चितइ—मारिज्जामि, ताहे पुच्छइ—किं अज्ज पुच्छिज्जामि ? सो भणइ—अज्ज पज्जोसवणा, राया उववासितो। सो भणइ—अहं पि उववासितो, मम वि मायापियाणि संजयाणि, न याणियं मया जहा—अज्ज पज्जसवण ति। रन्नो कहियं। जाणामि जहा—सो धुत्तो, किं पुण मम एयम्मि बद्धेल्लए पज्जोसवणा चेव न सुज्झइ। ताहे मुक्को खामितो य।

१६६ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, ३७१-३७२ :

तेण कालेण तेण समएण रायगिहे सेणिओ चेल्लणा देवी, मम्मणो वनिओ अणेगा तस्स पन्नवाडा, अन्नदा मट्ठासरिस पडति, राया य ओलोयणे देवीय समं अच्छति ण कोति लोगो सचरति। ताहे रायाणि पेच्छति मणूस णदीओ बुडित्ताण किंपि गेण्हत ·· सो य अल्लग उक्कड्ढति मा पणएण उच्छाइज्जिहितित्ति। देवी रायाण भणति—जहा णदीओ तहा रायाणो वि कह ? जहा णदीतो समुद्द पाणियभरित पविसंति, एव तुब्भे वि ईसराण देह, ण दमगदुग्गयाण, सो भणति—कस्स देमि ?, ताहे सा त दरिसेति, ताहे मणूस्सेहिं आणावितो, रन्नो पुच्छितो, सो भणति—बइल्लो मि बितिज्जओ णत्थि, राया भणति—जाह गोमडले, जो पहाणो बतिल्लो त से देह, तेहिं दरिसिता, सो भणति—ण एत्थ तस्स सरिसतो अत्थि, तां केरिसओ तुज्झ ?···ताहे से तेण सिरिघरे सव्वरयणामओ बइल्लो दरिसितो वितिओ य अद्धकतओ य,·· ताहे [राया] विम्हितो भणति—सव्वं मम णत्थि एरिसो, धन्नोऽहं जस्स मे एरिसा मणूसा ताहे उस्सुको कतो।

१७४ १. भगवई, १।१३३-१३८ :

से नूण भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ ? नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ ? हंता गोयमा ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ। नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ।'' जहा ते भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं, तहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं ? जहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं, तहा ते अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं ? हंता गोयमा ! जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं, तहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं। जहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं, तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं।

१७६ १. आयारो, ३।७४ :

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।

१८० १. आयारो, ८।१४ :

गामे वा अदुवा रण्णे ?
णेव गामे णेव रण्णे धम्ममायाणह—पवेदितं माहणेण मईमया।

१८१ १. भगवई, १८।२१९, २२० :

एगे भवं ? दुवे भवं ? अक्खए भवं ? अव्वए भवं ? अवट्ठिए भवं ? अणेगभूय-भाव-भविए भवं ?

सोमिला ! एगे वि अहं जाव अणेगभूय-भाव-भविए वि अहं।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—एगे वि अहं जाव अणेगभूय-भाव-भविए वि अहं ?

सोमिला ! दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवयोगट्ठयाए अणेगभूय-भाव-भविए वि अहं। से तेणट्ठेणं जाव अणेगभूय-भाव-भविए वि अहं।

३. भगवई, १२।५३-५८ :

सुत्तत्तं भंते ! साहू ? जागरियत्तं साहू ?
जयंती ! अत्थेगतियाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगतियाणं

जीवाणं जागरियत्तं साहू ।

से केणट्ठेणं भंते ! ···जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया ···एएसि णं जीवाणं सुत्तत्तं साहू । जयंती ! जे इमे जीवा धम्मिया···एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू।

बलियत्तं भंते ! साहू ? दुब्बलियत्तं साहू ?

जयंती ! अत्थेगतियाणं जीवाणं बलियत्तं साहू, अत्थेगतियाणं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू । से केणट्ठेणं भंते ! ··जयंती ! जे इमे जीवा अहाम्मिया···एएसि णं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू ।···जयंती ! जे इमे जीवा धम्मिया···एएसि णं जीवाणं बलियत्तं साहू ।

दक्खत्तं भंते ! साहू ? आलसियत्तं साहू ?

जयंती ! अत्थेगतियाणं जीवाणं दक्खत्तं साहू, अत्थेगतियाणं जीवाणं आलसियत्तं साहू । से केणट्ठेणं भंते ! ··जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया···एएसि णं जीवाणं आलसियत्तं साहू ।···जयंती ! जे इमे जीवा धम्मिया·· एएसि णं जीवाणं दक्खत्तं साहू ।

१८२ १. भगवई, २।४५

जे वि य ते खंदया ! अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—किं सअंते लोए ? अणंते लोए ?—तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ ।

दव्वओ णं एगे लोए सअंते । खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं पण्णत्ते, अत्थि पुण से अंते । कालओ णं लोए न कयाइ न आसी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ—भविंसु य, भवति य, भविस्सइ य,—धुवे नियए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे, नत्थि पुण से अंते । भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा, अणंता गंधपज्जवा, अणंता रसपज्जवा, अणंता फासपज्जवा, अणंता संठाणपज्जवा, अणंता गरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते ।

सेत्तं खंदगा ! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते,

कालओ लोए अणते, भावओ लोए अणंते।

१८६ २. ठाणं ३।३३६ :

अज्जोति ! समणे भगव महावीरे गोतमादी समणे निग्गंथे आमंतेत्ता एव वयासी—किंभया पाणा ? समणाउसो ! गोतमादी समणा णिग्गथा समणं भगव महावीर उवसंकमंति, उवसकमित्ता वदति णमसति, वंदित्ता णमसित्ता एवं वयासी —णो खलु वय देवाणुप्पिया ! एयमट्ठ जाणामो वा पासामो वा, त जदि ण देवाणुप्पिया ! एयमट्ठ णो गिलायंति परिकहित्तए, तमिच्छामो ण देवाणुप्पियाणं अंतिए एयमट्ठं जाणित्तए। अज्जोति ! समणे भगव महावीरे गोतमादी समणे निग्गंथे आमतेत्ता एव वयासी—दुक्खभया पाणा समणाउसो ! से णं भते ! दुक्खे केण कडे ? जीवेण कडे पमादेण। से ण भते ! दुक्खे कह वेइज्जति ? अप्पमाएण।

१८८ १. उत्तराध्ययन, सुखबोधा वृत्ति, पत्र १५४.

गोयमसामी ताणि घेत्तूण चप वच्चइ। तेसिं साल- महासालाण पथ वच्चताण हरिसो जाओ—जहा इमाइ समारं उत्तारियाणि। एव तेसिं सुहेण अज्झवसाणेण केवलनाणं उप्पन्न। इयरेसिं पि चिंता जाया—जहा एएहिं अम्हे रज्जे ठावियाणि, पुणो ससाराओ य मोइयाणि। एव चिंतताण सुहेण अज्झवसाणेण तिण्ह पि केवलनाणमुप्पन्नं। एव ताणि उप्पन्नाणाणि चप गयाणि, सामिं पयाहिणीकरेमाणाणि तित्थ पणमिऊण केवलिपरिस पहावियाणि। गोयमसामी वि भगव वंदिऊण तिक्खुत्तो पाएसु पडिओ, उट्ठिओ भणइ—कहिं वच्चह ? एह तित्थयरं वंदह। ताहे सामी भणइ—मा गोयमा ! केवली आसाएहि।

१८९ २. भगवई, १४।७७ :

रायगिहे जाव परिसा पडिगया। गोयमादी ! समणे भगवं महावीर भगव गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी—चिर संसिट्ठोसि मे गोयमा ! चिरसथुओसि मे गोयमा ! चिरपरिचिओसि मे गोयमा ! चिरजुसिओसि मे गोयमा ! चिराणुगओसि मे गोयमा ! चिराणुवत्तीसि मे गोयमा ! अणंतरं देवलोए अणंतर

माणुस्सए भवे, किं पर मरणा कायस्स भेदा इओ चुता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो।

१६५ २. आयारो, १।१-३ :

सुयं मे आउस ! तेणं भगवया एवमक्खाय—इहमेगेसिं नो सण्णा भवइ, त जहा—
पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
'अहेवा दिसाओ' आगओ अहमंसि,
अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि,
··सेज्ज पुण जाणेज्जा —सहसम्मुइयाए,परवागरणेण, अण्णेसिं वा अतिए सोच्चा त जहा—
· अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि।

१९८ १. आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग पृ०, १६६, १७० :

सेणिओ सामिं भणति—भगव ! आणाहि, अह कीस नरक जामि ? केण वा उवाएण नरकं न गच्छेज्जा ? सामी भणति—जदि कालसोयरिय सूण मोएति कालेवि णेच्छति, भणति मम गुणेण एत्तिओ जणो सुहितो नगर च, को व एत्थ दोसोत्ति। तस्य पुत्तो सुलसो नाम ।· कालो मरितुमारद्धो · एव किलिस्सितूण मतो अहे सत्तम गतो। ताहे सयणेण पुत्तो ठविज्जति, सो नेच्छति, मा नरक जाइस्सामि, ताणि भणति—अम्हे त पाव बिरिंचिस्सामो, तुमं नवर एक्क मारेहि सेसग सव्व परिजणो काहिति, तत्थ महिसगो बिंबिओ कुहाडो य, रत्तचदणेण रत्तकणवीरियाहि य दोवि मंडिता, तेण कुहाडेण अप्पओ आहओ मणाग, मुच्छितो पडितो विलवति य, सयणे भणति—एयं दुक्ख अवणेहु, न तीरतित्ति भणितो, कह भणह—अम्हे त विरंचिहामोत्ति ?

२०९ १ भगवई, २।६२-१११ .

···तीसे ण तु गियाए नयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे पुप्फवतिए नाम चेइए हुत्था—वण्णओ।···तत्थ ण तु'गियाए नयरीए बहवे समणोवासया परिवसति·· तए ण ते समणोवासया थेराण भगवताण अतिए धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठ तुट्ठा जाव हरिसवसविसप्पमाणहियया तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिण करेंति, करेत्ता एव वयासी—सजमेण भते ! किफले ? तवे किफले ? तए णं ते थेरा भगवतो ते समणोवासए एव वयासी—सजमे ण अज्जो ! अणण्हयफले, तवे वोदाणफले । तए ण ते समणोवासया थेरे भगवते एव वयासी—जई ण भते ! सजमे अणण्हफले, तवे वोदाणफले । किपत्तिय णं भंते । देवा देवलोएसु उववज्जति ? तत्थ ण कालियपुत्ते नाम थेरे ते समणोवासए एव वयासी—पुव्वतवेण अज्जो ! देवादेवलोएसु उववज्जति ।
तत्थ णं मेहिले नाम थेरे ते समणोवासए एव वयासी—पुव्व-सजमेण अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जति । तत्थ ण आण दरक्खिए नाम थेरे ते समणोवासए एव वयासी—कम्मियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जति ।· तहारूव ण भते ! समण' वा माहण वा पज्जुवासमाणस्स किफला पज्जुवासणा ? गोयमा ! सवणफला । से ण' भते ! सवणे किफले ? नाणफले । से ण भते । नाणे किफले ! विण्णाणफले । से ण भते ! विण्णाणे किफले ? पच्चक्खाणफले । से ण भते ! पच्चक्खाणे किफले ? सजमफले ? से ण' भते ! सजमे किफले ? अणण्हयफले । से ण भते । अणण्हए किफले ? तव-फले । से ण भते ! तवे किफले ? वोदाणफले । से ण भते ! वोदाणे किफले ? अकिरियाफले । से ण भते ! अकिरिया किफला ? सिद्धिपज्जवसाणफला—पण्णत्ता गोयमा !

२१० १ भगवई, २।२०-३६ :

···गोयमाइ ! समणे भगव महावीरे भगव गोयम एव वयासी—दच्छिसि ण गोयमा ! पुव्वसगइय । क भते !? खदय नाम । से काहे वा ? किह वा ? केवच्चिरेण वा ?
एव खलु गोयमा ! तेण कालेण तेण समएण सावत्थी नाम

नगरी होत्था—वण्णओ। तत्थ णं सावत्थीए नयरीए गद्दभालस्स अंतेवासी खंदए नामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वयए परिवसइ। तं चेव जाव जेणेव ममं अंतिए, तेणेव पहारेत्थ गमणाए। से दूरागते बहुसंपत्ते अद्धाणपडिवण्णे अंतरा पहे वट्टइ। अज्जेव णं दच्छिसि गोयमा !

भंतेत्ति ! भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—पहू णं भंते ! खंदए कच्चायणसगोत्ते देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ? हंता पभू।

जावं च णं समणे भगवं महावीरे भगवओ गोयमस्स एयमट्ठं परिकहेइ, तावं च णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते तं देसं हव्वमागए। तए णं भगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं अदूरागतं जाणित्ता खिप्पामेव अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेत्ता खिप्पामेव पच्चुवगच्छइ, जेणेव खंदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी—हे खंदया ! सागयं खंदया ! सुसागयं खंदया ! अणुरागयं खंदया ! सागयमणुरागयं खंदया ! से नूणं तुमं खंदया !···

२१९ १. आयारो, ५।१०१ :

तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि
तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि।

२२१ १. आयारो ४।३,४ :

तं जहा—उट्ठिएसु वा, अणुट्ठिएसु वा। उवट्ठिएसु वा, अणुवट्ठिएसु वा। उवरयदंडेसु वा अणुवरयदंडेसु। वा सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा। संजोगरएसु वा, असंजोगरएसु वा। तच्चं चेयं तहा चेयं, अस्सिं चेयं पवुच्चइ।

२२२ १. भगवई, ५।२५४, २५५ :

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता

समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूर-सामते ठिच्चा एव वयासी—से नूण भते ! असखेज्जे लोए अणता राइदिया उप्पज्जिसु वा, उप्पजति वा, उप्पज्जिस्सति वा ? विगच्छिसु वा, विगच्छति वा विगच्छिस्सति वा ? परित्ता राइदिया उप्पज्जिसु वा, उप्पज्जति वा उप्पज्जिस्सति वा ? विगच्छिसु वा, विगच्छति वा विगच्छिस्सति वा ? हंता अज्जो ! असंखेज्जे लोए अणता राइदिया त चेव।
से केणट्ठेण जाव विगच्छिस्सति वा ?
से नूण भे अज्जो ! पासेण अरहया पुरिसादाणिएण सासए लोए बुइए "से केणट्ठेण अज्जो ! एव वुच्चइ—असखेज्जे लोए अणता राइदिया त चेव।

२२४ १. रायपसेणइयं, ७८६ :

तए ण से पएसी राया समणोवासए अभिगयजीवाजीवे · पोसहोववासेहिं अप्पाण भावेमाणे विहरइ।

२२७ १. अणुत्तरोववाइयदसाओ, १।१५ :

अभए नदाए। सामण्णपरियाओ ·पच वासाइ। · उववाओ · अभओ विजए।

३३३ १. कल्पसूत्र, ८७-९१ :

तए ण समणे भगव महावीरे माउअणुकपणट्ठाए निच्चले निप्फदे निरेयणे अल्लीणपल्लीणगुत्ते या वि होत्था। तए ण तीसे तिसलाए खत्तियाणीए अयमेयारूवे जाव समुप्पज्जित्था—हडे मे मे गब्भे चुए "तए ण समणे भगव महावीरे माऊए अयमेयारूव अज्झत्थिय पत्थिय मणोगय सकप्प समुप्पण्ण विजाणित्ता एगदेसेण एयइ। तए ण सा तिसला खत्तियाणी हट्ठतुट्ठ · तए ण समणे भगव महावीरे गब्भत्थे चेव इमेयारूव अभिग्गह अभिगिण्हइ नो खलु मे कप्पइ अम्मापिऍहिं जीवतेहिं मुडे भवित्ता अगारवासाओ अणगारिय पव्वइत्तए।

२४६ १. आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० २०३, २०४ :

साएते सत्तुजयो राया, जिणदेवो सावओ, सो दिसाजाताए

गतो कोडिवरिसं, ते मेच्छा, तत्थ चिलातो राया, तस्स तेण पण्णाकरो रतणाणि मणीया पीताणि य दिण्णाणि, तत्थ ताणि णत्थि, सो चिलातो पुच्छति, अहो रतणाणि, रूवियाणि, कहिं एताणि ? सो साहेति, अण्णरज्ज, चितेति—जदि नाम सबुज्झेज्ज, सो राया भणति—अहं जामि रतणाणि पेच्छामि, तुब्भ तणकस्स रण्णो बीहेमि, जिणदेवो भणतिमा बीभेहि, ताहे तेण तस्य रण्णो पेमित, तेण भणित —एउत्ति, आणीतो साकेत, महावीरस्स समोसरण, सत्तुंजतो निप्फिडो सपरिवारो, महता इड्ढीए जणसमूहो निप्फिडितो, त पासित्ता चिलातो जिणदेव पुच्छति—कहिं जणो जाति ? सो भणति—एस सो रतणवाणिओ, भणति—जामो पेच्छामोति, दोवि जणा निग्गता, पेच्छंति भट्टारगस्स छत्तातिच्छत्त सीहासणाणि विभामा, पुच्छति—कह लब्भति ? ताहे सामी दव्वरतणाणि भावरतणाणि य वण्णेति, भणति चिलातो मम भावरतणाणि देहित्ति, भणति-रतहरणगोच्छिएहि साहिज्जति, पव्वइतो।

२५० १. सूयगडो, २।६, वृत्तिपत्र १३७-१३६.

आर्द्रकपिता राजागृहे नगरे श्रेणिकस्य राज्ञ.·· यावन्तोऽमी बालककृतवेष्टनतन्तवस्तावन्त्येव वर्षाणि मया गृहे स्थातव्यमिति, निरूपिताश्च तन्तवो यावद् द्वादश तावन्त्येव वर्षाण्यसौ गृहवासे व्यवस्थित, पूर्णेषु च द्वादशसु सवत्सरेषु गृहान्निर्गतः प्रव्रजितश्चेति ।

५

घटना-क्रम

नामानुक्रम